'साहित्य-मण्डल-माला' की सैंतालीसवीं पुस्तक—

टॉलसटॉय और गाँधी

(संसार के दो महापुरुषों की तुलनात्मक आलोचना)

लेखक

श्री० रुद्रनारायण अग्रवाल बी० ए०

श्री० दीनानाथ व्यास, विशारद,

प्रकाशक

साहित्य-मण्डल,

बाज़ार सीताराम,

दिल्ली

मूल्य

अजिल्द का २॥) रुपया

सजिल्द का ३) रुपया

प्रकाशक
ऋषभचरण जैन,
मालिक—साहित्य-मण्डल,
बाज़ार सीताराम,
दिल्ली

प्रथम बार

१९३६

मुद्रक
रूप-वाणी प्रिंटिङ्ग हाउस,
चूड़ीवालान,
दिल्ली

समर्पण

यह पुस्तक अत्यन्त
आदरपूर्वक गाँधीजी को
समर्पित की जाती है।

प्रकाशकीय आवेदन

गाँधीजी टॉल्सटॉय को अपना गुरु मानते हैं। भारतीय सत्याग्रह-सिद्धान्त के आदि-कर्त्ता भी टॉल्सटॉय ही हैं, ऐसा लोगों का कथन है। भारतवर्ष के बहुत-से विज्ञ जन टॉल्सटॉय को महर्षि की पदवी देते हैं और गाँधीजी के समान ही उनका आदर करते हैं।

टॉल्सटॉय एक स्वतन्त्र विचारक थे और साहित्यिक, दार्शनिक, साधु भी थे। परन्तु उनकी प्रकृति में उन भयानक दोषों का अभाव भी न था, जो एक पतित आदमी के जीवन में पाये जाते हैं। फिर भी उन्हें आज इतने ऊँचे पद पर क्यों आसीन किया जाता है? इसका एक-मात्र कारण यही है कि उनकी आत्मा निरन्तर एक ऐसे दिव्य प्रकाश से आलोकित रहती थी, जिसके सहारे वे अपने समस्त दोषों का स्पष्ट

निरीक्षण किया करते थे। यही टॉल्सटॉय की महानता का मूल है।

गाँधीजी में भी यही एक गुण सर्वोपरि है। यों लोग गाँधीजी को ईश्वर का अवतार तक मानते हैं, लेकिन यदि एक व्यक्ति की हैसियत से भी उनके जीवन के भिन्न-भिन्न अङ्गों, उसकी विषमताओं और परीक्षाओं पर विचार किया जाय, तो हम उन्हें एक ऐसा महान् पुरुष पाते हैं, जिसकी जोड़ का पुरुषोत्तम रामचन्द्र को छोड़कर दूसरा नहीं मिलता।

गाँधीजी का जितना सम्मान उनके जीवन-काल में हुआ है, उतना पिछले हज़ार वर्ष में किसी व्यक्ति का नहीं हुआ। यह उनकी महानता का एक स्थूल प्रमाण है। आज गाँधीजी के जीवन का राजनैतिक परिच्छेद समाप्त होगया है, लेकिन हमारी राय में उनका जीवन अभी उस केन्द्र पर पहुँचा है, जहाँ से जीवन का यथार्थ और चरम लक्ष्य आरम्भ होता है और संसार का या देश का मोह यदि गाँधीजी को इस नये मार्ग से विचलित न कर सका तो गाँधीजी निस्सन्देह अपने जीवन-काल में ही योगिराज अरविन्द की तरह मुक्ति-पथ के सच्चे शोधक बन जायेंगे।

हमारी भावना है कि कोटि-कोटि भारतवासी गाँधीजी के जीवन को भिन्न-भिन्न पहलुओं से देखें, और लाभ उठावें। हमें विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक भी ऐसे पाठकों को काफ़ी साहाय्य प्रदान करेगी।

—ऋषभचरण जैन

टॉलसटॉय

सैनिक टॉलसटॉय

आज टॉलसटॉय बीती वस्तु हैं और लोग उन्हें महर्षि के रूप में जानते हैं। लेकिन उनके जीवन में एक ऐसा समय भी आया था, जब वह एक योद्धा थे, और जब उन्होंने खून-खराबी की, जुआ खेला, व्यभिचार किया। ऊपर के चित्र में आप उन्हें सैनिक वेश में देखेंगे।

टॉल्सटॉय का दृष्टिकोण :

महर्षि टॉल्सटॉय विश्व की उन विभूतियों में से थे, जो शताब्दियों के बाद धराधाम पर अवतरित होती हैं। उनका सारा जीवन अनुभूत प्रयोगों का एक विशद् संग्रह था। उन्होंने जो विचारा, उसी के अनुसार आचरण किया। उनके जीवन-सम्बन्धी निष्कर्ष तत्कालीन रूसी भद्र-समाज को चौंका देने-वाले थे। उन्होंने स्वयं एक कुलीन परिवार में जन्म लिया था। आरम्भ में उनका जीवन रईसों के भ्रष्ट-चरित्र युवकों का-सा था। पर उन्होंने अपने पतित आचरण से जो-जो सबक़ सीखा, किसी-न-किसी रूप में मानव-समाज के सन्मुख अवश्य रख दिया। जब उनका विवाह होनेवाला था, तो उन्होंने अपने आचरण के सम्बन्ध में जो-जो घटनायें हुई थीं, उन सब की डायरी हठ पूर्वक अपनी भावी पत्नी को सुनाई। उनकी भावी पत्नी तीव्र

बुद्धि की महिला थीं। उनके विचार बड़े परिष्कृत थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी कुलीन कन्याओं की भाँति हुई थी। जब उन्होंने टॉल्सटॉय के दुराचरण का वृत्तान्त सुना, तो एक बार उनका हृदय अदम्य घृणा और अकथित वेदना से भर गया। एक बार उनके जी में आया कि इस सम्बन्ध को विच्छेद कर देना चाहिए। पर वह टॉल्सटॉय की आत्मा के दर्शन पहले ही कर चुकी थीं। बस, वह उनसे केवल यही कहकर रह गईं कि 'तुम मुझे यह गर्हित वृत्तान्त न सुनाते, तो अच्छा था।'

पर टॉल्सटॉय सत्य के उपासक थे। उन्होंने कहा कि 'इन दुराचरणों के कारण मेरी आत्मा जैसी पङ्गु और कुण्ठित होगई है, उसे तुम्हारे सामने नग्न रूप में रखना मैंने अपना कर्तव्य समझा।' पर उनकी आत्मा न पङ्गु हुई थी, न कुण्ठित। वह बराबर इस दुराचरण के विरुद्ध चीत्कार करती रही। आत्मा के इस निरन्तर रोदन को टॉल्सटॉय ने अपनी डायरी में जगह-जगह दर्ज किया है। उन्हें वेश्याओं की असहायावस्था के प्रति भी असीम करुणा उत्पन्न होगई। उनका रहन-सहन, उनकी कृत्रिम तड़क-भड़क, उनका अपनी इच्छा पर बलात्कार करके ग्राहकों को, विद्यार्थियों, प्रोफ़ेसरों, व्यापारियों और क्लर्कों को रिझाने की चेष्टा करना—यह सब आप रिज़रेक्शन, ('पुनर्जीवन') में चित्रित पायेंगे।

वह पक्के ईसाई थे, पर उन्हें 'कैथॉलिक' या 'प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायों के आडम्बर से घृणा थी। इन सम्प्रदायों के

आडम्बर के प्रति कभी-कभी उनकी लेखिनी तीव्र व्यङ्ग-विद्रूप का प्रवाह करने लगती थी। वह कहते थे : "ईसा संसार में शान्ति और अहिंसा का पाठ सिखाने आया था, आजकल स्वयं उसी के अनुयायी उसकी शिक्षा के विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। निष्क्रिय-प्रतिरोध टॉल्सटॉय की अपनी निजी फ़िलॉसफ़ी थी, जो बाइबिल के गूढ़ मनन से उत्पन्न हुई थी। अपनी इस फ़िलॉसफ़ी का सन्निवेश उन्होंने अपनी पुस्तक 'A confession & what I believe' में किया है। गाँधीजी ने इसी फ़िलॉसफ़ी का विकास अपने ढङ्ग से किया है, और उन्होंने अनेक बार स्वीकार किया है कि जीवन-सम्बन्धी तथ्य निर्धारित करने में उन्हें टॉल्सटॉय के दृष्टिकोण से बहुत सहायता मिली है।

टॉल्सटॉय को साम्यवादी कहना ठीक न होगा। उनकी रचनायें इस बात की साक्षी हैं कि वह अपने जन्मज पूँजीवादी दृष्टिकोण से अपने-आपको कभी पूर्णतया पृथक् नहीं कर सके थे। पर वह पूँजीवाद के, उसके वर्तमान जघन्य, बलात्कारी, रक्त-शोषक और संकीर्ण रूप के घोर शत्रु थे। यही कारण था कि तत्कालीन कुलीन रूसी समाज में इतने बड़े लेखक का नाम तक लेना अपराध-सा समझा जाता था। हाँ, वैसे चुरा-छिपाकर सब उनकी रचनायें पढ़ते थे। स्वयं ज़ार उनकी कहानियों के बड़े प्रेमी थे। बाद को उनकी कहानियों में ज़ार को साम्यवाद और जनवाद की बू आई। बस, उनकी रचनाओं पर सेंसर बिठा दिया गया। उस समय टॉल्सटॉय की रच-

नायें इसलिए निषिद्ध समझी जाती थीं कि उनमें जन-साधारण और विशेषकर किसानों के प्रति अपार सहानुभूति के दर्शन होते थे। आजकल सोविएट रूस ने उनकी रचनाओं को पुस्तकालयों से इसलिए हटा दिया है कि उनमें पूँजीवाद का दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। यह कहना कठिन है कि ज़ार की सरकार ठीक रास्ते पर थी, या सोवियट सरकार।

× × ×

टॉल्सटॉय क्या थे?—मनुष्य, सोलह आने मनुष्य, और केवल मनुष्य। उनकी सीधी-सादी कहानियों में दरिद्र और पीड़ित किसान के प्रति वह असीम वेदना भरी हुई है, जिससे आप प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकते। वह अपराधी को उस दृष्टि से न देखते थे, जिस दृष्टि से, 'क़ानून के रक्षक' और 'भद्र' लोग देखा करते हैं। किसी ने चोरी की, बस, क़ानून समाज के प्रतिनिधि के रूप में उसे कुचलने को तय्यार है। अब तक उसका आचरण बिल्कुल निष्कलुष और स्वच्छ रहा है। वह अकस्मात् ही अपराधी नहीं बन सकता। चोरी करने का कोई विशेष कारण रहा होगा। टॉल्सटॉय को उस मूल कारण की खोज रहती थी। उनका कहना है कि देश के क़ानून का उद्देश अपराधी को दण्ड देना नहीं, उसका सुधार होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को सज़ा देकर यदि जेल में भेजा जायेगा, तो वह जब वहाँ से वापस आयेगा, तो सचमुच समाज के प्रति ख़तरा साबित होगा। उनकी सम्मति में 'ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध समाज ने

उनके पापाचरण की अपेक्षा अधिक पापाचरण किया है।' वह उस अपराधी की अपेक्षा जज और जेल-रक्षक को अधिक अपराधी समझते थे।

× × ×

टॉल्सटॉय जिस घटना पर विचार करते, उसमें इतने ओत-प्रोत होजाते, कि अपने अस्तित्व तक को भुला देते। वह जिस किसी तथ्य को लेते, उस पर अपने निजी दृष्टिकोण से विचार करते। रूढ़िवाद के तो वह भयङ्कर शत्रु थे, चाहे वह सामाजिक संस्कारों के रूप में हो, चाहे साहित्य के रूप में, चाहे संगीत के रूप में। किसी विचार की तल्लीनता कभी-कभी उनके लिए इतनी प्रबल सिद्ध होती कि वह उसके आवेश में कोई भयङ्कर कार्य्य तक कर बैठते। एक बार आप छत पर बैठे थे। प्रकृति की शान्त शोभा ने उन पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि आप छत पर से कूद पड़े। उनका विश्वास था कि इन पक्षियों की भाँति आप भी वायु में स्थिर हो सकेंगे और इधर-उधर उड़ने लगेंगे। पर उड़ने तो न पाये, नीचे गिरकर ख़ूब चोट खा गये। इन्होंने इसका वर्णन् भी अपने उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' में किया है।

× × ×

कला क्या है?—इस सम्बन्ध में वह पुराने शास्त्रियों के मत के सर्वथा विरुद्ध थे। 'कला' (What is Art) में उन्होंने इन शास्त्रियों की ख़ूब खबर ली है। निरुद्देश्य रचना को वह कला का परम-लक्ष्य मानने को तैयार न थे। अपनी पुस्तक में उन्होंने

बड़े-बड़े विद्वानों की सम्मतियों का उद्धरण देकर बाद को अपना मन्तव्य दिया है। कला को वह ऐसी जटिल वस्तु मानने को तैयार न थे, जिसे केवल दीक्षित और शिक्षित विद्वान् ही समझ सकें। उनकी समझ में कला वह पदार्थ है, जो जन-साधारण के हृदय में आनन्द की ऐसी प्रबल बाढ़ बहाये कि वह अपना अस्तित्व तक भूल जाये। चाहे यह कला संगीत का रूप धारण करे, चाहे नाटक का, चाहे उपन्यास हो, चाहे चित्र। इन 'दीक्षित और शिक्षित' विद्वानों की टॉल्सटॉय ने कैसी बुरी तरह खबर ली है, ज़रा देखिए :

"इस में से कुछ लोग कविता रचते हैं, कहानियाँ और उपन्यास लिखते हैं, गतें तैयार करते हैं, तसवीरें खींचते हैं और प्रस्तर-मूर्तियाँ तैयार करते हैं। बाक़ी लोग इन चीज़ों की आलोचना करते हैं, किसी को किसी पर तर्जीह देते हैं, किसी की स्मृति में स्थायी चिन्हों का निर्माण करते हैं। पर, दो-चार कलाविदो को छोड़कर ये सब निर्माता और विवेचक उस भावावेश से बिल्कुल शून्य होते हैं, जो सीधे-सादे आदमी के हृदय को आलोड़ित कर देता है। और वह भावावेश क्या है ? वह है किसी दूसरे के राग-विराग में हर्ष या अमर्ष की अनुभूति करना, दूसरे की आत्मा का सम्यक् रूप से दर्शन करना। बस, यही तो कला का सार है। बस, इसी से वे लोग शून्य होते हैं और कहलाते हैं, कलाविद्। भला ये लोग वास्तविक कला और उसकी भद्दी नक़ल में क्या भेद कर सकेंगे ?"

टॉल्सटॉय के पास कला की एक कसौटी थी। कला का पदार्थ हृदयग्राही होना चाहिये, और वह हृदय किसी शिक्षित-दीक्षित व्यक्ति का ही हो, यह ज़रूरी नहीं है। वह पदार्थ ठेठ गँवार और दुधमुँहे बच्चे को भी वैसा ही रुचिकर होना चाहिए। भला, ठेठ गँवार और दुधमुँहा बच्चा गायन की दुरूह गतों की जटिलता को क्या समझ सकेंगे? टॉल्सटॉय का तो यह कहना है कि ये 'शिक्षित और दीक्षित' लोग अपने हृदय के भावावेश की उस क्षमता से वञ्चित हो जाते हैं, जिससे उनका हृदय बचपन में आलोड़ित रहता था। टॉल्सटॉय की सारी रचनाओं में कला की यही अभिव्यक्ति दिखाई पड़ेगी। उसके दुष्ट पात्रों पर आपको क्रोध आता है, विलासी पात्रों पर दया आती है, साधु पात्रों पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। आप उन पात्रों के साथ अनायास ही अपने चरित्र की तुलना करने लगते हैं, और धीरे-धीरे किसी पात्र-विशेष को अपने ही जैसा समझने लगते हैं। यही टॉल्सटॉय की कला का रहस्य है, इसी में उनकी कला की महत्ता है।

× × ×

टॉल्स्टॉय को मनुष्य-मात्र पर दया थी और दुःखी को देखकर उनका कोमल हृदय करुणा से अभिभूत हो जाता था। वह दुःखी व्यक्ति चाहे जर्मन हो या रूसी, पोल हो या फ्रेञ्च, उनकी समवेदना उसके लिये समभाव से प्रवाहित होती। विशेषकर 'क़ानून' के शिकार व्यक्तियों का वर्णन करते समय

तो उनकी लेखिनी एक विशेष तीव्रता धारण कर लेती थी; उनमें भी जो लोग राजनैतिक कारणों से दण्डित किये गये होते थे। अपनी पुस्तक 'Resurrection' ('पुनर्जीवन') में उन्होंने उन पर किये गये अत्याचारों का विशद् वर्णन् किया है। किस प्रकार तनिक-से अपराध पर दो पोल युवकों को फाँसी पर चढ़ा दिया गया था, किस प्रकार उन्हें फाँसी की टिकटी की ओर ले जाते देखकर एक दूसरा युवक-बन्दी फ़िल्ट-सोव उसी घड़ी से पक्का क्रान्तिकारी बन जाता है, किस प्रकार से क्रान्तिकारी अपने विचारकों की अपेक्षा हर दृष्टि से उच्चतर थे, और किस प्रकार उन्हें ज़रा-से सन्देह-मात्र पर साइबेरिया की खानों में भेज दिया जाता था, यह सब आपको 'पुनर्जीवन' में पढ़ने को मिलेगा। उस ज़ारशाही के नग्न नृत्य में युवकों का मानसिक बल किस प्रकार क्षीण-से-क्षीणतर होता जा रहा था, इसका उदाहरण शुस्टोवा-नाम्नी बालिका के चरित्र से मिलेगा। इस बेचारी को केवल सन्देह-मात्र पर बन्द कर दिया गया। फिर इससे प्रधान षड्यन्त्रकारी का पता पूछने की चेष्टा की गई।

वह कहने लगा—"तुम मुझे जो-कुछ बताओगी, उससे किसी का बाल तक बाँका न होगा। और इससे लाभ यह होगा कि बहुत-से निरपराध आदमी—जिन्हें हम व्यर्थ ही कष्ट दे रहे हैं, बच जायँगे।......तुम ख़ुद न बताना, पर मैं किसी का नाम लूँ तो मुकरना मत।" और उसने मिटिन का नाम लिया।

बस, मिटिन पकड़ा गया। मैं सोचने लगी—'यह देखो, मैंने ही उन्हें पकड़वा दिया। मैं कपड़ा ओढ़ लेती और लेट जाती। मेरे कानों में कोई कह उठता, विश्वासघात ! मैं चाहती हूँ कि सोजाऊँ, पर सो नहीं सकती। कितनी भयंकर बात है !' और यह कहते-कहते शुस्टोवा अधिकाधिक उत्तेजित हो-होकर अधिकाधिक ज़ोर से बालों की लट खींचने और बारबार चारों ओर देखने लगी।

......खिड़की की सिल पर बैठा विद्यार्थी यकायक ज़ोर से कह उठा—'उन हरामज़ादों को फाँसी पर लटका देना चाहिए।'

माँ ने कहा— 'क्यों, क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं, मैं यों ही कह उठा था......।' और विद्यार्थी मेज़ पर पड़ा सिगरेट उठाकर पीने लगा।

उस समय रूस-भर में ऐसे उद्विग्न विद्यार्थियों और ऐसी अत्याचार-पीड़ित बालिकाओं की संख्या हज़ारों में नहीं, लाखों में थी। आजकल भारतवर्ष में कैसी अवस्था है, इसका निर्णय पाठकगण स्वयं कर लें।

उपरोक्त बालिका की माँ भी तीन बार जेल हो आई है। पूछने पर कहती है : वास्तविक क्रान्तिकारियों के लिए तो जेल शांति और निश्चिन्तता का वास है......पर हमारी शुस्टोवा-जैसे निर्दोष बच्चों के लिए—और वे हमेशा पहले निर्दोषों पर ही हाथ डालते हैं—यह आघात बड़ा भयंकर होता है।......

जो कोई भगवान और मनुष्य में आस्था रखता है और समझता है कि मनुष्य परस्पर एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, उसे एक बार जेल हो आने दो, बस, उसकी सारी आस्था और सारा विश्वास नष्ट हो जायगा।......बस, उसी समय से मेरा मानव-जाति पर से विश्वास उठ गया है।

× × ×

इस प्रकार ज़ारशाही के दूत प्रति दिन लाखों की संख्या में समाज के शत्रुओं को तैयार कर रहे थे, जिनका मानवी समवेदना और आत्मिक सत्ता पर से विश्वास उठ गया था। टॉल्सटॉय इस दुःखद अवस्था को देखते और दाँत पीसकर रह जाते। वह पात्रों-द्वारा उस अवस्था का चित्रण करते, और पुस्तकें सेंसर की कृपा से नकटी-बूची कर दी जातीं।

उनका कहना था कि अपराधी को दण्ड देने की प्रणाली ग़लत है।......"इन जेलों से हमारा संरक्षण कहाँ होता है? आदमी वहाँ एक निश्चित अवधि तक रक्खे जाते हैं और फिर छोड़ दिये जाते हैं। और इन जेलों से वे इतने दूषित और दुरात्मा बनकर निकलते हैं कि समाज का संरक्षण होने के स्थान पर उसकी आपत्ति की आशङ्का पहले से अधिक बढ़ जाती है।" ये क़ानून के रक्षक बात का बतंगड़ बनाकर निर्दोष व्यक्तियों को किस प्रकार जेल में ठूँस देते थे, यह एक एडवोकेट के मुँह से सुनिये—'साधारण जन-समुदाय के सामने ग्रीक सनातन-धर्म (अर्थात् रूसियों के ईसाई धर्म) की समालोचना करने का अर्थ

है, १६६ धारा के अनुसार साइबेरिया-निर्वासन !'

'असम्भव ।'

'मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि बात यही है। यदि हम सब आज दिन जेल में बन्द नहीं हैं, तो यह विचाराधीशों की दया का फल है। हमें अपनी स्वतन्त्रता से वञ्चित करना और साइबेरिया से अपेक्षाकृत कम दूर स्थानों को निर्वासित करना उनके बाँयें हाथ का खेल है।'

टॉल्सटॉय न्याय का यह टकसाली व्यापार देखकर कभी-कभी झुँझला पड़ते और कहते—'इससे तो पुरानी दण्ड-प्रणाली ही अच्छी थी, जिसमें मनुष्यों के हाथ-पाँव काट डाले जाते थे। आजकल तो न्याय का ढकोसला रह गया है। कुछ लोग जेल में पड़े-पड़े आलस्य का जीवन व्यतीत करते हैं, और कुछ लोग उन पर चौकी-पहरा देने का बहाना करके उनकी ही भाँति आलस्यपूर्ण जीवन बिताते हैं। यदि यह रक़म शिक्षा पर खर्च की जाय, तो इतने अपराधी उत्पन्न ही क्यों हों ?' टॉल्सटॉय स्वयं एक कुलीन परिवार में जन्म लेकर भी अपराध-विज्ञान के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण उत्पन्न करसके, यह कोई साधारण आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि तत्कालीन रूसी समाज में जन-साधारण और उनके आन्दोलन और विचार-धारा के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति प्रकट करनेवाला कुलीन व्यक्ति कुलीन समाज से जाति-च्युत-सा कर दिया जाता। टॉल्सटॉय ने इस बहिष्कार की कोई पर्वाह न की और दलित

और पीड़ित रूसी-समाज के प्रति सच्ची समवेदना प्रकट की। उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों के पात्रों के द्वारा इस बात पर बार-बार ज़ोर दिया कि मनुष्य न अच्छा है, न बुरा। जब वह जन्म लेता है, तो उसका संस्कार और वातावरण उसे एक विशेष प्रकार के साँचे में ढालकर तैयार कर देता है। न किसी मनुष्य के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वह नितान्त बुरा है, न यही कि वह पूरा साधु है। वह समाज में जैसा कुछ आचरण करता है, उसका उत्तरदायी स्वयं समाज है। यदि चोर चोरी को न्याय और उचित कार्य समझता है, वेश्या अपने पेशे को उत्तम समझती है, हत्यारा या जासूस अपने-अपने कामों को अच्छा समझते हैं, तो इसका कारण यह है कि समाज ने उन्हें उस विशेष वातावरण में रहने को विवश कर दिया है। फलतः ये लोग अपने सीमित वर्ग में उसी प्रकार सन्तोषपूर्वक जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर देते हैं, जिस प्रकार हम लोग—कुलीन लोग— अपने अपेक्षाकृत बड़े वर्ग से प्राण-रस ग्रहण करते हैं।

"साधारणतया यह समझा जाता है कि चोर, हत्यारा, जासूस या रण्डी अपने व्यवसाय को दूषित समझकर लज्जित भी होते होंगे। पर बात इसके बिल्कुल विपरीत है। जिन लोगों को उनका भाग्य या उनका पापाचरण एक खास स्थिति में लाकर डाल देता है, वे जीवन-सम्बन्धी कुछ ऐसी धारणा बना लेते हैं, जो उनकी स्थिति को उनकी दृष्टि में अच्छा और

औचित्यपूर्ण रूप दे देती है।……" आवश्यकता है, इसी धारणा में समूल परिवर्तन करने की। और इसकी ज़िम्मेदारी समाज पर है। सुधारक का वर्त्तव्य है कि वह इस वेग की धारणाओं के प्रति समवेदना प्रकट करे; तभी वे लोग उसे अपना मित्र समझेंगे। ऊँची व्यास-पीठ पर से उपदेश फटकारने और समाचारपत्रों में लेख लिख देने से यह महत्कार्य सिद्ध न होगा। यह धारणा चोर और जासूस तक ही सीमित हो, सो बात नहीं है।

"जब हम चोरों को अपने हाथ की सफ़ाई की बड़ी डींग हाँकते, रण्डियों को अपनी भ्रष्टता का मिथ्या गर्व करते और अत्याचारों को अपनी निर्ममता की शेखी बघारते देखते हैं, तो हमारे आश्चर्य का वारापार नहीं रहता।……जब हम धनिकों को अपनी वसुधा—दस्यु-वृत्ति—की डींग हाँकते देखते हैं, सेनापतियों को अपनी विजयों—हत्याकाण्डों—पर गर्व करते पाते हैं, और उच्चपदस्थ व्यक्तियों को अपने अधिकारों की—अत्याचारों और अनाचारों की—शेखी मारते देखते हैं, तो क्या हमें ठीक उसी प्रकार के प्रदर्शन के दर्शन नहीं होते ? हम जो इन व्यक्तियों की जीवन-सम्बन्धी धारणाओं में विकृति की गन्ध नहीं पाते, इसका मुख्य कारण यह है कि इनका वर्ग बड़ा है और हम ख़ुद उसमें शामिल हैं।

टॉलसटॉय की फ़िलॉसफ़ी में यदि चोर चोर है, तो धनिक डाकू है। हत्यारा यदि एक आदमी का ख़ून करके अपना वैर

निकालता है, तो सेनापति हज़ारों आदमियों को लड़वाकर ख़ुद तमाशा देखता है, इसलिये वह सब से बढ़कर हत्यारा है। जासूस यदि किसी के विरुद्ध मुख़बिरी करके थोड़े-से पैसे लेकर सन्तुष्ट हो जाता है, तो बड़े-बड़े अफ़सरों को उस सूचना के आधार पर अनेक शान्त और सरल जीवन व्यतीत करनेवाले परिवारों के अस्तित्व का लोप करने में आनन्द आता है। दोनों में अन्तर क्या रहा?—यही कि पहले प्रकार के वर्ग की अपेक्षा दूसरे प्रकार का वर्ग समाज के लिये अधिक ख़तरनाक है, इस-लिये हमें समाज के संस्कारों को बिल्कुल नया जन्म देना चाहिये।

× × ×

इसी स्पष्टवादिता के कारण टॉल्सटॉय के विरुद्ध रूस का सारा कुलीन समाज होगया। पर टॉल्सटॉय ने अपना मिशन जारी रक्खा। रूसी समाज का जो वर्तमान रूप है—टॉल्सटॉय वैसा रूप न चाहते थे, पर सोवियट यूनियन की जेलों और सम्पत्ति-वितरण की प्रणाली तथा न्याय और व्यापक बन्धुत्व को देखकर कहना पड़ेगा कि उसके रचयिताओं पर टॉल्सटॉय की फ़िलॉसफ़ी का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। आजकल रूस में न्याय न महँगा है, न उच्छृंखल। न्यायाधीश अधिकतर जनता के ही आदमी होते हैं। जेलें तो मानो विवाह-गृह हैं। वहाँ क़ैदी सचमुच अपना सुधार करके वापस आता है। टॉल्सटॉय यही चाहते थे। रूस में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है। अब वह

ज़माना गया, जब यदि कोई ज़मींदार अपने आसामी को बूट की ठोकरों से मार डालता था और उस पर कुछ रूबल जुर्माना-मात्र हो जाता था। यह टॉल्सटॉय के मिशन की सफलता है, यह उनके सिद्धान्तों की विजय है, जिन्हें लेनिन और स्टेलिन ने प्रकृत-रूप दिया। आजकल रूस में अपराध को उत्तेजन नहीं दिया जाता, अपराधी को सभ्य बनाया जाता है। टॉल्सटॉय यही चाहते थे और तत्कालीन समाज के गठन में अपने सिद्धान्तों को अव्यवहार्य्य-सा देखकर, झुँझलाकर कह उठते थे—'इससे अच्छी तो पुरानी दण्ड-प्रणाली ही थी, जब अपराधी का अंग-भंग कर डाला जाता था, जिससे उसे सबक़ मिले।'

× × ×

टॉल्सटॉय रूसी दण्ड-प्रणाली के इतने विरुद्ध थे कि विचारकों को वैध अपराधी कहकर पुकारते थे; वैध इसलिए कि उन्हें क़ानून ने अपराध करने के लिए ही विचारक की कुर्सी बिठाया है। वह कहते कि समाज और सामाजिक व्यवस्था जो इतनी अक्षुण्ण बनी हुई है, उसका श्रेय उन वैध अपराधियों को नहीं है, जो दूसरों के अभियोगों का विचार करके उन्हें दण्ड देते हैं, बल्कि उस सरल मानव-समुदाय को है, जो इस पतनकारी वातावरण के होते हुए भी उसी प्रकार एक-दूसरे के प्रति प्रेम और समवेदना करते हैं।

उन्हें 'सरल मानव-समुदाय' की सरलता में अगाध विश्वास

था। उनका कहना था कि अपराधी साधारणतया जन्मज अपराधी नहीं होता। उसकी परिस्थिति उसे छोटा-मोटा अपराध करने को विवश कर देती है। आवश्यकता है, उसकी सोई हुई साधु-वृत्ति को जाग्रत् करने की, जिससे वह समाज का उपयोगी अंग बन सके। पर किया क्या जाता है?—उसे अपराध की अपेक्षा कहीं गुरुतर दण्ड दे दिया जाता है कि जिसके फल-स्वरूप उसके हृदय में प्रतिहिंसा की आग जल उठती है, और फिर वह सचमुच अपराधी बन जाता है। इस प्रकार अपराधों और अपराधियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। "जब यह सिद्ध हो चुका है कि आदमियों का सुधार करना आदमियों के बूते की बात नहीं है, तो एक-मात्र विवेकपूर्ण बात यही हो सकती है कि इस सारे अर्थ-हीन, अनैतिक और नृशंस यन्त्रणा-व्यापार का अन्त कर दिया जाय।"

× × ×

वर्तमान सोवियट सरकार ने यही किया है। क्या ही अच्छा होता, जो कम-से-कम अपराध-शास्त्र के मामले में अन्य देश भी—विशेषकर इँग्लैण्ड और भारत—अपनी बहु-मूल्य धारणाओं में परिवर्त्तन कर दें।

* * *

टॉलस्टॉय की देश-भक्ति

टॉलस्टॉय विश्व-बन्धुत्व के प्रेमी थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति वह संसार-भर को—एक जाति में न सही, कम-से-कम एक राष्ट्र में—गूँथ देना चाहते थे। उनकी फ़िलॉसफ़ी का सन्देश केवल रूसियों के लिए ही हो, सो बात न थी। उन्हें एशियाई और हब्शी जातियों से भी उतना ही प्रेम था। उनका हृदय इतना विशाल था कि उसमें अग्रसर राष्ट्रीयता की संकीर्णता को प्रश्रय मिलना असम्भव था। वह जो तथ्य निर्धारित करते, उस पर रूसीपन की मुहर न लगी होती, बल्कि मानव-जाति-मात्र की अवस्था पर किया गया गम्भीर मनन उसमें निहित होता। इसलिए उनकी रचनाएँ संसार की सारी जातियों को समान-प्रिय हैं।

सदियों की सङ्कीर्ण परिधि के भीतर बन्द पड़े रहने के बाद

रूसी प्रज्ञा को साहित्य के द्वारा अपने-आपको व्यक्त करने का अवसर मिला था, इसलिए बाहरी प्रकाश को निस्सङ्कोच भाव से अपनाया गया। यह बाहरी प्रकाश—अन्य देशों के ज्ञान का सञ्चित भण्डार—रूसी प्रज्ञा में अबाधित रूप से प्रविष्ट होता गया और थोड़े ही काल में इस मिश्रण से एक ऐसे सजीव, समवेदनापूर्ण, व्यापक फलतः अमर साहित्य का जन्म हुआ, जिसका सारी जातियों ने खुले-हाथों स्वागत किया।

'रूसी हृदय स्वभाव से ही धर्म-प्राण है—धर्म-प्राण इस भाव से कि वह जिस चीज़ के प्रति सहानुभूति प्रकट करता है, और उसके प्रति सरल और सहज भाव से आत्म-समर्पण कर देता है, उसमें कूटनीति का अभाव है, यह पश्चिमी योरोप की सम्पत्ति है। रूसी संस्कृति भारत की संस्कृति की भाँति निष्कलुष और सहज है, उसमें कृत्रिमता का नाम नहीं है।' अतः जब उसे यह बाहरी राष्ट्रों के ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हुआ, तो उसने उसके केवल अच्छे ही अंग को ग्रहण किया, उसकी प्रबल तरङ्गों में रूसी प्रज्ञा के पैर उखड़े नहीं; उसी प्रकार अपने स्थान पर जमे रहे। इसका फल यह हुआ कि रूसी मस्तिष्क में किसी बात पर सहज ही व्यापक रूप से विचार करने की जो शक्ति है, रूसी हृदय में मित्र को पूर्णतया मित्र बनाने और शत्रु को अन्तस्तल से घृणा करने की जो क्षमता है, वह ज्यों-की-त्यों रही। १८१२ में नैपोलियन ने मॉस्को पर चढ़ाई की। उन्नीसवीं शताब्दी में सारा योरोप फ्रांस की संस्कृति में रँगा

हुआ था। रूस में तो केवल वही शिक्षित और कुलीन समझा जाता था, जो फ्रेञ्च भाषा और वेष-भूषा का व्यवहार करता हो। हम लोग आजकल घरों में अंग्रेज़ी बोलते हैं, ये लोग फ्रेञ्च बोलते थे, और जिस प्रकार हम लोग गर्वित होते हैं, उसी प्रकार ये लोग होते थे। फ्रेञ्च विचार-धारा को रूसी प्रजा ने खुले-मस्तिष्क से अपनाया था।

नैपोलियन इस बात को समझता था, इसलिए जब उसने चढ़ाई की, तो उसे आशा थी कि मॉस्को के दरवाज़े उसके स्वागत में स्वतः ही खुल जाएँगे। पर हुआ इसके बिल्कुल विपरीत। जो लोग अशिक्षित और अपढ़ थे, वे बिना किसी के आदेश-निर्देश के, अपने घरों में आग लगाकर जङ्गलों में जा-बसे। आग इसलिए लगाई कि शत्रु को खाद्य-सामग्री न मिल सके। जो लोग शिक्षित थे और अक्षरों के द्वारा अपने दलित आत्माभिमान को व्यक्त कर सकते थे, उन्होंने आनेवाली पौध के लिए वह सामग्री तैयार कर दी, जिसके आधार पर एक ठोस रूसी राष्ट्र बना। फ्रेञ्च विचार-धारा ने रूसी मस्तिष्क पर तो विजय पा ली थी; पर रूसी-हृदय उसके लिए भी अजेय सिद्ध हुआ। उसकी प्रेम और घृणा करने की क्षमता न केवल अक्षुण्ण ही रही, बल्कि इस तीव्र आघात के कारण और भी तीक्ष्णतर हो गई।

टॉल्सटॉय का हृदय रूसी किसान का हृदय था, रूसी ज़मींदारों का हृदय नहीं था। और वह हृदय भी इतना सरल,

निष्कलुष और इसलिए इतना शिशु-सुलभ था कि मान-अपमान और प्रेम-घृणा-आदि के अवसाद उसे अधिक गम्भीरता के साथ आलोड़ित करते थे। इस मॉस्को-विजय की दुर्घटना ने उनके पिता-पितामह को अपमानित किया था, इसे वह न भुला सके। उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना 'युद्ध और शान्ति' को एक बार पढ़ जाइये। देखिए, इस विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त के प्रसारक का हृदय राष्ट्रीय अपमान की वेदना से तब भी कैसा तड़प रहा था, यद्यपि बात बहुत पुरानी हो गई थी। वह फ़ैशनेबुल रूसी साहित्यिकों की भाँति दो-चार फ्रेञ्च उद्गारों के द्वारा इस अपमान को भुला देनेवाले आदमी न थे। उन्होंने इस दुर्घटना पर लिखा और ख़ूब लिखा; एक बार नहीं, एक हज़ार बार।

आप नैपोलियन को अजेय मानते हैं? विश्व-विजेता मानते हैं?—चंगेज़खाँ और चन्द्रगुप्त की भाँति पराक्रमी सीज़र और भीम की भाँति धीर-गम्भीर मानते हैं?—मैं भी मानता था। आप ज़रा 'युद्ध और शान्ति' पढ़ जाइये। टॉल्सटॉय की रूसी प्रजा ने इस फ्रेञ्च सम्राट् की मानसिक दुर्बलताओं का ऐसा निर्मम विश्लेषण किया है, उसके कार्य-कलाप और उसके उद्गारों का ऐसा नग्न खाका खींचा है कि पुस्तक समाप्त होते-न-होते वह आपके आगे मुकुट-विहीन, हतप्रभ हत्यारा-मात्र रह जायगा। ऐसी टॉल्सटाय की देश-भक्ति थी। विश्व-प्रेमी अपने देश को कितना और कैसा प्रेम कर सकता है, इसका तमाशा देखने के लिये पहले मॉस्को-विजय या

जालियाँवाला-काण्ड-जैसी घटनाओं का होना आवश्यक है। मॉस्को-विजय ने टॉल्सटॉय को नैपोलियन का और एक प्रकार से फ्रेञ्च संस्कृति का घोर शत्रु बना दिया था; जलियाँवाला काण्ड ने वर्तमान गाँधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जन्म दिया है।

टॉल्सटॉय अपनी पुस्तक 'युद्ध और शान्ति' में एक स्थान पर लिखते हैं—एक दर्जन योरुपीय राष्ट्रों ने रूस पर धावा किया। रूसी सेना और रूसी जनता ने संघर्ष से बचने के लिये स्मोलेनक और स्मोलेनक से बोरडिनो का मार्ग लिया। फ्रेञ्च सेना अपने लक्ष्य—मॉस्को—की ओर अधिकाधिक प्रबलता से बढ़ती गई......। फ्रेञ्च-सेना के पीछे विक्षुब्धित और क्रुद्ध जनता से घिरा हुआ हज़ारों मील लम्बा-चौड़ा देश फैला हुआ था; सामने उनके लक्ष्य तक पहुँचने में केवल कुछ दर्जन मील शेष रह गये थे। रूसी सेना ज्यों-ज्यों भागती गई, उसी परिमाण में उस में शत्रु के प्रति घृणा की भावना अधिकाधिक प्रज्वलित होती गई।'

टॉल्सटॉय का कहना है कि नैपोलियन का पतन मॉस्को की चढ़ाई के कारण हुआ। वह समझता था कि उसने मॉस्को तक रूस पर क़ब्ज़ा कर लिया है, पर बाद को उसे अपनी भूल मालूम हुई। वह जहाँ गया उसे सुनसान दिखाई दिया। रूसी जनता अपने घरों में स्वयं आग लगाकर जंगलों में जा बसी थी। जब नैपोलियन को इस विकट असहयोग के दर्शन हुए

तो उसने वापस लौटने की ठानी। बस, अब रूसी जनता और हारी हुई रूसी सेना की बारी थी। उन्होंने टुकड़ियाँ बना-बना-कर मराठों की भाँति इन फ्रेंच सिपाहियों पर छापे मारे। फ्रेञ्च सेना लूट के माल से लदी हुई वापस जा रही थीं। अतः उसमें विशृङ्खला उत्पन्न हो गई थी। फल यह हुआ कि फ्रांस तक पहुँचते-पहुँचते नैपोलियन की अधिकांश सेना का विध्वंस हो गया। इसके बाद ही उसे अंग्रेज़ों के साथ लड़ना पड़ा और उसका पराभव हुआ।

टॉल्सटॉय ने नेपोलियन की मॉस्को-विजय को हत्या-काण्ड के नाम से वर्णित किया है। पश्चिम के आदमी पूर्व की ओर हत्या-काण्ड करने बढ़े और अनेकानेक कारणों के परस्पर टकराने के अच्युत विधान से प्रेरित होकर असंख्य छोटे-छोटे कारणों ने उस हत्या-काण्ड और युद्ध के अनुरूप रूप धारण करके उस हत्या-काण्ड और उस युद्ध को प्रकृत रूप देने के लिये परस्पर सामञ्जस्य स्थापित कर लिया।'

टॉल्सटॉय का कहना है कि नैपोलियन ने यह आत्म-हत्या-तुल्य कार्य भावी से प्रेरित होकर किया। उसने अनेक राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया था। और भगवान इस अनाचार को और अधिक सहन नहीं कर सकता था। जब पाप का घड़ा भर गया तो उसे बलात् ऐसे कार्य करने पड़े जिनके कारण उसका पतन हुआ।

नैपोलियन ने मॉस्को-यात्रा क्यों की? इस असाधारण

घटना का क्या कारण था? यह क्यों हुई? इतिहासकार हमें सरल आश्वासन के साथ बताते हैं कि इसका कारण ड्यूक ऑफ़ ओल्डनवर्ग के साथ किया गया अन्याय था, औपनिवेशिक व्यवस्था का भंग करना था, महत्वाकांक्षा थी, ज़ार ऐलेक्ज़ेण्डर की हठ-धर्मी थी, राजनीतिज्ञों की भूलें थीं, और आदि-आदि।

जब एक पका हुआ सेब गिरता है, तो क्यों गिरता है? इस लिये कि पृथ्वी ने उसे अपनी आकर्षण-शक्ति द्वारा खींच लिया। इसलिये कि उसकी चेंपी सूख गई। इसलिये कि वह सूर्य की रश्मियों से पककर तैयार हो गया? इसलिये कि वह अधिक बोझल हो गया। इसलिये कि हवा ने चलकर उसे हिलाया-डुलाया। या इसलिये कि उसके नीचे खड़ा हुआ लड़का उसे खाना चाहता था।'

आगे चलकर टॉल्सटॉय कहता है कि 'ये सारे कारण सही या ग़लत हो सकते हैं। फल इसलिये गिरा कि वह गिरने के लिये बाध्य था, नैपोलियन मॉस्को इसलिये गया कि वह जाना चाहता था, और फलतः वह नष्ट हो गया।' उधर फल पककर तैयार हो गया था, उधर नैपोलियन के पाप का घड़ा भर चुका था, बस।

टॉल्सटॉय की देशभक्ति ने कभी आत्म-रक्षा की परिधि का व्यतिरेक नहीं किया। 'जियो और जीने दो' उसका सिद्धान्त था। वह साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के पोषकों की देश-भक्ति से दूर थे और अश्वेत जातियों पर, 'उन्हें' 'सभ्य' बनाने

के लिए', अधिपत्य करने के वह विरोधी थे। उनका कहना था कि प्रत्येक देश का अलग रहन-सहन होता है, प्रत्येक जाति की एक पृथक् संस्कृति होती है। प्रत्येक वर्ग का अपना निराला ढंग होता है। अश्वेत जातियों पर अपनी 'सभ्यता' लादने का जितना अधिकार श्वेत जातियों को है, उतना ही अश्वेत जातियों को, श्वेत जातियों पर अपनी सभ्यता लादने का अधिकार होना चाहिये। वास्तव में यह अधिकार किसी को नहीं है। रूस में कुछ ऐसी जातियाँ भी बसती थीं, जो सैकड़ों वर्ष से ईसाइयों के साथ रहते हुए भी उनमें न मिल सकीं। उनके रीति-रिवाज बिल्कुल भिन्न थे। किसी मनचले अधिकारी ने उन पर 'अधार्मिकता' का मुक़दमा चलाकर उन्हें निर्वासन-दण्ड दिलवा दिया। टॉल्सटॉय इस अत्याचार से बेतरह विकल हो उठे और उन्होंने इस सम्बन्ध में ख़ूब लिखा।

ज़ारशाही के विरुद्ध पोलैण्ड के युवक जो संघर्ष करते थे, उसके प्रति टॉल्सटॉय की सहानुभूति थी। वह प्रत्येक धर्म, प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश को स्वतन्त्र और स्वच्छन्द देखना चाहते थे और इसीलिये उनकी देश-भक्ति इतनी उज्ज्वल और निष्कलुष थी। उनकी देश-भक्ति चर्चिल और मुसोलिनी की देश-भक्ति नहीं थी, वाल्टेयर और गेरीवाल्डी की देश-भक्ति थी। वह दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करके आप स्वतन्त्र नहीं रहना चाहते थे। इसीलिए नैपोलियन की सारी विजय, उसकी सारी महत्ता, उसकी सारी प्रतिभा उन्हें थोथी और

निरर्थक दिखाई देती थी। वह सैनिक पेशे को घृणा की दृष्टि से देखते थे; क्योंकि सैनिकों का उपयोग दूसरों की स्वच्छन्दता का अपहरण करने में किया जाता है।

अपनी अमर कृति 'युद्ध और शान्ति' में वह एक स्थान पर प्रिंस एण्ड्र्यू से कहलाते हैं—

'युद्ध क्या है ? युद्ध व्यापार में सफलता प्राप्त करने के लिए क्या कुछ आवश्यक है ? सैनिक-पेशा लोगों के क्या व्यसन होते हैं ? युद्ध का उद्देश्य हत्याकाण्ड है; युद्ध के साधन जासूसी, विश्वासघात और उनका प्रोत्साहन, किसी देश के निवासियों को बर्बाद करना, उन्हें लूटना या उनका माल-मता चुराना— जिनसे सेना का भरण-पोषण हो सके—जाल-साज़ी करना और धोकेबाज़ी करना—इन्हें युद्ध-कौशल के नाम से पुकारा जाता है। सैनिक-पेशा लोगों के व्यसन हैं—स्वच्छंदता काअभाव—अर्थात नियत्रन्ण, निश्चेष्टता, अज्ञान, निर्दयता, व्यभिचार और शराब-खोरी। पर इतना सब होते हुये भी लोग-बाग इसी पेशे का सब से अधिक आदर मान करते हैं!......जो सब से अधिक आदमियों की हत्या करता है, उसी को सबसे बड़ा पुकार दिया जाता है। जिस तरह हम कल मिलेंगे, उसी तरह वे एक-दूसरे की हत्या करने को मिलते हैं। वे हज़ारों-लाखों आदमियों को मारते हैं, उन्हें विनष्ट करते हैं, और फिर इतना नर-संहार करने के बाद ईश्वर का धन्यवाद करते हैं!......भला ईश्वर उन्हें किस दृष्टि से

देखता होगा और उनकी प्रार्थना किन कानों से सुनता होगा ?

टॉल्सटॉय की देश-भक्ति मानवता से ओत-प्रोत थी। उनका कहना था कि किसी एक देश के आदमियों का किसी दूसरे देश में जाकर वहाँ लूट-खसोट करने और व्यभिचार फैलाने, जाली नोट चलाने और अपनी हकूमत गाँठने का क्या अधिकार है ? उनका कहना था कि युद्ध बड़ा ही नृशंस व्यापार है, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कलेजे में चुप-चाप संगीन घुसेड़ देता है, और समझता है कि मैंने बड़ी वीरता का काम किया। जिस प्राण को वह प्रदान नहीं कर सकता, उसे नष्ट करने का उसे क्या अधिकार है ? चींटी भी पैर पड़ने पर काट लेती है- जिससे प्रकट होता है कि उसे भी स्वतंत्रता उतनी ही प्रिय है, जितनी हाथी को। जो सैनिक दूसरे की स्व-तंत्रता का अपहरण करने के लिये उसके देश में घुसकर वीभत्स काण्ड करता है, वह स्वयं अपनी और अपने देश की स्वतंत्रता का अपहरण पसन्द न करेगा। टॉल्सटॉय की दृष्टि में बड़े-बड़े जनरल सिद्धहस्त क़साई थे। और दूसरों के देश पर अधिकार करनेवाले चोर और डाकू थे— साधारण चोर और डाकू नहीं, हत्यारे चोर और डाकू।

सैनिक उदाराशमता को टॉल्सटॉय बिल्कुल अनर्गल समझते थे और कहते थे कि यदि युद्ध करना अनिवार्य ही होगया हो, तो "बन्द क़ैद नहीं करना चाहिए, मर गये और मार डाला।" हम दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण करते हैं, और फिर उदा-

राशयता का ढोंग रचते हैं। 'ऐसी उदाराशयता और भावुकता एक ऐसी महिला की उदाराशयता और भावुकता की तरह है, जो किसी बछड़े को हलाल होते देखकर मूर्च्छित हो जाती है, वह इतनी कोमल-हृदया है कि इस रक्त की धारें देख तक नहीं सकती, पर जब बछड़ा उसकी मेज़ पर परोसा जाता है तो खूब आनन्द ले-लेकर खाती है।'

टॉल्सटॉय सैनिक पेशे से जी खोलकर घृणा करते थे; यद्यपि स्वयं सैनिक रह चुके थे। वह कहते थे कि इन्हीं सैनिकों के द्वारा एक देश दूसरे देश को दासता की बेड़ियों में जकड़ डालता है, इन्हीं सैनिकों की बदौलत मनुष्य-मनुष्य से खुले हृदय के साथ प्रेम नहीं कर सकता। रूस जर्मनी का शत्रु है, फ्रान्स ऑस्ट्रिया का शत्रु है, जापान रूस का शत्रु है— सब इन सैनिकों की बदौलत। यदि इस पेशे को उठा ही दिया जाय तो सब फिर एक-दूसरे को अपना बन्धु समझने लगें, कोई किसी की आज़ादी को छीनने की चेष्टा न करें, सब देश-भक्त रहें और सब का देश संसार हो। टॉल्सटॉय की देश भक्ति में हमें इसी अंतर्राष्ट्रीयता का, इसी विश्व-बन्धुत्व का पाठ मिलता है। उन्होंने किसी जाति या देश से कभी घृणा नहीं की, पर नैपोलियन से उन्हें भरपूर घृणा थी; क्योंकि उसने उनके पिता-पितामह की, उनके पितृ-देश की स्वतंत्रता का अपहरण किया था। टॉल्सटॉय यदि देश-भक्त थे तो दूसरों की क्षति पहुँचानेवाले देश-भक्त न थे।

कॉकेशिया में दुखोबारे नाम का एक सम्प्रदाय रहता था। इस सम्प्रदाय में कुछ विचित्र रीति-रिवाज चले हुये थे। इन रीति-रिवाजों को धार्मिकता का रूप दे दिया गया था। इनका धार्मिक नेता था वेरिजिन। इसने अपने अनुकारियों को सलाह दी कि सेना में भर्ती होना पाप है; क्योंकि यह एक ईसा के सिद्धान्तों के विपरीत है। फलतः रूसी सरकार ने इस नेता को साइवेरिया को निर्वासित कर दिया। वेरिजिन ने साइवेरिया जाते समय अपने अनुकारियों से कह दिया था कि उसका मिशन जारी रक्खा जाय। फलतः दुखोबारे सम्प्रदाय ने एक विशाल सभा करके उसमें खुल्लम-खुल्ला अपने हथियार जला दिये। क़ज़्ज़ाक जो ऐसे मौक़े की ताक में रहते ही थे, वे अपने इतिहास—कुप्रसिद्ध घोड़े लेकर श्रोताओं पर टूट पड़े और बहुत-से आदमियों का अंग-भंग कर डाला। बाद को इन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और इन्हें इतनी यन्त्रणायें दी गईं कि बहुत-से मर गये। यह दुर्घटना १८९५ में हुई।

१८९४ में ड्रोज़िन जेल में मर गया। इस शिक्षक ने १८८१ में सेना में भर्ती होने से इन्कार कर दिया; क्योंकि वह दूसरों की हत्या करने के कार्य को ईसा की शिक्षा के विरुद्ध समझता था। उसे गिरफ़्तार कर लिया गया और साल-भर तक भाँति-भाँति की भीषण यन्त्रणायें दी गईं; जिसके फल-स्वरूप उसे क्षमा दी गई। वह सेना में भर्ती होने के अयोग्य तो समझा गया, पर उसे ९ वर्ष की सज़ा दी गई। उसकी मृत्यु

बीच ही में हो गई। देश-भर में इसी प्रकार की घटनाएँ हो रही थीं। लोग सेना में भर्ती होने से इन्कार कर देते और उन्हें भाँति-भाँति की यन्त्रणायें दी जातीं। टॉल्सटॉय पर इन घटनाओं का, विशेषकर उपरोक्त दो घटनाओं का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने इस सम्बन्ध में कई लेख लिखे, जो देश में तो सेंसर की कृपा से प्रकाशित न हो सके, हाँ, देश से बाहर खूब छपे, जिससे रूसी सरकार इनसे बहुत नाराज़ हो गई और उनकी गिरफ़्तारी की आशंका होने लगी। एक बार इनके मकान की तलाशी भी हुई। टॉल्सटॉय उस समय मौजूद न थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि यदि तलाशी उनके सामने होती तो वह निश्चय ही किसी-न-किसी की हत्या कर डालते।

टॉल्सटॉय की देश-भक्ति अपने ढंग की निराली थी। जैसा कि कहा जा चुका है, वह जिस प्रकार अपने देश पर किसी सरे का आक्रमण सहन न कर सकते थे, उसी प्रकार अपने देश की जातियों पर ज़ारशाही के अत्याचारों को देखकर विकल हो जाते थे। गत शताब्दि के अन्त में तुर्की में रूसी आर्मीनियनों पर बड़ा अत्याचार हो रहा था। इस सम्बन्ध में रूस के कुछ आर्मीनियन विद्यार्थी टॉल्सटॉय से मिलने गये। विद्यार्थियों की बात ध्यानपूर्वक सुनने के बाद टॉल्सटॉय ने कहा :

'क्या सचमुच बात इतनी बढ़ गई है? मैं तो समझता हूँ कि

आप लोग अतिशयोक्ति से काम ले रहे हैं। यदि आर्मीनियनों को किसी प्रकार तुर्की अत्याचार से त्राण मिल गया, तो उन पर किसी दूसरी सरकार का अत्याचार होने लगेगा। कमज़ोर आदमी की तो हर तरह से आफ़त है।'

टॉल्सटॉय दुखिया के बन्धु थे; चाहे वह रूसी हों,चाहे तुर्की, चाहे, फ्रेञ्च चाहे जर्मन। उनका दृष्टिकोण संकीर्ण राष्ट्रीयता से संकुचित न होगया था। उनका वास्तविक मिशन विश्व-बन्धुत्व था, और उनकी राष्ट्रीयता उनका देश-प्रेम न देश-पर-देश का प्रभुत्व सहन कर सकता था, न समाज पर सरकार का, न व्यक्ति पर समाज का। उनका देश-प्रेम ईसाईपन से ओत-प्रोत था—पश्चिमी योरुप के ईसाईपन से नहीं, ईसा के ईसाईपन से। ईसा ने उपदेश दिया था कि 'तू हत्या मत कर। उसने कहा था,तू अपने पड़ोसी के साथ प्रेम का व्यवहार कर। उसका आदेश था, तू दूसरों का माल मत चुरा।' टॉल्सटॉय इन आदेशों के अनुसार आचरण करना चाहते थे और मनुष्य, समाज और सरकार से भी इसी प्रकार के आचरण की आशा रखते थे। उनके ईसाईपन पर यदि आचरण किया जाये तो संसार में स्वर्ग का राज्य हो—चाहे न हो, कम-से-कम मनुष्य का राज्य न रहे, और इसीलिये रूसी-सरकार जिसमें मानवी दुर्बलता और मानवी नृशंसता का पुट आवश्यकता से अधिक मिला हुआ था, उनसे चिढ़ गई थी।

रूसी सरकार का, रूसी सेना का, रूस की देश की सर-

कार और सेना का, अस्तित्व मूसा के उन दस आदेशों के प्रतिकूल आचरण करने पर निर्भर है, जिनमें से तीन का ज़िक्र हम ऊपर कर आये हैं। देश की 'रक्षा' के लिये सेना का रखना अनिवार्य है, देश में आंतरिक 'शांति' क़ायम रखने के लिये पुलिस का रखना ज़रूरी है। टॉल्सटॉय की शिक्षा थी कि देश की रक्षा की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी, यदि सब एक-दूसरे से प्रेम करने लगेंगे। देश के भीतर अपराध नाम की कोई चीज़ ही नहीं रहेगी, यदि लोग-बाग ईसा और मूसा के आदेश के अनुसार आचरण करने लगेंगे। बस, उनकी इस शिक्षा ने ज़ार की सरकार को उनका घोर शत्रु बना दिया।

जब हत-भाग्य निकोलस द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ तो लोगों ने उसे अभिनन्दन-पत्र दिया, जिसमें दबी ज़ुबान से यह आशा प्रकट की कि अब जनता को अपने प्रतिनिधियों-द्वारा अपना मत प्रकाश करने का अवसर दिया जायगा। निकोलस ने तत्काल उत्तर दिया 'मैं अपनी शक्ति-भर प्रजा का मंगल करूँगा। मगर मैं इस मामले में किसी और को शरीक नहीं करना चाहता। मेरे पिता-पितामह की जो एकान्त शासन की नीति रही है, उसमें कभी किसी प्रकार का अन्तर न किया जायेगा। मेरे पास लोगों का वहम पूरा करने का कोई साधन नहीं है।' इससे लोगों को बड़ी निराशा हुई, और उनकी आशा-लता पर तुषार-पात हुआ। कुछ लोगों ने सभा करके इस विषय में चर्चा करने का निश्चय किया। एक प्रिंस काउण्ट टॉल्सटॉय

को आमंत्रित करने गया। टॉल्सटॉय के नौकर ने प्रिंस को पहले तो टॉल्सटॉय के उद्यान में न जाने दिया, पर बाद को वह जान गया और प्रिंस उद्यान में चला गया। वहाँ टॉल्सटॉय बर्फ़ तोड़ रहे थे। प्रिंस ने अपने आगमन का उद्देश बताया टॉल्सटॉय कुछ देर तक चुपचाप बर्फ़ तोड़ते रहे फिर अकस्मात् उनके मुँह से निकल पड़ा 'लोगों का वहम !' ज़ार के ये शब्द उनके हृदय में बेतरह खटक रहे थे। जिस चीज़ को वह मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे, उसे ज़ार ने वहम कहकर टाल दिया। प्रिंस ने सोचा था कि टॉल्सटॉय सभा में शरीक़ होने को बहुत अनुनय-विनय पर राज़ी होंगे। पर उसे यह पता न था कि उनका हृदय रूसी जनता की इच्छा के अपमान की वेदना से किस बुरी तरह जल रहा है। वह सभा में शरीक हुए और वहाँ व्याख्यान दिया।

पर ज़ारशाही-जैसी बुरी सरकार के सुधार के लिए भी वह गुप्त षड्यन्त्र से काम लेने को तय्यार न थे। जब देश में भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा तो वह स्थान-स्थान पर दुःखित जनता का कष्ट दूर करते फिरे। पर इस अवसर पर एक विशेष घटना घटित हुई। उनके पास कुछ साम्यवादी लोग पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि उन्हें भी जनता की सेवा करने का अवसर दिया जाय। पर पूछने पर उन्होंने यह भी बता दिया कि उनका वास्तविक उद्देश्य वर्तमान सरकार के प्रति असन्तोष उत्पन्न करना है। टॉल्सटॉय ने उन्हें अपने साथ लेने से साफ़ इन्कार कर दिया।

टॉल्सटॉय के लिए सत्य ही सब-कुछ था, उसी के द्वारा वे अपने देश-वासियों की और संसार की सेवा करना चाहते थे। टॉल्सटॉय की देश-भक्ति उज्ज्वल प्रकार की थी। दुखी को देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था, और कभी-कभी वह इसके प्रवाह में इस प्रबल रूप में बह जाते थे कि अपनी स्पष्ट-वादिता के कारण सारे कुलीन वर्ग और अधिकारियों को नाराज़ कर देते थे। जो लोग टॉल्सटॉय के शत्रु थे, वे ऐसे अवसरों की ताक में रहते थे और जब कभी वह ऐसा लेख लिखते, उसे ज़ार के कुलीन वर्ग में दिखाते। इस प्रकार इनके विरुद्ध एक संगठन-सा होगया था। इनके लड़के की मृत्यु हुई तो इनकी पत्नी बहुत आकुल हुई। टॉल्सटॉय वैसे देश छोड़ना न चाहते थे, पर अपनी पत्नी के स्वास्थ्य के लिए उन्होंने कुछ दिनों के लिए बाहर घूमने का निश्चय किया। इसी समय इनके एक मित्र ने पीटर्सबर्ग से इन्हें गुप्त सूचना भेजी कि ज़ार की सरकार ने यह निश्चय किया है कि उन्हें देश से बाहर जाने से रोका तो न जाय, पर फिर वे यदि वापस आना चाहें तो उन पर प्रतिबंध लगा दिया जाय। टॉल्सटॉय ने अपना जाना रोक दिया।

भला टॉल्सटॉय-जैसे खरी कहनेवाले को कौन सरकार चाहेगी?

* * *

टॉल्सटॉय का धर्म

महर्षि टॉल्सटॉय के पास शस्त्र भी था और मस्तिष्क भी
नर वह विना भली प्रकार सोचे-विचारे किसी बात को ठीक नहीं मा
लेते थे। उनके जीवन-काल में एक ऐसा अवसर आया, ज
उन्होंने ईश्वर पर अपना विश्वास खो-सा दिया। इस मानसि
संघर्ष से वह दिन-रात विकल रहते थे। फिर उनके हृदय
अनायास ही प्रश्न उठा कि यदि यह जगत् कार्य है, त
इसका कारण भी अवश्य होना चाहिये। यह समय वह था, ज
योरुप के शिक्षित-समाज में अनीश्वरवाद या विकासवाद क
ज़ोर होरहा था। डर्विन और हैगल के सिद्धान्तों ने लोगों क
ईश्वर-सम्बन्धी आस्था को जड़ से हिला दिया था। टॉल्सटॉ
की आस्था को भी धक्का लगा, पर साथ-ही उनके भीतर घो
मानसिक संग्राम आरम्भ होगया और उन्हें उस समय तक शांति

न मिली, जब तक उन्होंने ईश्वर-सम्बन्धी अपना निजी तथ्य निर्धारित न कर लिया। इस मानसिक संघर्ष का वृत्तान्त उनकी अमूल्य कृति 'My confession' में पढ़ने को मिलता है। यदि टॉल्सटॉय कोई उपन्यास न लिखते और केवल यही पुस्तक लिखते, तो भी उतने ही अमर होते, जितने अब हैं।

'My confession' १८७६ में लिखा गया था। टॉल्स-टॉय इस पुस्तक में लिखते हैं:—

"अब से पाँच साल पहले एक विचित्र-सी घटना हुई। आरम्भ में तो मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो जीवन की गति ही रुक गई है, मानो मैं यह ही न जानता होऊँ कि किस प्रकार जीना चाहिये और क्या करना चाहिये। मैं समझने लगा मानो सब-कुछ समाप्त होगया, और इस विचार ने मुझे बहुत विषादपूर्ण बना दिया। बाद को यह सब भूल गया और पहले की माफ़िक ही कहने लगा। पर फिर इसी प्रकार का अंतर्द्वन्द्व बार-बार उठने लगा। मेरे मन में बार-बार यही प्रश्न उठते—यह सब है किस लिये? इसका लक्ष्य क्या है?…जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी सांघातिक रोग से पीड़ित होकर आरम्भ में समझता है कि रोग साधारण है, पर बाद को जान जाता है कि इसी रोग में उसके मरण-प्रश्न निहित हैं; उसी प्रकार ये प्रश्न आरम्भ में तो मुझे तुच्छ और नगण्य प्रतीत हुए, पर बाद को मुझे यही प्रश्न परमावश्यक दिखाई देने लगे। मैंने इन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की और समझा कि

प्रश्न शिशु-सुलभ और सरल हैं, पर ज्यों-ज्यों मैंने उनकी उलझन सुलझाने की चेष्टा की, मुझे प्रतीत होने लगा कि (१) ये प्रश्न सरल और शिशु-सुलभ नहीं हैं, बल्कि जीवन की परमावश्यक समस्याएँ है; कि (२) इनका उत्तर देना मेरे बूते से बाहर की बात है।

"मेरे जीवन की गति रुक गई। मैं साँस ले सकता था, खा-पी सकता था और सो भी सकता था, पर इन सब में जीवन का अभाव था; क्योंकि कोई अभिलाषा ही नहीं रह गई थी, जिसकी पूर्ति करना विवेकपूर्ण दिखाई पड़ता। मुझे सच्ची बात जानने की भी इच्छा न होती; क्योंकि मुझे भास-सा होगया था कि सच्ची बात यह है कि जीवन निरर्थक है। मुझे ऐसे प्रतीत होने लगा कि मानो मैं चलते-चलते ऐसे ऊँचे स्थान पर आ पहुँचा हूँ, जिसके नीचे गर्त है, जिसमें गिरने पर विनाश हुआ रक्खा है। अब रुकना असम्भव था, वापस जाना असम्भव था, और इस बात की ओर से आँखें बन्द करना भी असम्भव था, कि अब यन्त्रणा और मृत्यु के सिवाय और कुछ बाक़ी नहीं रहा है।"

टॉलस्टॉय लिखते हैं कि "इस अवसर पर मुझे जीवन-धारण करना इतना मूर्खतापूर्ण और निरर्थक प्रतीत होने लगा कि मेरी इच्छा आत्म-हत्या करने की हुई। मुझे जीवन की ओर से जो शक्तियाँ खींच रही थीं, वे अत्यन्त बलवती थीं। पहले मैं जीवन में विकास करने की बात सोचा करता था और यब

मुझे सहज और प्राकृतिक दिखाई पड़ता था, अब आत्महत्या भी मुझे उतनी ही सहज और प्राकृतिक दिखाई देने लगी। आत्म-हत्या की यह प्रेरणा ऐसी प्रलोभनकारिणी सिद्ध हुई कि मैं रस्सी को छिपाकर रख देता, जिससे शाम को कमरे में कपड़े बदलते समय मैं कुण्डे में फाँसी डालकर न मर जाऊँ। मैंने बन्दूक़ लेकर अकेले शिकार खेलने को जाना भी बन्द कर दिया कि कहीं किसी दिन इस सुगम उपाय से ही मैं अपने जीवन का अन्त न कर दूँ। मैं यह न जानता था कि मुझे किस बात की आकांक्षा है; मुझे जीवन से भय था, मैं उससे बचकर भागना चाहता था, पर तो भी मुझे उससे आशायें लगी हुई थीं।"

टॉल्सटॉय को उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो किसी ने उन्हें जीवन प्रदान करके उनके साथ उपहास किया है। वह अभी यह मानने को तैयार न थे कि यह 'कोई' ही उनका जीवन-दाता है। "मुझे अनायास ही ऐसा भास होने लगा मानो कहीं पर कोई कौतुकपूर्वक यह देख रहा है कि मैंने अपने पिछले ३० या ४० वर्ष किस प्रकार व्यतीत किये हैं। किस प्रकार मैंने विद्या ग्रहण की है, शारीरिक और मानसिक विधान प्राप्त किया है, और किस प्रकार अब सब-कुछ प्राप्त करने के बाद मैं ऐसे स्थान पर आ पहुँचा हूँ, जहाँ से मुझे यह दिखाई पड़ने लगा कि बस, जीवन निस्सार है, उसमें कुछ नहीं रक्खा है—मेरे इस सारे व्यापार को देखकर वह प्रमुदित होता है। उस देखने और हँसनेवाले का वास्तव में कोई अस्तित्व है या नहीं, इससे

प्रश्न शिशु-सुलभ और सरल हैं, पर ज्यों-ज्यों मैंने उनकी उलझन सुलझाने की चेष्टा की, मुझे प्रतीत होने लगा कि (१) ये प्रश्न सरल और शिशु-सुलभ नहीं हैं, बल्कि जीवन की परमावश्यक समस्याएँ हैं; कि (२) इनका उत्तर देना मेरे बूते से बाहर की बात है।

"मेरे जीवन की गति रुक गई। मैं साँस ले सकता था, खा-पी सकता था और सो भी सकता था, पर इन सब में जीवन का अभाव था; क्योंकि कोई अभिलाषा ही नहीं रह गई थी जिसकी पूर्ति करना विवेकपूर्ण दिखाई पड़ता। मुझे सच्ची बात जानने की भी इच्छा न होती; क्योंकि मुझे भास-सा होगया था कि सच्ची बात यह है कि जीवन निरर्थक है। मुझे ऐसे प्रतीत होने लगा कि मानो मैं चलते-चलते ऐसे ऊँचे स्थान पर आ पहुँचा हूँ, जिसके नीचे गर्त है, जिसमें गिरने पर विनाश हुआ रखा है। अब रुकना असम्भव था, वापस जाना असम्भव था, और इस बात की ओर से आँखें बन्द करना भी असम्भव था, कि अब यन्त्रणा और मृत्यु के सिवाय और कुछ बाक़ी नहीं रहा है।"

टॉलस्टॉय लिखते हैं कि "इस अवसर पर मुझे जीवन-धारण करना इतना मूर्खतापूर्ण और निरर्थक प्रतीत होने लगा कि मेरी इच्छा आत्म-हत्या करने की हुई। मुझे जीवन की ओर से जो शक्तियाँ खींच रही थीं, वे अत्यन्त बलवती थीं। पहले मैं जीवन में विकास करने की बात सोचा करता था और यह

मुझे सहज और प्राकृतिक दिखाई पड़ता था, अब आत्महत्या भी मुझे उतनी ही सहज और प्राकृतिक दिखाई देने लगी। आत्म-हत्या की यह प्रेरणा ऐसी प्रलोभनकारिणी सिद्ध हुई कि मैं रस्सी को छिपाकर रख देता, जिससे शाम को कमरे में कपड़े बदलते समय मैं कुण्डे में फाँसी डालकर न मर जाऊँ। मैंने बन्दूक लेकर अकेले शिकार खेलने को जाना भी बन्द कर दिया कि कहीं किसी दिन इस सुगम उपाय से ही मैं अपने जीवन का अन्त न कर दूँ। मैं यह न जानता था कि मुझे किस बात की आकांक्षा है; मुझे जीवन से भय था, मैं उससे बचकर भागना चाहता था, पर तो भी मुझे उससे आशायें लगी हुई थीं।"

टॉल्सटॉय को उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो किसी ने उन्हें जीवन प्रदान करके उनके साथ उपहास किया है। वह अभी यह मानने को तैयार न थे कि यह 'कोई' ही उनका जीवन-दाता है। "मुझे अनायास ही ऐसा भास होने लगा मानो कहीं पर कोई कौतुकपूर्वक यह देख रहा है कि मैंने अपने पिछले ३० या ४० वर्ष किस प्रकार व्यतीत किये हैं। किस प्रकार मैंने विद्या ग्रहण की है, शारीरिक और मानसिक विधान प्राप्त किया है, और किस प्रकार अब सब-कुछ प्राप्त करने के बाद मैं ऐसे स्थान पर आ पहुँचा हूँ, जहाँ से मुझे यह दिखाई पड़ने लगा कि बस, जीवन निस्सार है, उसमें कुछ नहीं रक्खा है—मेरे इस सारे व्यापार को देखकर वह प्रमुदित होता है। उस देखने और हँसनेवाले का वास्तव में कोई अस्तित्व है या नहीं, इससे

मेरी अवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ा। मुझे यही प्रतीत होने लगा कि आज या कल मुझे या मेरे प्रियजनों को रोग और मृत्यु आ घेरेंगे और फिर केवल दुर्गन्धि और कीड़े-मात्र रह जायँगे।.........मनुष्य इस चिरन्तन सत्य की ओर से आँख बन्द करके जीता क्यों रहता है, यह व्यापार मेरी समझ में न आया। मुझे भास होने लगा कि यह सब-कुछ मूर्खतापूर्ण जंजाल है।"

हुआ था, यद्यपि जानता था कि एक-न-एक दिन मुझे सर्परूपी मृत्यु के मुख में जाना है। मैंने शहद चाटने की चेष्टा की, पर कुछ दिनों बाद मेरा जी उकता गया। उधर सफ़ेद और काला चूहा शाख काटने में लगे हुए थे। वे दिन और रात थे। मुझे विषधर सर्प अच्छी तरह दिखाई पड़ने लगा और मुझे यह कथानक सत्यतापूर्ण दिखाई देने लगा। आमोद-प्रमोद ही मधु के विंदु थे, जिनकी मिठास ने सर्प का भय कम कर दिया था, पर आमोद-प्रमोद से तृप्ति होने पर मुझ पर सर्प का भय फिर सवार हुआ। मुझसे चाहे कोई कितना ही कहता : जीवन की पहेली समझना तेरे बूते से बाहर की बात है, इसलिए तू व्यर्थ परेशान मत हो : जिये जा, बस।" मैं अब उसके भुलावे में आनेवाला न था। मैं स्पष्ट देख रहा था कि दिन के बाद रात बीतती जा रही है और मैं मृत्यु के निकटतर होता जा रहा हूँ।......बड़ी भयंकर अवस्था थी। मैं इस भीति से उद्धार पाने के लिए अपना अन्त कर देना चाहता था। अपने भयावह अन्त की बात मैं जानता था, समझता था कि वह अन्त वर्तमान अवस्था से भी भयंकर है, फिर भी मैं सन्तोषपूर्वक अपने अन्त की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। अन्धकार की भीति मुझे इतनी प्रबल प्रतीत हुई कि उससे जल्दी-से-जल्दी छुटकारा पाने के लिए मैं गोली मार लेने या फाँसी डाल लेने की इच्छा करने लगा।"

फिर टॉल्सटॉय के मन में आया कि यह अवस्था स्वाभा-

मेरी अवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ा। मुझे यही प्रतीत होने लगा कि आज या कल मुझे या मेरे प्रियजनों को रोग और मृत्यु आ घेरेंगे और फिर केवल दुर्गन्धि और कीड़े-मात्र रह जायँगे।.........मनुष्य इस चिरन्तन सत्य की ओर से आँख बन्द करके जीता क्यों रहता है, यह व्यापार मेरी समझ में न आया। मुझे भास होने लगा कि यह सब-कुछ मूर्खतापूर्ण जञ्जाल है।"

इसके बाद उन्होंने श्रीमद्भागवत के उस कथानक का वर्णन् किया है, जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार एक यात्री के पीछे एक मस्त हाथी लग गया और वह उससे जान बचाने के लिए एक कुएँ में कूद पड़ा। कुएँ में एक विषधर सर्प था। यात्री ने कुएँ की दीवार से निकली हुई एक शाख को पकड़ लिया। इस शाख को दो चूहे—एक सफ़ेद, एक काला काट रहे थे। वह शाख शीघ्र ही कट जायगी और यात्री कुएँ में गिर पड़ेगा। कुएँ के बाहर मस्त हाथी खड़ा है। इसी समय उसके मुँह में शहद की एक बूँद आकर गिरी और उसने शाख की ओर आँख उठाकर देखा। शहद छत्ते में से आ रहा था। बस, यद्यपि वह जानता था कि शाख कटेगी और वह विषधर सर्प का शिकार होगा, फिर भी शहद के मिठास ने यह सब भुला दिया और वह शाख से और भी अच्छी तरह चिमट गया।

हुआ था, यद्यपि जानता था कि एक-न-एक दिन मुझे सर्परूपी मृत्यु के मुख में जाना है। मैंने शहद चाटने की चेष्टा की, पर कुछ दिनों बाद मेरा जी उकता गया। उधर सफ़ेद और काला चूहा शाख काटने में लगे हुए थे। वे दिन और रात थे। मुझे विषधर सर्प अच्छी तरह दिखाई पड़ने लगा और मुझे यह कथानक सत्यतापूर्ण दिखाई देने लगा। आमोद-प्रमोद ही मधु के बिंदु थे, जिनकी मिठास ने सर्प का भय कम कर दिया था, पर आमोद-प्रमोद से तृप्ति होने पर मुझ पर सर्प का भय फिर सवार हुआ। मुझसे चाहे कोई कितना ही कहता : जीवन की पहेली समझना तेरे बूते से बाहर की बात है, इसलिए तू व्यर्थ परेशान मत हो : जिये जा, बस।" मैं अब उसके भुलावे में आनेवाला न था। मैं स्पष्ट देख रहा था कि दिन के बाद रात बीतती जा रही है और मैं मृत्यु के निकटतर होता जा रहा हूँ।......बड़ी भयंकर अवस्था थी। मैं इस भीति से उद्धार पाने के लिए अपना अन्त कर देना चाहता था। अपने भयावह अन्त की बात मैं जानता था, समझता था कि वह अन्त वर्तमान अवस्था से भी भयंकर है, फिर भी मैं सन्तोषपूर्वक अपने अन्त की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। अन्धकार की भीति मुझे इतनी प्रबल प्रतीत हुई कि उससे जल्दी-से-जल्दी छुटकारा पाने के लिए मैं गोली मार लेने या फाँसी डाल लेने की इच्छा करने लगा।"

फिर टॉल्सटॉय के मन में आया कि यह अवस्था स्वाभा-

विक नहीं हो सकती; कहीं-न-कहीं भूल अवश्य हुई है। टॉल्सटॉय को जिस समस्या ने इतना व्यथित कर रक्खा था, वह मूर्ख-से-मूर्ख बालक के हृदय में भी उत्पन्न होती है। वह समस्या है : मैं आज जो-कुछ कर रहा हूँ या कल करूँगा, उसका क्या परिणाम होगा ? मेरे जीवन का क्या परिणाम होगा ? टॉल्सटॉय कहते हैं : 'इस समस्या का एक ही उत्तर है, वही जो सुकरात, सुलेमान और बुद्ध ने दिया है।

सुकरात ने मृत्यु की तैयारी करते हुये कहा—"हम जीवन से विदा क्या लेते हैं, सत्य की ओर अग्रसर होते हैं। हम लोग सत्य की खोज करनेवाले, अपने जीवन में किस बात के लिये प्रयत्नशील रहते हैं ! इस देह से, और इस देह से उत्पन्न होने-वाले पापों से त्राण पाने के लिए। फिर मृत्यु के आगमन पर हम हर्षित नहीं तो क्या हों ! विवेकशील मनुष्य अपनी सारी ज़िन्दगी-भर मृत्यु की कामना करता रहता है, इसलिए जब मृत्यु आती है तो उससे भयभीत नहीं होता।"

शापेनहार भी कहता कि—"जीवन बुराइयों का पुञ्ज है।" सुलेमान का भी कथन है कि "यह सब मिथ्या गर्व है। मनुष्य के सारे परिश्रमों का लाभ क्या है ? भूत का हमें स्मरण नहीं है, न आनेवाली बातों का स्मरण है। इसलिए मुझे जीवन से घृणा है; क्योंकि जीवन धारण करके जो काम किया जाता है वह मेरे लिये वेदनाकारी है; यह सब मिथ्या गर्व है और आत्मा को व्यथित करनेवाला है।"

और जब भगवान बुद्ध को ज्ञान हुआ कि जरा-रोग और मृत्यु क्या पदार्थ हैं, तो उन्हें जीवन में कोई रस नहीं मिला और उन्होंने यह स्थिर किया कि जीवन ही सारी बुराइयों की जड़ है। बस, इस बुराई से स्वयं छुटकारा पाने के लिए और दूसरों को छुटकारा दिलाने के लिए उन्होंने अपनी आत्मा की सारी शक्ति लगा दी। भारत का ज्ञान ही यह है।

मानवी बुद्धि जीवन की समस्या का यही सीधा-सादा उत्तर देती है।

'सुकरात कहता है : " देह का जीवन बुराइयों की जड़ और असत्य है। इसलिए देह का जीवन-विनाश बड़ा मङ्गलकारी है, इसलिए हमें इसकी कामना करनी चाहिए।"

'शापेनहार कहता है : "जीवन वह है जो नहीं होना चाहिए—बुराइयों की जड़। बस, पात्र की ओर अग्रसर होना ही जीवन का एक-मात्र उत्तम पदार्थ है।"

'सुलेमान कहता है : "संसार में यह सब जो-कुछ है, अविवेक और विवेक, समृद्धि और दारिद्र्य, हर्ष और अमर्ष—यह सब मिथ्या गर्व और निस्सार है। आदमी मरा और बस, उसका चिन्ह तक नष्ट होगया। कितनी मूर्खतापूर्ण बात है!"

'बुद्ध कहते हैं : "जरा, दुर्बलता, दुःख और मृत्यु की अनिवार्यता का वास होने के बाद जीवन धारण करना असम्भव है। हमें जीवन से, जीवन की सारी सम्भावना से त्राण पाने की चेष्टा करनी चाहिए।"

'आत्म-प्रवंचना से काम न चलेगा। यह सब मिथ्या गर्व है। जिसका जन्म नहीं हुआ है, वही सुखी है; जीवन से मृत्यु अच्छी है, मनुष्य को जीवन से छुटकारा पाना चाहिए।'

टॉल्सटॉय ने विचारा कि इस समस्या का, इस उलझन का, सामना करने के चार उपाय हैं। पहला उपाय अज्ञान है। दूसरा उपाय सुलेमान का बनाया हुआ है,—खाओ-पिओ मौज करो। पर यह उपाय टॉल्सटॉय को इसलिए नहीं रुचा कि खा-पीकर मौज करनेवाले व्यक्ति संसार में बहुत थोड़े हैं। यदि सुलेमान की एक हज़ार पत्नियाँ थीं, तो एक हज़ार पुरुष बिना पत्नियों के, गुज़ारा कर रहे होंगे। तीसरा उपाय शक्ति और स्फूर्ति का है, जिसके द्वारा जीवन को सारी बुराइयों की जड़ समझकर उसका विनाश कर दिया जाय। टॉल्सटॉय को यह उपाय बहुत पसन्द आया। चौथा उपाय दुर्बलता है, जिसके अनुसार मनुष्य सत्य का अनुसन्धान तो करना चाहता है, पर साथ ही जीवन के मोह में भी फँसा हुआ है। टॉल्सटॉय ने अपने-आपको इसी के गर्भ में शामिल किया। उन्होंने अपने अन्तर्द्वंद्व से छुटकारा पाने के लिए अपने देश के, अपने कुलीन वर्ग के, पुरातन ईसाई धर्म-याचकों की शरण ली, पर उन्हें शान्ति न मिली। उन्होंने टॉल्सटॉय की जिज्ञासा शान्त करने के लिए ईसाई धर्म-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त समझाये, जिन्हें टॉल्सटॉय अच्छी तरह जानते थे और थोथा समझते थे।

टॉल्सटॉय ने इन धर्माचार्यों को और इन्हें प्रश्रय देनेवाले

धनिकवर्ग को अशिक्षित और दरिद्र समाज का मुहताज समझा, इनके धर्म को कृतिमता-पूर्ण समझा और अशिक्षितवर्ग की धार्मिक धारणाओं को सत्य के निकटतर समझा। टॉल्सटॉय को बड़े-बड़े धर्माचार्यों के धर्म-सम्बन्धी उपदेश जो सान्त्वना प्रदान न हुई; वह उन्हें अशिक्षित वर्ग की सरल-सहज आस्था-श्रद्धा से प्राप्त हुई। उन्होंने देखा कि जहाँ उनका वर्ग खाने-पीने, आलस्य से जीवन बिताने, और असंतुष्ट रहने में लगा रहता है, वहाँ यह अशिक्षित वर्ग कड़ा परिश्रम करके पेट भरता है और इसलिए जीवन से सन्तुष्ट है। धीरे-धीरे टॉल्सटॉय को इस समाज से प्रेम होगया। वह कहते हैं—

'बस, मेरी समझ में आगया कि मैंने अपनी इस जिज्ञासा का कि "जीवन क्या है" जो यह उत्तर दिया था कि "वह बुराइयों की जड़ है," सो ठीक है, केवल अन्तर इतना ही है कि "सब का" जीवन बुराइयों की जड़ नहीं है, केवल "मेरा" जीवन बुराइयों की जड़ है; क्योंकि मैंने उसे आलस्य और कामनाओं से घेरकर निरर्थक बना दिया है। पशु-पक्षी अपनी आजीविका स्वयं अर्जन करते हैं, इसलिए आनन्द में मग्न रहते हैं। मनुष्य भी अपनी आजीविका स्वयं अर्जन करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि पशु-पक्षी केवल अपने लिए करते हैं, मनुष्य को सब के लिए करना पड़ता है।...और पिछले ३० वर्ष से मैं क्या कर रहा हूँ?—मैंने अपनी आजीविका तक अर्जन नहीं की।

'मैंने अपने मस्तिष्क में शापेनहार और केन्ट की, उन थ्योरियों को दुहराया, जिनके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव था, और फिर उनका मन-ही-मन खण्डन करना आरम्भ किया।...मैं हूँ, इसका कोई कारण भी होना चाहिए। मैंने मन-ही-मन कहा 'वह है!' और अकस्मात् मेरे भीतर एक नवीन जीवन का सञ्चार हो गया, और मुझे जीवन धारण करने में आनन्द की सहानुभूति हुई...। ईश्वर ही जीवन है, जीवन धारण करना ही ईश्वर को जानना है। ईश्वर की खोज में लगे रहो, बस, वह फिर तुम्हें छोड़कर न जायेगा।...और मैं आत्म-हत्या के पाप से बच गया।...मैंने अपने वर्ग के जीवन-यापन का परित्याग कर दिया; क्योंकि मेरी समझ में आगया कि उनका जीवन जीवन नहीं, उसका ढकोसला-मात्र है। मैंने सीधे-सादे मज़दूर रूसियों को और उनके जीवन संबंधी तथ्य को अपनाया। इस तथ्य को सरल शब्दों में इस प्रकार रक्खा जा सकता है: हरेक आदमी ईश्वर की प्रेरणा से जगत में आया। ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस ढङ्ग से की है कि वह चाहे तो अपनी आत्मा का उद्धार कर सकता है, चाहे तो पतन कर सकता है। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए उसे परमात्मा-जैसा आचरण करना चाहिए, परमात्मा-जैसा आचरण करने के लिए उसे सारे आमोद-प्रमोद का परित्याग कर देना चाहिएँ, परिश्रम करना चाहिए, विनम्र होना चाहिए, कष्ट सहने चाहिए और प्राणि-मात्र पर दया करनी

चाहिए।...पर जब कभी मैं विद्वान् आस्तिकों से चर्चा करता या उनकी पुस्तकें पढ़ता, मेरे मन में संशय, असन्तोष और रोष-पूर्ण विवाद के भाव उदित हो उठते। मुझे हर बार यही प्रतीत होता कि जब कभी मैं इनकी बात-चीत का मर्म समझने की चेष्टा करता, मैं सत्य से बिछुड़ जाता और गर्व के किनारे जा पहुँचता। मुझे इन गाँववालों की निरक्षरता और अशिक्षा पर कितनी बार डाह हुआ है!'

टॉलस्टॉय ने रूसी सनातनी ईसाई-धर्म को समझने और उसे अपनाने की चेष्टा की, प्रारंभ में उसके सारे रीति-रिवाजों के आगे सिर झुकाया, व्रत रक्खे, तड़के ही प्रार्थना में सम्मिलित हुये पादरियों के आगे सरल भाव से अपराध स्वीकार किये, पर धीरे-धीरे उन्हें यह सारा व्यापार निरर्थक प्रतीत होने लगा। वह जिस प्रकार का धर्म चाहते थे, वह इस वातावरण से कोसों दूर था। कृत्रिमता, आडम्बर और गलेबाज़ी, बस, इसके सिवाय टॉल्सटॉय को और कुछ दिखाई न दिया। उनका कहना था कि ईश्वर की आस्था तो ऐसा पदार्थ है, जो जहाँ कहीं दिखाई दे, वन्द्य है; उसका वाह्य रूप चाहे जैसा हो। वह सनातन ईसाई धर्म के पादरियों को प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिकों की आलोचना करते-सुनते और उनका हृदय घृणा से भर जाता। ईश्वर की आस्था से तो आस्तिक मनुष्यों में परस्पर प्रेम और सद्भाव उत्पन्न होना चाहिए था, पर होता यह था कि मूल वस्तु—ईश्वर की आस्था को तो गौण रूप देदिया जाता था और वाह्य रूप,

कृत्रिमता और वाह्याडाम्बर को ही सब कुछ मान लिया गया था। टॉल्सटॉय-जैसा विलक्षणमति और कोमल हृदय का आदमी इस धर्म को कैसे अपना सकता था? फलतः उन्होंने इस धर्म की खूब आलोचना की जिससे धर्मयाजक उनसे नाराज़ होगये। विद्वन्मण्डल इनसे नाराज़ था ही—क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दि के अनीश्वरवाद के युग में वह आस्तिकता का पुराना सन्देश लेकर उठे थे। उस ज़माने में ईश्वर में विश्वास करना फ़ैशन के विरुद्ध समझा जाता था, और जब विद्वान् एकत्र होते थे तो विकासवाद और सम्बद्धकारी पदार्थ (the missing link) की चर्चा करते थे। ऐसे ज़माने में टॉल्सटॉय ने ईश्वरवाद का मिशन उठाया था। कितने साहस का काम था!

ईसाई धर्म ने जो वर्तमान रूप धारण कर रक्खा है, उसने जो रूप रूस में उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ में धारण कर रक्खा था, उसका एक पहलू उन्हें विशेष रूप से गर्हित प्रतीत हुआ। उस ज़माने में रूस युद्ध में संलग्न था और रूसी धर्म के नाम पर अपने-जैसे मनुष्यों का संहार कर रहे थे। इस सारे व्यापार की ओर से आँखे बन्द किए रहना और यह न देखना कि हत्या करना पाप है, और सारे धर्मों में गर्हित कर्म माना गया है, असम्भव था। और युद्ध में जो हत्याएँ हुईं, सो तो हुईं ही, युद्ध के बाद में देश में जो आन्दोलन हुआ, उसे दबाने के लिए पथ-भ्रष्ट असहाय युवकों की हत्या करना भी

ईसाई महन्तों और पादरियों ने न्याय क़रार दिया। और यह सब-कुछ ईसाई कहलानेवाले व्यक्तियों-द्वारा ही किया जा रहा था। यह सब देखकर मेरा हृदय व्यथा-वेदना से भर गया।

टॉलसटॉय गिर्जे में प्रार्थना करने जाते, तो वहाँ पादरी की प्रार्थना का दो-तिहाई सम्राट् ज़ार और उसके रिश्तेदारों की मङ्गल-कामना से भरा होता। टॉल्सटॉय के मन में स्वतः ही प्रश्न उठता, 'इतने बड़े देश में केवल एक ही व्यक्ति के लिए हम इतनी प्रार्थनाएँ क्यों करते हैं? क्या इसलिए कि वह प्रलोभनों में अधिक आसानी से फँस सकते हैं?' जब वह दीक्षित किए गये, तो उन्हें मदिरा और रोटी के टुकड़े दिए गए और पादरी ने कहा—"इसे पियो और समझो कि मैंने ईसा का रक्त पिया है, इसे खाओ और समझो कि मैंने ईसा का मांस खाया है।" टॉल्सटॉय ने पादरी के आदेशानुसार किया तो सब; पर उस दिन से इस सारे व्यापार से उन्हें ऐसी घृणा उत्पन्न हो गई, जो धीरे-धीरे बढ़ती ही गई और अन्त में वह सनातन ईसाई-धर्म के बिल्कुल विरोधी हो गए। उनकी धर्मपत्नी सनातन ईसाई-धर्म को माननेवाली थीं। उन्हें अपने पति के इस धर्म-परिवर्तन से बड़ी व्यथा हुई। इस आधार पर दोनों में ऐसा मत-भेद हुआ कि वह बढ़ता ही गया। पर टॉल्सटॉय अपनी धुन के पक्के थे। वह जिस चीज़ को अपना कर्त्तव्य समझते थे, उसे करने में अपने प्राण तक लगा देते थे।

जिस ज़माने में वह अपनी अमर-कृति 'My Confession'

लिख रहे थे, उस ज़माने का ज़िक्र करते हुए उनकी पत्नी ने अपनी बहिन को लिखा था कि वह घण्टों चुपचाप बैठे सोचा करते हैं और खाते-पीते तक नहीं थे। ऐसा मालूम होता है, मानो किसी भीषण अन्तर-द्वन्द्व में निमग्न हों। उनके हृदय में एक बार आत्म-ज्ञान उदित हुआ और बस, फिर वह उसी के हो रहे। बड़े-बड़े कलाकारों ने टॉल्सटॉय की सराहना की है। तुर्गनेव रूस का प्रसिद्ध उपन्यासकार हुआ है। इसका ज़िक्र आगे चलकर आएगा। एक अवसर पर उसने टॉल्सटॉय के सम्बन्ध में अपने एक मित्र को लिखते हुए कहा कि 'यह बड़े ही परिताप की बात है कि टॉल्सटॉय-जैसा कलाकार आध्यात्मिकता के चक्कर में फँस गया। अब वह (टॉलसटॉय) शायद कुछ न लिखेंगे। हाँ, अध्यात्मवाद के ऊपर उन्होंने एक ट्रंक भरकर तैयार कर रक्खा है।" यह बात तुर्गनेव के लिए परिताप की होगी, पर टॉल्सटॉय के लिए नहीं थी। वह इसी को मानवीय जीवन का सब से आवश्यक अंग समझते थे। जब तक वह अपनी समस्या को हल न कर सके, व्याकुल रहे। बाद को उन्होंने अपने विचार साहसपूर्वक और सहज ढँग से लेखिनी-द्वारा प्रकट किए। उन्हें बायबिल की टिप्पणियाँ न भाईं और उन्होंने स्वयं उसका उल्था किया। इसके कारण उनकी कड़ी आलोचना हुई, पर वह किसी से डरनेवाले न थे।

टॉल्सटॉय बायबिल में वर्णित चमत्कारों को कपोल-कल्पित मानते थे और उन्हें बायबिल के आदेशों-उपदेशों से

अलग रखना चाहते थे। टॉल्सटॉय ने ईसा के पाँच आदेशों की व्याख्या भिन्न ही प्रकार से की है। ईसा के ये पाँच आदेश मूसा के दस आदेशों की व्याख्या या कहना चाहिए, खण्डन हैं। यदि इन्हें ईसा की शिक्षा के अनुसार अपनाया जाए, तो संसार का रूप ही बदल जाए। मूसा ने कहा है 'तू किसी की हत्या मत कर, नहीं तो परमात्मा के क्रोध का भाजन बनेगा।' ईसा का आदेश है : 'मैं तुम से कहता हूँ कि हत्या करना तो एक ओर, किसी से क्रुद्ध भी मत होओ, नहीं तो ईश्वर के कोप के भाजन बनोगे।" मूसा का आदेश था, "तू व्यभिचार मत कर।" ईसा ने कहा, "मैं तो तुझे यह कहता हूँ कि जो कोई किसी स्त्री की ओर व्यभिचार की दृष्टि से देखेगा, उसने उसके साथ मानसिक व्यभिचार कर लिया।" मूसा ने कहा था : "तू अपनी सौगन्ध मत खा।" ईसा ने कहा : "मैं कहता हूँ, तू सौगन्ध बिल्कुल मत खा,......बल्कि 'हाँ' और 'न' तक ही बात रख।" मूसा का उपदेश था; "ईंट का जवाब ईंट से दे, पत्थर का पत्थर से।" ईसा का उपदेश था : "तू बुराई का प्रतिरोध मत कर, बल्कि जो तेरे दाहिने गाल पर चपत मारे, उसके आगे बाँया गाल भी कर दे। "मूसा का कथन था : "अपने पड़ोसी से प्रेम रख।" ईसा का आदेश था : "अपने शत्रु से भी प्रेम रख।"

टॉल्सटॉय राजभक्ति की शपथ के विरुद्ध थे; क्योंकि उनका कहना था कि ईसा का आदेश है कि "सौगन्ध मत खा।

एक बार किसी राजा, बादशाह, ज़ार या सेनापति की शपथ रखने पर उसके आदेशानुसार मनुष्य को अपने बन्धु की हत्या भी करनी पड़ेगी और इस प्रकार उसे ईसा के एक और आदेश का उल्लङ्घन करना पड़ेगा : "किसी से क्रुद्ध मत हो।" टॉल्सटॉय सरकार की स्थापना को ही अनुचित समझते थे। उन्होंने बायबिल के उस अंश से बड़ा असन्तोष प्रकट किया है, जिसके अनुसार सेंट पॉल ने सरकार की आवश्यकता स्वीकार की है। सेंटपाल ने कहा है, "शक्तियाँ ईश्वर-द्वारा भेजी जाती हैं।" टॉल्सटॉय ने क्रुद्ध होकर जिज्ञासा की है : "किस प्रकार की शक्तियाँ ? पुगाचेव की या महारानी या कैथराइन द्वितीय की ?" पुगाचेव एक विद्रोही था, जिसने रूस में कुछ दिनों तक उत्पात मचा रक्खा था। टॉल्सटॉय का कथन था कि "मनुष्य को केवल ईश्वर-भक्ति की शपथ लेनी चाहिए। राज-भक्ति और ईश्वर-भक्ति साथ-साथ नहीं चल सकतीं। ईसाई धर्म में शारीरिक बल का प्रयोग निषिद्ध है और राज-भक्ति का अर्थ ही राजा के आदेशों को शारीरिक बल-प्रयोग-द्वारा प्रकृत रूप देना है।

महर्षि टॉल्सटॉय की ईश्वर-भक्ति विलक्षण थी। वह ईश्वर की विभावना स्पष्ट रूप में करना चाहते थे। वह उसकी प्रार्थनाओं में अस्पष्ट और निरर्थक शब्दों का प्रयोग न करते थे, वह उसे नित्य और सर्व-व्यापक समझते थे। उन पर हिन्दू-दर्शन और बौद्ध-दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा था, इसीलिए वह भगवान् को प्रत्येक प्राणी-अनुभूत मानते थे और उसकी प्रत्यक्ष

अनुभूति करते थे। उन्होंने बायबिल की जो टिप्पणी की है, उसमें प्राण है और स्पष्टता है। वह अन्य टिप्पणियों की भाँति अस्पष्ट और असम्बद्ध नहीं है। टॉल्सटॉय धर्म को शिक्षित गँवार की सम्पत्ति समझते थे और अपने वर्ग के कुलीन लोगों को धार्मिकता से शून्य समझते थे। उन्होंने धार्मिक पुस्तकों का मनन किया और उनका खण्डन किया। उन्होंने धर्म के वाह्य-रूप को त्याज्य समझा और उन्हें जब कभी अवसर मिला, उन्होंने धार्मिक वाह्याडम्बर की कड़ी आलोचना की। ऐसी थी टॉल्सटॉय की धार्मिक आस्था—गम्भीर, अकृत्रिम, प्राकृतिक, सरल और सहज।

* * *

टॉल्सटॉय की जाति-सेवा

टॉल्सटॉय सचमुच दीन-बन्धु थे। वह कृषक और मज़दूर के साथ प्रकृत सहानुभूति करना चाहते थे। जैसा कि पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है, उनका धर्म, रूसी कृषक का धर्म था—सीधा और सरल। वह अपने वर्ग की कृत्रिमता से ऊब गये थे और किसानों के सरल जीवन को आदर्श जीवन समझते थे। उन्हें दुःख में देखकर उनका कोमल हृदय पिघल उठता था। वह कोरे कलाकार ही न थे, वह बहुत बड़े परोपकारी भी थे। अपने जीवन के अन्तिम युग में तो उन्होंने बिलकुल किसानों की भाँति रहना आरम्भ कर दिया था। उन्हें किसानों और मज़दूरों के जीवन के साथ अपना जीवन मिला देने का कुछ इतना-ऐसा चाव था कि वह स्वयं जूते बनाते, हल चलाते, बाग़ सम्हालते और बर्फ़ तोड़ते। टॉल्सटॉय ने कुछ

ऐसी प्रकृति पाई थी कि जब वह कुछ तथ्य स्थिर कर लेते थे, उसके ऊपर आचरण अवश्य करते थे। उन्होंने एक बार स्थिर कर लिया कि दरिद्र का ईश्वरवाद सहज और बोधगम्य है और कुलीन वर्ग का ईश्वरवाद वाह्याडम्बर और कोरे शब्दों से भरा पड़ा है। बस, वह अपने सारे प्राण के साथ कृषक और मज़दूर के धर्म को अपनाने में लग गए। यद्यपि उस धर्म में भ्रान्त और अशिक्षा-जन्म धारणायें भी मिली हुई थीं।

कृषक और मज़दूर भी—विशेषकर कृषक—उन्हें पहचान गए थे और अपने दुखड़े लेकर उनके पास पहुँचते रहते थे। ये लोग उनसे धन-याचना करते और कभी-कभी टॉल्सटॉय इस द्विविधा में फँस जाते कि उन्हें किस प्रकार टाला जाय; क्योंकि सब की याचनायें पूरी करना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। एक बार उन्होंने अपने एक मित्र से हँसी-हँसी में कहा था—'ईश्वर मुझे ऐसी थैली प्रदान कर देता, जिसमें से मैं निकाल-निकालकर इन लोगों को देता रहता, तो बड़ी बात होती। पर फिर मुझे शायद और किसी काम के लिए समय ही नहीं मिलता।'

१८८२ की फ़रवरी में टॉल्सटॉय की 'हम क्या करें ?' (What then must we do ?) समाप्त हुई। 'हम क्या करें' बायबिल का एक उद्धरण है। ल्यूक के अध्याय में आया है।

"और उसे (ईसा को) भीड़ ने घेर लिया और पूछा—

'हम क्या करें ?' और उसने उत्तर दिया—'जिसके पास दो कोट हैं, उसे एक कोट उसे दे देना चाहिए, जिसके पास एक कोट भी नहीं है; जिसके पास भोजन है, उसे भी ऐसा ही करना चाहिये।'

बस, टॉल्सटॉय की विचार-शक्ति को बाइबिल की इन्हीं पंक्तियों ने सजीव कर दिया। १८८२ में रूस में मर्दुमशुमारी होनेवाली थी। इस अवसर पर टॉल्सटॉय ने उन २०० विद्यार्थियों के नाम एक अपील निकाली, जो मर्दुमशुमारी में भाग लेनेवाले थे। टॉल्सटॉय ने इन्हें सलाह दी कि इस स्वर्ण-संयोग पर उन्हें मॉस्को की दरिद्र जनता का परिचय प्राप्त करना चाहिए। १८८१ में वह मॉस्को गए थे और वहाँ उन्होंने दरिद्र जनता की जो अवस्था देखी थी, उससे उनका कलेजा पिघल गया था। 'हम क्या करें' के कुछ अध्याय ऐसी ही भावावेशपूर्ण अवस्था में लिखे गए हैं। इसलिए उनमें बताए गए दरिद्रता दूर करने के उपाय अव्यवहार्य्य भी हैं। पर उन्होंने एक बड़े मार्के की बात कही है—

'चाहे थोड़ी-सी ही सफलता हो, वही महत्वपूर्ण है। पर हमें यह आशा क्यों न करनी चाहिए कि हमें पूर्ण सफलता होगी ? हमें यह आशा क्यों नहीं करनी चाहिए कि मॉस्को में एक भ नंगा या भूखा या कुछ पैसों पर अपने-आपको बेचनेवाला नहीं रहेगा, न ऐसा ही भाग्यहीन पुरुष रहेगा, जो यह न जानता हो कि उसे सहायता की याचना कहाँ करनी चाहिए। आश्चर्य की

बात यह नहीं है कि अभी तक यह सब कुछ क्यों नहीं किया गया, बल्कि यह है कि अपव्यय और आलस्य के साथ ही इन चीज़ों का भी अस्तित्व बना रहा और हम इन्हें जानते रहे !'

टॉल्सटॉय ने १८८१ में मॉस्को-यात्रा की। अब तक वे एक प्रकार से देहात ही में रहते रहे। उन्होंने मॉस्को में ऐसी घोर दरिद्रता के दर्शन किए, तो दङ्ग रह गए। बाद को वह मज़दूरों में रोज़ जाने लगे। उन्होंने लकड़हारों के साथ लकड़ी काटना भी आरम्भ कर दिया। एक बार वह गृह-हीन दरिद्रों की विश्रामशाला देखने गए। लिखते हैं—

"मैं ऊपर गया। वहाँ आदमी लेट रहे थे। इनमें से एक ऐसा शख्स था, जिसे मैं कुछ आर्थिक सहायता दे चुका था। उसे देखकर मैं बड़ा लज्जित हुआ और वहाँ से झटपट चला आया। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो मैंने कोई अपराध किया है। मैं अपने घर आया, जहाँ सीढ़ियों पर क़ालीन बिछा हुआ था, और हॉल में बढ़िया ग़लीचा बिछा हुआ था। यहाँ मैं पाँच प्रकार का भोजन करने बैठा, जिसे सफ़ेद टाई और सफ़ेद दस्ताने पहने दो नौकर परोस रहे थे।

"अब से तीस साल पहले मैंने पेरिस में हज़ारों आदमियों की भीड़ में से देखा था कि आदमी का सिर गिलोटीन-द्वारा किस प्रकार काटा जाता है। मैं जानता था कि वह आदमी छटा हुआ हत्यारा है और उसे इस प्रकार का दण्ड देने के पक्ष में जो तर्क पेश किए जा सकते थे, उनसे भी मैं

अनभिज्ञ नहीं था। पर जिस समय उसका सिर कटकर बॉक्स में गिरा, मैं मुँह बाकर रह गया और मेरे हृदय या मस्तिष्क को ही नहीं, बल्कि सारे शरीर को अनुभूति होने लगी कि प्राण-दण्ड के पक्ष में पेश किये जानेवाले सारे तर्क निरर्थक हैं और दुष्टता-पूर्ण हैं। हत्या करने के लिए चाहे कितने ही आदमी एकत्र हों, हत्या हत्या है। मुझे अनुभूति हुई कि यह हत्या का पाप स्वयं मेरे आगे किया गया है, और इसमें हस्तक्षेप न करने के कारण इस पाप का भागी मैं भी बना। इसी प्रकार इन भूखे, ठिठुरते हुए, पतित लोगों को देखकर मेरे मस्तिष्क या हृदय को ही नहीं, बल्कि सारे शरीर को अनुभूति होने लगी कि जहाँ मॉस्को में इस प्रकार के लाखों आदमी मौजूद हैं, वहाँ मैं और अन्य हज़ारों आदमी बढ़िया खाने खाकर और अपने घोड़ों और घरों को बढ़िया कपड़ों से ढककर लगातार वही पाप कर रहे हैं। मुझे भास हुआ कि जब तक मेरे पास फ़ालतू खाना रहेगा और कोई अन्य व्यक्ति भूखा रहेगा, और मेरे पास दो कोट रहेंगे और किसी अन्य व्यक्ति के पास एक कोट न होगा, तब तक मैं इसी प्रकार का पाप करता रहूँगा।'

टॉल्सटॉय ने अपनी इस विचार-धारा में अपने एक मित्र को भी शरीक किया। विश्राम-गृह की दरिद्रता से टॉल्सटॉय इस बुरी तरह प्रभावित हो गए थे कि उन्होंने अपने संस्कार अत्यन्त और शायद अनावश्यक, ओजस्वी शब्दों में व्यक्त किए। उनके मित्र ने कहा कि मॉस्को में इस प्रकार की विषमता

साधारण-सी बात है। टॉल्सटॉय इस पर चिढ़ गए और इतने जोश के साथ चिल्ला उठे कि पास के कमरे से उनकी पत्नी निकल आईं। उन्होंने देखा, टॉल्सटॉय आँखों में आँसू-भरे भावावेश के साथ चीख रहे हैं। इस प्रकार रहना असम्भव है! असम्भव है! सौ बार असम्भव है! इसके बाद से उन्हें नागरिक-जीवन से घृणा हो गई। अब जब कभी कहीं धन और समृद्धि का प्रदर्शन देखते, बढ़िया खानों से लदी हुई मेज़ों के आगे बैठने बुलाए जाते, या ठाट-बाट के ड्राइङ्ग-रूम में आमन्त्रित किए जाते, उनका हृदय आनन्दित होने के स्थान पर वेदना से विकल हो जाता।

इसके बाद ही १८८२ में मर्दुमशुमारी आरम्भ हुई। टॉल्सटॉय ने भी यह काम अपने हाथ में लिया। उनका ख्याल था कि इस अवसर पर वह दरिद्रों की कुछ सेवा कर सकेंगे; आलसी आदमियों को काम करने की शिक्षा देंगे, और वेश्याओं को अपना घृणित जीवन छोड़ने की सलाह देंगे। पर अनुभव से उन्हें पता चला कि लोग-बाग अपना रहन-सहन इतनी आसानी से छोड़ने को तैयार नहीं हैं। उन्होंने अपने इस दौरे का वृत्तान्त सुनाते हुए, एक वेश्या का उल्लेख किया। टॉल्सटॉय उसके पास पहुँचे, बोले :

'तुम कौन हो?"

स्त्री ने कहा—"लुगाई।"

पर जिस घर में वह रहती थी, उसकी मालिकिन ने

बताया कि वह वेश्या है। वह एक बच्चे को खिला रही थी।

टॉल्सटॉय ने पूछा, "यह बच्चा तुम्हारा है न?"

"नहीं, यह इस लुगाई का है।"

"तो फिर तुम इसे क्यों खिला रही हो?"

"क्योंकि यह बीमार है और बच्चा रो रहा है।"

टॉल्सटॉय ने उससे पूछा—"तुमने यह पेशा क्यों अख्तियार किया?"

उस स्त्री ने अपनी कहानी सुनाई। उसका बाप मज़दूर था। वह उसे बचपन ही में छोड़कर मर गया। उसकी चाची थी और वह, बस। वह शराबखानों में जाने लगी, वहीं उसका पतन हो गया। टॉल्सटॉय ने पूछा कि यदि उसे कुछ काम दिलवा दिया जाय, तो क्या वह इस पेशे को छोड़ने को तैयार हो जाएगी? स्त्री हँस पड़ी, बोली—"मैं क़सबिन ठहरी, मुझे भला कौन काम देगा?"

टॉल्सटॉय ने पूछा—"और यदि हमने तुम्हें कहीं रसोई करने के काम पर लगवा दिया, तो?"

स्त्री को यह काम न रुचा। उसने कहा—"रसोई करने का काम! मगर मैं रोटी तक तो पका ही नहीं सकती!"

टॉल्सटॉय को अब अपनी भूल मालूम हुई। स्त्री यद्यपि अपनी पड़ोसिन के बच्चे को खिला रही थी, पर कोई मज़दूरी करके जीवन-निर्वाह करना उसे न रुचा। मज़दूरी करना वह बुरा समझती थी; उसमें इस प्रकार का दृष्टि-कोण स्वयं कुलीन

कहलानेवाले व्यक्तियों ने ही उत्पन्न किया था। वह भ्रष्ट जीवन बिताने की अभ्यस्त हो गई थी। उसका रोग असाध्य था। इन लोगों के जीवन में किसी प्रकार का फेर-फार करना बड़ा ही कठिन कार्य है। इसके लिए यह आवश्यक है कि स्वयं सुधारक का जीवन बड़ा उच्च हो, वह जो कहे, करके दिखा सके, अन्यथा 'पर-उपदेश कुशल बहुतेरे।'

इसके बाद टॉल्सटॉय को एक विद्यार्थी ने ऐसी स्त्री का पता बताया, जो अपनी १३ वर्ष की लड़की से वेश्या-वृत्ति करवाती थी। टॉल्सटॉय को यद्यपि इतना बुरा अनुभव हो चुका था, फिर भी वह उस लड़की का उद्धार करने के लिए उसके घर गए। उसकी माँ की उम्र लगभग चालीस वर्ष की होगी। वह अपनी लड़की के साथ अत्यन्त दरिद्रता के साथ जीवन व्यतीत कर रही थी। उसने टॉल्सटॉय के प्रश्नों का उत्तर बड़ी शुष्कता के साथ दिया। लड़की ने स्वयं कोई उत्तर न दिया। वह अपनी माँ में पूरी आस्था रखती थी और माँ टॉल्सटॉय को अपना शत्रु समझ रही थी। टॉल्सटॉय लिखते हैं—

"इन्हें देखकर मेरे हृदय में करुणा तो उत्पन्न न हुई, उल्टे एक प्रकार की घृणा उत्पन्न हो गई। फिर भी मैंने इस लड़की का उद्धार करना आवश्यक समझा और निश्चय किया कि मैं यहाँ कुछ ऐसी महिलाओं को भेजूँगा, जो इस प्रकार की स्त्रियों की पतितावस्था से सहानुभूति रखती हों। पर यदि मैं इस स्त्री के अतीत पर कुछ ध्यानपूर्वक विचार करता, यदि मैं सोचता

कि इस स्त्री ने इस बालिका को किस प्रकार बिना किसी की सहानुभूति प्राप्त किए जन्म दिया, पाला-पोसा और बड़ा किया। यदि मैं इस बात पर विचार करता कि इस स्त्री का हम लोगों के सम्बन्ध में एक विचित्र प्रकार का ही दृष्टि-कोण है,—तो मेरी समझ में आ जाता कि उसके कार्य में कोई गर्हित बात नहीं है, वह वही कर रही है, जो अपनी लड़की के लिए सब से उत्तम समझती है। इस बालिका को माँ से कोई भी छीन ले, पर फिर भी माँ को यह विश्वास दिलाना असम्भव है कि कन्या की लाज को 'बेचना बुरा काम है। यदि लड़की का उद्धार करना था, तो इससे बहुत पहले माँ का उद्धार करना आवश्यक था, जिससे वह ऐसा दृष्टि-कोण न अपना सके, जिसके अनुसार स्त्री का काम बिना कुछ करे-धरे, बिना सन्तान उत्पन्न किए केवल पुरुष की वासना शान्त करने की सामग्री बने रहना-मात्र है। यदि मैं भली प्रकार सोचता, तो मेरी समझ में आ जाता कि जिन महिलाओं को मैं यहाँ भेजना चाहता था, उनमें से अधिकांश बिना सन्तान उत्पन्न किए केवल पुरुषों की वासना शान्त करती रहती हैं, और अपनी कन्याओं को भी जान-बूझकर ऐसी ही शिक्षा देती हैं। यदि एक स्त्री अपनी कन्या को शराबघरों में लेजाती है तो दूसरी अपनी कन्या को राजदरबार या सभा-सोसायटियों में ले जाती है; पर दोनों का एकही-जैसा दृष्टिकोण होता है, कि स्त्री को पुरुष की वासना शान्त करनी चाहिए, और इसके लिए उसे खाना

पीना और बनाव-शृङ्गार करना चाहिए। फिर हमारी महिलायें इस स्त्री या इस लड़की का उद्धार कैसे कर सकती हैं ?... मुझे उस समय यह दिखाई न दिया कि इन स्त्रियों को भोजन की नहीं—बदहज़मी की दवा की ज़रूरत है।...

"मेरी समझ में आजाना चाहिए था कि इन वेश्याओं के पर्दों के पीछे से झाँकते हुए चेहरे अपने प्रति सहानुभूति प्रदर्शित होते देखकर केवल आश्चर्य प्रकट कर रहे थे, अपनी अनैतिकता की व्याधि के दूर होने की उन्हें तनिक भी आशा नहीं थी। वेश्याएँ जानती हैं कि उन्हें घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, पर वे इसका कारण नहीं समझ पातीं। वे बचपन से ही इस प्रकार की स्त्रियों में रहती आई हैं, जो हमेशा से मौजूद रही हैं और जिनकी समाज को आवश्यकता है; इतनी आवश्यकता कि सरकार की ओर से कर्मचारी उनकी देख-रेख के लिये नियत किए जाते हैं। वे यह भी जानती हैं कि पुरुष-समाज पर जितना प्रभाव उनका है, उतना अन्य स्त्रियों का नहीं है।..."

"मैंने लेख लिखकर धनिकों से सहायता की प्रार्थना की। वे मेरे साथ सहमत तो हुये, पर उन्होंने मुझे या तो सहायता देनी चाही नहीं या वे सहायता दे नहीं सकते थे। मैं दरिद्रों की झोपड़ियों में गया और वह देखा जो मुझे देखने की आशा नहीं थी। इनमें से कुछ लोग मज़दूर थे, जिन्हें सहायता देने का प्रश्न ही नहीं उठता था; क्योंकि वे काम करने और कष्ट सहने के

अभ्यस्त थे...। कुछ लोग ऐसे अभागे थे; जिन्हें सहायता देना मेरे बूते के बाहर की बात थी।...अधिकांश अभागे ऐसे थे, जिनकी काम करने की शक्ति या तो लुप्त होगई थी, या जिन्हें काम करने की इच्छा या अभ्यास नहीं रहता था; अर्थात् ऐसे लोग मुझ जैसे होगये थे।"

× × ×

"दरिद्रों का कष्ट दूर करने में सब से बड़ी रुकावट उनका असत्य-भाषण था। आरम्भ में मैं इसका दोष उन्हीं पर रखता था, दूसरों को दोष देना बड़ा आसान काम है, पर सुटेव नाम के एक योग्य आदमी की थोड़ी-सी बात-चीत ने ही मुझे बता दिया कि मेरी असफलता का कारण क्या है।"

उसने कहा—"यह सब व्यर्थ की बात है।"

"क्यों?"

उसने दृढ़ विश्वास से कहा: "आप सारे समाज को ही सुखी बनाना चाहते हैं, यह व्यर्थ सिद्ध होगा।"

"क्यों? सैकड़ों-हज़ारों आदमियों की सहायता करना व्यर्थ सिद्ध क्यों होगा। हमारे तो धर्म-ग्रन्थ ही ऐसा आदेश देते हैं फिर नङ्गे को कपड़े देना और भूखे को अन्न देना क्या बुरी बात है?"

"यह मैं जानता हूँ। पर आप जो-कुछ कर रहे हैं, सो ठीक नहीं है। क्या इसी तरह सहायता की जाती है? आप सैर करने निकलते हैं, और एक आदमी आपसे चार आने के पैसे माँगता

है। आप देदेते हैं। क्या आप इसी को दान कहते हैं? उसे आत्मिक दान दीजिये—उसे शिक्षा दीजिए! मगर आप क्या करते हैं? आप उससे किसी प्रकार पीछा छुड़ा लेते हैं, और बस!"

"नहीं, नहीं, हम लोग उनकी आवश्यकताओं का पता लगाना और धन और रोज़गार देकर उनकी सहायता करना चाहते हैं।"

"इन लोगों के साथ इस तरह आप कुछ न कर सकेंगे।"

"क्या मतलब? क्या हम उन्हें ठिठुरकर भूखे मरने दें?"

"वे मरें क्यों? वे कोई इतने बहुत-से थोड़े ही हैं?"

"इतने बहुत-से!' मैंने कहा और मन-ही-मन सोचा कि इसे उनकी ठीक संख्या मालूम नहीं है कि वे कितने अधिक हैं। 'आपको यह मालूम है कि अकेले मॉस्को में लगभग २० हज़ार नङ्गे और भूखे मौजूद हैं? और पीटर्सबर्ग और अन्य नगरों की बात...।'

वह मुस्कराया। बोला: "बीस हज़ार! और रूस में घर कितने होंगे? दस लाख?" 'तो, इससे क्या?'

"इससे क्या? आइये, हम लोग उन्हें आपस में बाँट लें। मैं मालदार नहीं हूँ, मगर दो को अभी लेने को तय्यार हूँ। आपके बावर्चीखाने में जो लड़का है, उससे मैंने अपने साथ आने को कहा, पर वह तय्यार ही नहीं होता। यदि आपकी बताई हुई संख्या से बीस गुना भी अधिक हों, तो भी उन सब को

जगह मिल जायेगी। एक आप रखिये, एक मैं रक्खूँ। हम दोनों काम में लग जाएँ। वह मुझे काम करते देखेगा और सीखेगा। हम बैठकर बात करेंगे, वह एक बात आपकी सुनेगा, एक मेरी सुनेगा। बस, असली दान यही है। आपकी योजना बिल्कुल बेकार है।"

"यह सीधी-सादी बात मेरी समझ में आगई। बात ठीक है। जब मैं बढ़िया बालोंदार कोट पहनकर अपनी गाड़ी में निकलता हूँ और कोई नङ्गे-पैर-आदमी मेरा बढ़िया घर देखता है, या यह देखता है कि मैं बिना कुछ सोच-विचार किये पाँच रुपये दे डालता हूँ, तो वह समझ जाता है कि जब मैं रुपये इस तरह फेंक सकता हूँ तो मेरे पास इस तरह के बहुत-से रुपये मौजूद होंगे, जिन्हें मैंने अभी तक दिया नहीं है; बल्कि आसानी से दूसरों से छीन लिया है। वह मुझे यही समझेगा 'कि मैंने उसका माल हथिया लिया है। उसके हृदय में यही भाव उठेंगे, कि मैंने उससे और अन्य लोगों से जो रुपये लेकर एकत्र कर रक्खे हैं उन में से वह जितने ले सके, उतना ही अच्छा है। मैं उसके साथ मेल-जोल करना और उसे यह बताना चाहता हूँ कि वह सत्य भाषण नहीं करता, मगर मैं उसके बिछौने पर बैठने से डरता हूँ; क्योंकि मुझे डर है कि कहीं मेरे जूँ न चढ़ जाय या कोई रोग न लग जाय। मैं उसे अपने कमरे में नहीं घुसने देता। जब वह भूखा मरता मुझसे मिलने आता है, तो मैं उससे अपने हॉल में या बाहर पोर्च में प्रतीक्षा कराता हूँ। और इतने पर भी मैं कहता

हूँ कि मैं उससे मेल-जोल नहीं बढ़ा सकता, या वह स्पष्टवादिता से काम नहीं लेता।'

इस प्रकार टॉल्सटॉय अपने मिशन में हार मानकर अपने घर वापस चले आये। उनका दानशीलता का काम कुछ दिनों के लिए रुक गया, पर उन्होंने इस दौरे में जो-कुछ देखा उससे उनकी विचार-धारा पर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा।

१८६१ में यसनाया प्रान्त में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। टॉल्सटॉय आरम्भ में इस दुर्भिक्ष की ओर से उदासीन-से थे। उनका एक मित्र उनसे भेंट करने आया तो बोले, वहाँ (यसनाया प्रान्त में) हमेशा अन्न-कष्ट रहता है, पर घोड़े के प्राण बचाने का सब से अच्छा उपाय यही है कि उसकी पीठ पर से उतर पड़ो। (अर्थात् किसान के ऊपर टैक्स-आदि मत लगाओ)। उनका मित्र रेवक्री चाहता था कि स्वयं टॉल्सटॉय दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रान्त में जाकर अपनी आँखों देखें। उसे विश्वास था कि एक बार कष्ट-पीड़ित किसानों को देखने के बाद फिर टॉल्सटॉय अनायास ही उसके साथ हो लेंगे। बहुत कहने-सुनने के बाद टॉल्सटॉय दो दिन के लिए यसनाया प्रान्त गये। वहाँ उन्होंने जो देखा, उससे उनका हृदय बिल्कुल पिघल गया और वह वहाँ दो दिन के बजाय दो वर्ष रहे। इस ज़माने में उन्होंने, वृद्ध होने पर भी अपनी सारी शक्ति दरिद्रनारायण का कष्ट दूर करने में लगा दी।

टॉल्सटॉय के दोनों बड़े लड़के टूला प्रान्त के चर्न-नामक ज़िले में लगे हुए थे। उनकी दोनों लड़कियाँ अपने पिता के

साथ वेगीचेत्का में संलग्न थीं। एक लड़की यही काम करते-करते बीमार पड़ गई, पर अच्छी होते ही फिर आगई। काउण्टेस अपने छोटे बच्चों के साथ मॉस्को में रहीं और देश-विदेश से चन्दा उसके पास पहुँचता रहा। भूखे-नङ्गों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करतीं। दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रान्त में कई रोग भी फूट निकलते थे। रोगियों के लिए दवा और पथ्य का बड़ा सुन्दर प्रबन्ध किया गया। सैकड़ों मर्द और औरतें इन रोगियों की सेवा करने के लिए एकत्र होगये। रूस-सरकार दुर्भिक्ष की बात को कपोल-कल्पित समझती थी और उस सम्बन्ध में किसी प्रकार की खबर समाचार-पत्रों में नहीं निकल पाती थी। पर टॉल्सटॉय सरकार से डरनेवाले न थे। उन्होंने दुर्भिक्ष पर ख़ूब लेख लिखे और उनसे प्राप्त हुआ धन भी उन्होंने अन्न-कष्ट दूर करने में लगाया। उन्होंने स्थान-स्थान पर अन्न-क्षेत्र खुलवाये। चार ही सप्ताह के भीतर अनायास ही बीस गाँवों में तीस अन्न-क्षेत्र खुल गये, जिनमें लगभग १५०० आदमियों को भोजन मिलता था। सारे प्रान्त में काउण्ट टॉल्सटॉय का जय-जयकार होने लगा। लोग हज़ारों की तादाद में उनके डेरे को घेर लेते और चिल्ला-चिल्लाकर कहते—"भगवान् काउण्ट टॉल्सटॉय का भला करे। वह हमारी सहायता न करते तो न-जाने हमारी क्या दशा होती!" ग्रेले-हॉजिट्स नामक एक अंग्रेज़ ने अपनी एक पुस्तक में दुर्भिक्ष और टॉल्सटॉय के कार्य्य-कलाप का बड़ा सजीव वर्णन् किया है।

इधर टॉल्सटॉय दुर्भिक्ष-पीड़ित कृषकों के प्राण बचा रहे

थे, उधर उनके विरुद्ध दक़ियानूसी ईसाई-समाज प्रचार कर रहा था। टॉल्सटॉय ने अपनी खरी आलोचना और बायबिल की नयी व्याख्या के द्वारा रूसी-धर्म-समाज को क्रुद्ध कर दिया था और पादरी लोग उन्हें ईसा-शत्रु के नाम से पुकारते थे। जब इन लोगों ने टॉल्सटॉय को दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों में जाते देखा, तो उन्होंने आवाज़ उठाई। उनके प्रचार के कारण कृषकों की धारणा होगई कि कोई आदमी उन्हें धर्म-भ्रष्ट करने को आरहा है। पर जब टॉल्सटॉय ने उनके प्राण बचाये तो कहीं उन्हें टॉल्सटॉय के वास्तविक स्वरूप के दर्शन हुए। टॉल्सटॉय को सरकार की ओर से कोई सहायता न मिली, उल्टे उनके मार्ग में रोड़े अटकाये गये। उनकी बुरी-भली आलोचना की गई। पर वह इन सारी बातों से ऊपर थे। धीरे-धीरे उनके निरीक्षण में २४६ अन्न-क्षेत्र खुल गये, जिनमें लगभग १५ हज़ार आदमियों को दोनों वेला भर-पेट भोजन मिलता था। इन लोगों का पेट भरना ही काफ़ी न था। उन्हें आगे के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बना देना भी आवश्यक था। इस मामले में भी टॉल्सटॉय को सरकार से कोई सहायता न मिली। उन्होंने चन्दे इकट्ठे करके किसानों को बीज और अन्न-पदार्थ स्वयं प्रदान किया। फिर भी वह सन्तुष्ट न थे।

प्रत्यक्ष अनुभव करने और बहुत-कुछ विचार करने के बाद टॉल्सटॉय इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि कष्ट-पीड़ितों को आर्थिक सहायता देना ही काफ़ी नहीं है। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं—

"पहले मेरी धारणा थी कि इतना ही काफ़ी है।...पर ज़रा शहर के दरिद्रों को तो रुपया बाँटिये। बाँटकर देखा गया, और उसका फल क्या निकला?...अब से कोई सात वर्ष पहले मॉस्को का एक सौदागर ग़रीबों में बाँटने के लिए ६ हज़ार रूबल छोड़ मरा था। उसकी इच्छानुसार प्रत्येक ग़रीब को दो रूबल मिलने चाहिये थे। हुआ यह कि इतनी बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई कि दो आदमी कुचलकर मर गये और अधिकांश धन मोटे-ताज़े आदमियों के हाथों में पड़ा और कमज़ोर खाली हाथ चले आये। मुफ़्त का माल मिलते देखकर जन-समुदाय की कुत्सित मनोवृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं, लोभी आदमी आकर एकत्र हो जाते हैं, और फुर्तीले और दुष्ट प्रकृति के लोगों के हाथों में सब-कुछ जा पड़ता है।...सरकार यह जानने की चेष्टा में है कि वास्तव में किसे सहायता की आवश्यकता है। पर सारे किसान सहायता लेने के लिए आकर इकट्ठे हो जाते हैं, और इस तरह उनकी आत्म-निर्भरता की भावना दुर्बल हो जाती है।"

दुर्भिक्ष समाप्त होते-होते टॉल्सटॉय का धैर्य भी समाप्त हो चला था। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

"कड़कड़ाते जाड़े के दिनों में ज़रा कोई शहरी आदमी यहाँ आकर इन गाँववालों का रहन-सहन देखे, तो सहमकर रह जाय। हम लोग यह कष्ट-पारावार देखते-देखते ऊब गये हैं और अब हमें कुछ दिखाई नहीं पड़ता है।...नित्य नये किसानों

का जमघट इकट्ठा होजाता है। कुछ दरवाज़े पर खड़े हैं—कुछ खिड़की के नीचे मौजूद हैं। बाक़ी सड़क में हैं। सब के मुँह में एक ही कथा है : 'हमने दो दिन से कुछ नहीं खाया है। हमने अपनी सारी भेड़ें बेच डाली हैं। हम क्या करें ? क्या मर जायँ ?' अब तो ये लोग हमें दुश्मन दिखाई देने लगे हैं।"

एक दिन टॉल्सटॉय तड़के ही घूमने को निकल जाना चाहते थे। रास्ते में उन्हें एक कृषकाय चीथड़े लादे किसान और एक चौदह वर्ष के लड़के ने घेर लिया और अपनी कष्ट-कथा सुनानी आरम्भ की। टॉल्सटॉय ने लापरवाही से कहा—'अच्छी बात है ! हम लोग आकर देखेंगे !' और आगे बढ़ने की चेष्टा की, पर इसी समय उनकी दृष्टि उस लड़के पर पड़ी।

"लड़का मेरी ओर अपने करुणोत्पादक भूरे नेत्रों से देख रहा था, जिनमें आँसू और आशा भरे हुए थे। इसी समय उसके नेत्रों से एक उज्ज्वल अश्रु-बिन्दु ढलककर बर्फ़ से ढके मार्ग पर गिर पड़ा। लड़के का निरीह मुख-मण्डल सुबकियों के मारे उमँड़ रहा था। मेरे लिए उसके पिता के शब्द साधारण और नगण्य थे, पर उसके लिए···!··· मेरे लिए यह सारा जाना-बूझा व्यापार था, पर उसके लिए भयावह रूप से नया था। इन लोगों ने हमें भ्रान्त कर दिया है। पर तोभी ये लोग भी जीना और सुख से दिन काटना चाहते हैं···।"

टॉल्सटॉय की सन्तान में अपने पिता की शिक्षा ने किस

प्रकार घर कर लिया था; उसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। दुर्भिक्ष के ज़माने में स्टेडलिंग-नामक एक अँग्रेज़-लेखक ने उस प्रान्त का दौरा किया। यहाँ वह टॉल्सटॉय की लड़की मेरी के साथ सवार होकर वह एक गाँव में गया, जहाँ एक अन्न-क्षेत्र मौजूद था, और एक नया अन्न-क्षेत्र बच्चों के लिए खोला जानेवाला था। इस लेखक ने गाँववालों की दुरवस्था देखी, तो दंग रह गया। वहाँ अन्न और वस्त्र का अभाव था और रोग प्रचुर मात्रा में मौजूद था। उसने एक झोंपड़ी में देखा कि किसान, उसकी स्त्री, चार बच्चे, किसान का पिता, गाय-बछड़ा और तीन भेड़ें—सब एक ही जगह मौजूद हैं। उसे अनेक झोंपड़ियों में भयङ्कर रोगों के दर्शन हुए। उस गाँव से वापस आते समय टॉल्सटॉय की लड़की के साथ अँग्रेज़-लेखक की निम्न-लिखित बात-चीत हुई—

लड़की ने पूछा—"आपने गाँव को देखकर क्या राय स्थिर की ?"

लेखक ने कहा—"बड़ी भयङ्कर अवस्था है। आपको छूत का भय नहीं है ?"

वह बोली—"भय ! भयभीत होना पाप है। आपको भय लग रहा है क्या ?"

"नहीं, दरिद्रों के पास जाते समय मुझे छूत का भय नहीं लगता। इनकी ऐसी दुरवस्था देखी नहीं जाती।"

"देखिये न, जहाँ ये लोग इन कष्टों में पड़कर जान गँवा

रहे हैं, वहाँ हमारा इस तरह सुख-चैन से दिन बिताना लज्जा-जनक है या नहीं?"

"मगर आप लोगों ने तो अपने पद और समाज के सारे सुख-चैन को तिलाञ्जलि देकर दुखियों का दुख दूर करने का व्रत लिया है।"

"यह ठीक है। मगर हमारे गर्म कपड़ों की ओर देखिये, जो हमारे कष्ट-पीड़ित भाई-बहिनों को स्वप्न में भी नसीब नहीं हैं!"

"यदि हम लोग भी चीथड़े लाद लें और स्वयं भी फ़ाक़े करने लगें तो इससे उन्हें क्या लाभ होगा?"

'हमें उनसे अच्छी अवस्था में रहने का क्या अधिकार है?'

अंग्रेज़ लेखक निरुत्तर होगया। उसने लड़की की ओर देखा। उसके नेत्रों में आँसू छलछला रहे थे। लेखक का हृदय भी द्रवीभूत होगया।

एक दिन टॉल्सटॉय आवश्यकता से अधिक पुलकित थे। इसका कारण भी शीघ्र ही प्रकट होगया। टॉल्सटॉय एक गाँव में बच्चों के लिये अन्न-क्षेत्र खोलने में समर्थ हुये थे। इसके लिये उन्हें बहुत दिनों तक संघर्ष करना पड़ा था। इस प्रस्ताव पर अव्वल तो गाँववाले ही राज़ी न होते थे। वे कहते थे कि बच्चों का खाना उनके घर ही भिजवा दिया जाय। पर टॉल्सटॉय जानते थे कि यदि ऐसा किया गया तो बच्चों के पल्ले कुछ न पड़ेगा। जब गाँववाले इस प्रस्ताव पर राज़ी होगये तो टॉल्सटॉय को अपने विरुद्ध किये गये प्रचार का मुक़ाबला करना पड़ा।

सारे देश में टॉल्सटॉय के विरुद्ध प्रचण्ड अग्नि धधका दी गई थी। एक बिशप ने तो क्रोकोटकी-नामक स्टेशन के प्लेटफ़ॉर्म पर रविवार को यह उपदेश दिया कि 'टॉल्सटॉय ईसा-शत्रु है, और लोगों को धर्मच्युत करने आया है। उसने यह भी कहा कि रूस का ईसाई-समाज और गिर्जा इस ईसा-शत्रु का विनाश करके रहेगा।'

कृषकों में भ्रान्त धारणा फैली, पर जैसा कि कहा जा चुका है, उन्होंने शीघ्र ही टॉल्सटॉय के वास्तविक रूप के दर्शन किए। जब पादरियों ने इस प्रकार अपना उद्देश्य सिद्ध होते न देखा तो सरकारी अफ़सरों को भड़काना शुरू किया। इसी समय टॉल्सटॉय ने एक रूसी पत्र को एक लेख दिया जिसमें दुर्भिक्ष-सम्बन्धी सारे वृत्त थे। इस अवसर पर लण्डन के 'डेली टेली-ग्राफ़' के सम्वाददाता डा० डिलन ने उनसे भेंट की और दुर्भिक्ष-सम्बन्धी कुछ समाचार चाहे। टॉल्सटॉय ने डा० डिलन को रूसी-पत्र के सम्पादक के पास भेज दिया। वहाँ इस सम्वाददाता ने उस लेख का अनुवाद करके लण्डन भेज दिया। फल यह हुआ कि रूसी पत्र में तो लेख बहुत परिवर्तन-परिवर्धन के बाद छपा, पर 'डेली टेली-ग्राफ़' में दुर्भिक्ष-सम्बन्धी पूरी ख़बर छप गई। सरकार यह न चाहती थी; क्योंकि इससे उसकी अन्य देशों में बदनामी होती थी। बस, पादरियों और राज-भक्तों को मौक़ा मिला। उस समय सारे रूस में टॉल्सटॉय की गिरफ़्तारी की ख़बर फैल गई। और टॉल्सटॉय

गिरफ़्तार कर भी लिये जाते, पर सौभाग्य से ज़ार के दरबार में उनकी एक मौसी थी। जब उसे यह खबर मालूम हुई तो वह गृह-सचिव के पास पहुँची। गृह-सचिव ने अपनी बेबसी ज़ाहिर की। बोला—'कुछ समझ में नहीं आता, क्या करना चाहिए। ज़रा लियो टॉल्सटॉय के विरुद्ध लगाये गये इन अभियोगों को तो देखिये। पहले अभियोग को तो मैंने किसी प्रकार छिपा भी दिया, पर इस तरह मैं सम्राट् से कब तक छिपाता रहूँगा?'

उक्त महिला वहाँ से तो चली आई, पर उसने प्राण रहते अपने भांजे की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझा। वह लिखती है :

'मैंने सम्राट् को लिखा कि मैं आपके दर्शन करना चाहती हूँ, समय नियत करिये, मैं आ जाऊँ।' मुझे ज़ार का पत्र मिला कि वह ख़ुद ही मुझसे मिलने आयँगे। पत्र पाकर मेरी बाँछें खिल गईं। मैं ज़ार की प्रतीक्षा बड़ी उद्विग्नता के साथ कर रही थी और चुपचाप ईश्वर से सहायता की प्रार्थना कर रही थी। अन्त में सम्राट् ने प्रवेश किया। मैंने देखते ही ताड़ लिया कि वह किसी कारणवश भ्रान्त और व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। जब उन्होंने पूछा कि क्या बात है, तो मैंने सीधा उत्तर दिया :

'दो-एक दिन में आपसे रूस के परम-प्रसिद्ध और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को नज़रबन्द करने के सम्बन्ध में रिपोर्ट की जायगी।'

'सम्राट् का चेहरा तत्काल कठोर होगया और उन्होंने विषादपूर्ण स्वर में पूछा—'टॉल्सटॉय ?'

मैंने उत्तर दिया—'हाँ, श्रीमन्, आपका अनुमान ठीक है।'

सम्राट् ने पूछा—'तो वह मेरे प्राणों की घात में है ?'

मैं चकित रह गई, पर साथ ही मुझे ढाढस मिला। मैंने जान लिया कि सम्राट् मन्त्री के निश्चय की पुष्टि केवल ऐसी अवस्था में ही करेंगे। मैंने सम्राट् के मन्त्री से सुनी सारी बात कह सुनाई। यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि सम्राट् के मुख-मण्डल ने एक बार फिर वैसी ही सस्मित मुद्रा धारण कर ली……।

दो दिन बाद मुझे पता चला कि जनता में सनसनी फैलने के सम्बन्ध में अपने मन्त्री की रिपोर्ट सुनकर सम्राट् ने कहा—"मेरा तुम से अनुरोध है कि टॉल्सटॉय को हाथ मत लगाओ। मैं उसे शहीद बनाकर संसार के क्रोध का भाजन नहीं बनाना चाहता। यदि वह अपराधी है तो यह उसी के लिए बुराई है।"

टॉल्सटॉय ने रूस के पुरातन धर्म की आलोचना करके सचमुच अपराध किया था और यदि अधिकारी चाहते तो उन्हें किसी काल-कोठरी में ठूँस सकते थे। और अधिकारी चाहते भी थे, परन्तु भाग्यवश दरबार में टॉल्सटॉय की मौसी ने उनके प्राण बचा दिये।

पर पादरियों का टॉल्सटॉय-विरुद्ध प्रचार-कार्य्य बराबर जारी रहा। सुकरात और सावोनारोला को जिस प्रकार उनके

शत्रुओं ने मरवाया था, उसी प्रकार टॉल्सटॉय को उनके शत्रु मरवाना चाहते थे। इस सम्बन्ध में आगे फिर लिखा जायगा, पर यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि टॉल्सटॉय इतने बड़े खतरे से घिरे रहने पर भी सरकार, उसकी नीति और जनता की दरिद्रता के सम्बन्ध में बराबर लिखते रहे। यह ज़माना वह था, जब रूस में पत्र-पत्रिकायें सरकारी भृकुटी से थरथर काँपा करती थीं। उन्हें सरकार की ओर से गुप्त सरक्यूलर मिला करते थे, और विद्यार्थियों को हज़ारों की संख्या में हिमावृत उत्तरी रूस में या साइबेरिया में भेज दिया जाता था। प्रोफ़ेसरों को कॉलेजों और यूनीवर्सिटियों से बर्खास्त कर दिया जाता था और स्कूल और कॉलेज राजद्रोह की तनिक-सी गन्ध मिलने पर बन्द कर दिये जाते थे। ऐसे वातावरण में युद्ध, प्राणदण्ड, टैक्स और जेलखानों के विरुद्ध आवाज़ उठाना सचमुच टॉल्सटॉय-जैसे ही व्यक्ति का काम था।

* * *

टॉलसटॉय और शिक्षा-प्रणाली

महर्षि टॉलसटॉय की प्रतिभा ऐसी सर्वव्यापिनी थी कि यदि 'यूरोप की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में वह अपने विचार प्रकट न करते, तो सचमुच बड़े आश्चर्य की बात होती। टॉलस-टॉय के विचार इस सम्बन्ध में इतने अग्रसर और क्रान्तिकारी हैं कि उनके अनुसार आचरण करने के लिए वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। उनका कथन था कि अब से तीन सौ वर्ष पहले की शिक्षा-प्रणाली वर्तमान वाता-वरण के लिए अनुपयुक्त है। पहले शिक्षा का काम धर्मयाजकों के क़ब्ज़े में था, और उस समय तक कोई आदमी शिक्षित न समझा जाता था, जब तक उसे अपने धर्म-ग्रन्थों का भी भली भाँति परिचय न हो जाता था। पहले विज्ञान ने उतनी उन्नति नहीं की थी, इसलिये लोग-बाग सात दिन में सृष्टि होने की बात

पर विश्वास कर लेते थे। पर आजकल बात ही दूसरी है। अबोध बालक तक पुरानी धार्मिक धारणाओं पर अब आँख बन्द करके विश्वास नहीं कर लेते। उनका कहना था कि ऐसी शिक्षा-पद्धति से बालकों का कोई लाभ न होगा, जिसके अनुसार स्कूल के एक कमरे में ईसा के कुआँरी लड़की के गर्भ से उत्पन्न होने की बात बताई जाय, और दूसरे कमरे में यह बताया जाय कि सूर्य्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता, बल्कि पृथ्वी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है; यह आकाश स्वर्ग नहीं है, बल्कि हमारी ही दृष्टि का अन्त है; ये तारागण ऋषि-मुनि नहीं हैं, बल्कि पृथक्-पृथक् लोक हैं—और आदि-इत्यादि। वह बालकों के दिमाग़ में बचपन ही से इतिहास की तारीखें और रेख-गणित के प्रयोग ढूँढ़ने के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि बालक का मस्तिष्क अपरिपक्व अवस्था में होता है। उसके विकास की आवश्यकता है। उस पर बलात् कई विभिन्न विषयों का भार लादना बड़ी भारी भूल है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि क्लास में जो लड़का सब से अधिक मूर्ख होता है, वह अपना पाठ रटने के कारण अन्य विद्यार्थियों से बाज़ी मार लेता है; और जिस बालक में मौलिकता होती है, वह नीचे रह जाता है। विद्यार्थी में विद्या-प्रेम जाग्रत् करना चाहिये। विद्या-प्रेम बल-प्रयोग करने और बेंत मारने से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि शिक्षक और शिष्य के पारस्परिक सहयोग से उत्पन्न होता है। उनका सिद्धान्त था कि शिक्षा का लक्ष्य यह होना चाहिये कि विद्यार्थी

शिक्षक की भाँति ही योग्य हो जाय और इसी प्रकार विकास करता जाय। बेंतबाज़ी करने से या तो लड़का दब्बू हो जाता है या ढीठ हो जाता है। समाज को इन दोनों ही कुटेवों से खतरा है। बचपन में और विद्यार्थी-जीवन में लड़के की जो टेव पड़ जाती है, वह जीवन में अन्त समय तक रहती है। विद्यार्थी में सत्साहस और सद्‌उद्योग की टेव डालनी चाहिये। वह जो कुछ कहना चाहता है, उसे शिक्षक को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये, और उसी से पता लगाना चाहिए कि उसमें किस प्रकार की विद्या प्राप्त करने की लालसा है। शिक्षक विद्यार्थी के लिए होना चाहिए, विद्यार्थी शिक्षक के लिए नहीं होना चाहिये। आजकल स्कूलों में नियन्त्रण की ओर जो इतना ध्यान दिया जाता है, सो ग़लती है। नियन्त्रण के नाम पर बालक को क्लास में बोलने और स्कूल के सहन में घूमने तक की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती! ज़रा-ज़रा-सी बात पर उसे इतना कठोर दण्ड दिया जाता है कि उसमें असत्य भाषण की आदत पड़ जाती है। सब लड़कों के सामने किसी विद्यार्थी को सज़ा देना भी भारी भूल है। इससे विद्यार्थी अपने सहपाठियों का उपहास्य बनता है और इससे उसके हृदय में लज्जा-ग्लानि की भावना उत्पन्न होती है; जो बाद को शिक्षक के प्रति घृणा के रूप में बदल जाती है। शिक्षक को तो शिष्य के हृदय में घुसने की चेष्टा करनी चाहिये। जिन बालकों की प्रकृति सचमुच दुष्ट हो, उन्हें भौतिक दण्ड न देकर उन पर शिक्षक को विशेष परिश्रम करना चाहिये।

बालक की वह दुष्ट प्रकृति अभी बद्धमूल नहीं हुई है, वह केवल माता-पिता या भाई-बहन या पास-पड़ौसियों का संस्कार-मात्र है, जो चेष्टा करने से मिट सकता है।

विद्यार्थी में वास्तविक विद्या-प्रेम उत्पन्न करना ज़रा कठिन बात है। ऐसे विद्यार्थी बहुत कम निकलेंगे, जिनका विद्या-प्राप्ति का उद्देश विद्या-प्राप्ति के लिए ही हो। अधिकांश विद्यार्थियों का उद्देश्य या तो (१) शिक्षक की मार-पीट से बचना होता है, या (२) इनाम पाना होता है, या (३) अन्य विद्यार्थियों से बढ़ जाना होता है, या फिर (४) कोई बड़ा रुतबा हासिल करना होता है। विद्यार्थियों को ख़ास ढाँचे में ढालने का काम टॉल्सटॉय की सम्मति में 'अनुचित, अवैध और असम्भव' है। उनका कहना है कि कुछ आदमियों को यह अधिकार किसने दिया कि वे सारे देश के बालकों की शिक्षा-प्रणाली अपने बनाये नियमों के अनुसार स्थिर करें, उन्हें ख़ास-ख़ास पुस्तकें ही पढ़ने को दें, और जो विद्यार्थी उसके ढाँचे में ढल जायें, उन्हीं को योग्य समझें। वह परीक्षा लेने के विरुद्ध थे और कहते थे कि इससे कुछ गिने-चुने लोगों को एक बड़े समुदाय की न्यूनाधिक योग्यता स्थिर करने का उच्छृङ्खल अधिकार मिल जाता है, और जिन लड़कों को योग्य समझ लिया जाता है, उनमें आत्म-प्रवंचना की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इससे जो लड़के वास्तव में प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं, उन्हें बड़ी निराशा होती है और वे अपने-आपको निकम्मा समझने लगते हैं।

उनकी सम्मति में परीक्षा को इतना महत्व नहीं देना चाहिये कि केवल उत्तीर्ण विद्यार्थी ही योग्य समझे जाएँ। परीक्षा को गौण स्थान मिलना चाहिये। टॉल्सटॉय स्कूलों में सहयोग और भ्रातृत्व का वातावरण उत्पन्न करने के पक्ष में थे, जिससे विद्यार्थी को पढ़ना-लिखना बोझ-सा प्रतीत न हो। यदि बालकों को खेलने-कूदने और शोर मचाने की स्वच्छन्दता मिल जाय, तो फिर वे अपने पाठ और शिक्षक से प्रेम करना सीख जायँगे।

टॉल्सटॉय ने अपनी शिक्षा-सम्बन्धी थ्योरियों को प्रकृत रूप देने के लिए १८६० में अपनी ज़िमींदारी यसनाया पोल्याना में एक छोटी-सी पाठशाला खोली, जिसमें उस गाँव और आस-पास के गाँवों से बालक-बालिकाएँ आया करती थीं। इस पाठशाला में अन्य पाठशालाओं-जैसा नियन्त्रण न था। बालक खूब दंगा किया करते और जी भरकर शोर मचाते। इसी ज़माने में टॉल्सटॉय ने एक मासिक पत्रिका भी निकाली, जिसमें उन्होंने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचार प्रकट किये। उस ज़माने में किसानों के बालकों को शिक्षा देना क़ानूनी जुर्म समझा जाता था। टॉल्सटॉय की आत्मा ने इस अनाचार को स्वीकार न किया। वह सारे देश में किसानों के बालकों की शिक्षा-समितियाँ खुलवाना चाहते थे, पर सरकार उनकी इस कार्यवाही की विरोधी थी। इस मामले में उन्हें किसी से सहयोग प्राप्त न हुआ। फलतः वह स्वयं ही तीन शिक्षकों को साथ लेकर, बालकों को पढ़ाने को तैयार हो गए। यह पाठ-

हूँ कि मैं उससे मेल-जोल नहीं बढ़ा सकता, या वह स्पष्टवादिता से काम नहीं लेता।'

इस प्रकार टॉल्सटॉय अपने मिशन में हार मानकर अपने घर वापस चले आये। उनका दानशीलता का काम कुछ दिनों के लिए रुक गया, पर उन्होंने इस दौरे में जो-कुछ देखा उससे उनकी विचार-धारा पर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा।

१८६१ में यसनाया प्रान्त में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। टॉल्सटॉय आरम्भ में इस दुर्भिक्ष की ओर से उदासीन-से थे। उनका एक मित्र उनसे भेंट करने आया तो बोले, वहाँ (यसनाया प्रान्त में) हमेशा अन्न-कष्ट रहता है, पर घोड़े के प्राण बचाने का सब से अच्छा उपाय यही है कि उसकी पीठ पर से उतर पड़ो। (अर्थात् किसान के ऊपर टैक्स-आदि मत लगाओ)। उनका मित्र रेवस्की चाहता था कि स्वयं टॉल्सटॉय दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रान्त में जाकर अपनी आँखों देखें। उसे विश्वास था कि एक बार कष्ट-पीड़ित किसानों को देखने के बाद फिर टॉल्सटॉय अनायास ही उसके साथ हो लेंगे। बहुत कहने-सुनने के बाद टॉल्सटॉय दो दिन के लिए यसनाया प्रान्त गये। वहाँ उन्होंने जो देखा, उससे उनका हृदय बिल्कुल पिघल गया और वह वहाँ दो दिन के बजाय दो वर्ष रहे। इस ज़माने में उन्होंने, वृद्ध होने पर भी अपनी सारी शक्ति दरिद्रनारायण का कष्ट दूर करने में लगा दी।

टॉल्सटॉय के दोनों बड़े लड़के टूला प्रान्त के चर्न-नामक ज़िले में लगे हुए थे। उनकी दोनों लड़कियाँ अपने पिता के

साथ वेगीचेत्का में संलग्न थीं। एक लड़की यही काम करते-करते बीमार पड़ गई, पर अच्छी होते ही फिर आगई। काउण्टेस अपने छोटे बच्चों के साथ मॉस्को में रहीं और देश-विदेश से चन्दा उसके पास पहुँचता रहा। भूखे-नङ्गों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करतीं। दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रान्त में कई रोग भी फूट निकलते थे। रोगियों के लिए दवा और पथ्य का बड़ा सुन्दर प्रबन्ध किया गया। सैकड़ों मर्द और औरतें इन रोगियों की सेवा करने के लिए एकत्र होगये। रूस-सरकार दुर्भिक्ष की बात को कपोल-कल्पित समझती थी और उस सम्बन्ध में किसी प्रकार की खबर समाचार-पत्रों में नहीं निकल पाती थी। पर टॉल्सटॉय सरकार से डरनेवाले न थे। उन्होंने दुर्भिक्ष पर ख़ूब लेख लिखे और उनसे प्राप्त हुआ धन भी उन्होंने अन्न-कष्ट दूर करने में लगाया। उन्होंने स्थान-स्थान पर अन्न-क्षेत्र खुलवाये। चार ही सप्ताह के भीतर अनायास ही बीस गाँवों में तीस अन्न-क्षेत्र खुल गये, जिनमें लगभग १५०० आदमियों को भोजन मिलता था। सारे प्रान्त में काउण्ट टॉल्सटॉय का जय-जयकार होने लगा। लोग हज़ारों की तादाद में उनके डेरे को घेर लेते और चिल्ला-चिल्लाकर कहते—"भगवान् काउण्ट टॉल्सटॉय का भला करे। वह हमारी सहायता न करते तो न-जाने हमारी क्या दशा होती!" ब्रेले-हॉजेट्स नामक एक अंग्रेज़ ने अपनी एक पुस्तक में दुर्भिक्ष और टॉल्सटॉय के कार्य्य-कलाप का बड़ा सजीव वर्णन् किया है।

इधर टॉल्सटॉय दुर्भिक्ष-पीड़ित कृषकों के प्राण बचा रहे

थे, उधर उनके विरुद्ध दक़ियानूसी ईसाई-समाज प्रचार कर रहा था। टॉल्सटॉय ने अपनी खरी आलोचना और बायबिल की नयी व्याख्या के द्वारा रूसी-धर्म-समाज को क्रुद्ध कर दिया था और पादरी लोग उन्हें ईसा-शत्रु के नाम से पुकारते थे। जब इन लोगों ने टॉल्सटॉय को दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों में जाते देखा, तो उन्होंने आवाज़ उठाई। उनके प्रचार के कारण कृषकों की धारणा होगई कि कोई आदमी उन्हें धर्म-भ्रष्ट करने को आरहा है। पर जब टॉल्सटॉय ने उनके प्राण बचाये तो कहीं उन्हें टॉल्सटॉय के वास्तविक स्वरूप के दर्शन हुए। टॉल्सटॉय को सरकार की ओर से कोई सहायता न मिली, उल्टे उनके मार्ग में रोड़े अटकाये गये। उनकी बुरी-भली आलोचना की गई। पर वह इन सारी बातों से ऊपर थे। धीरे-धीरे उनके निरीक्षण में २४६ अन्न-क्षेत्र खुल गये, जिनमें लगभग १५ हज़ार आदमियों को दोनों वेला भर-पेट भोजन मिलता था। इन लोगों का पेट भरना ही काफ़ी न था। उन्हें आगे के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बना देना भी आवश्यक था। इस मामले में भी टॉल्सटॉय को सरकार से कोई सहायता न मिली। उन्होंने चन्दे इकट्ठे करके किसानों को बीज और अन्न-पदार्थ स्वयं प्रदान किया। फिर भी वह सन्तुष्ट न थे।

प्रत्यक्ष अनुभव करने और बहुत-कुछ विचार करने के बाद टॉल्सटॉय इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि कष्ट-पीड़ितों को आर्थिक सहायता देना ही काफ़ी नहीं है। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं—

"पहले मेरी धारणा थी कि इतना ही काफ़ी है।...पर ज़रा शहर के दरिद्रों को तो रुपया बाँटिये। बाँटकर देखा गया, और उसका फल क्या निकला ?...अब से कोई सात वर्ष पहले मॉस्को का एक सौदागर ग़रीबों में बाँटने के लिए ६ हज़ार रूबल छोड़ मरा था। उसकी इच्छानुसार प्रत्येक ग़रीब को दो रूबल मिलने चाहिये थे। हुआ यह कि इतनी बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई कि दो आदमी कुचलकर मर गये और अधिकांश धन मोटे-ताज़े आदमियों के हाथों में पड़ा और कमज़ोर खाली हाथ चले आये। मुफ़्त का माल मिलते देखकर जन-समुदाय की कुत्सित मनोवृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं, लोभी आदमी आकर एकत्र हो जाते हैं, और फुर्तीले और दुष्ट प्रकृति के लोगों के हाथों में सब-कुछ जा पड़ता है।...सरकार यह जानने की चेष्टा में है कि वास्तव में किसे सहायता की आवश्यकता है। पर सारे किसान सहायता लेने के लिए आकर इकट्ठे हो जाते हैं, और इस तरह उनकी आत्म-निर्भरता की भावना दुर्बल हो जाती है।"

दुर्भिक्ष समाप्त होते-होते टॉल्सटॉय का धैर्य भी समाप्त हो चला था। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

"कड़कड़ाते जाड़े के दिनों में ज़रा कोई शहरी आदमी यहाँ आकर इन गाँववालों का रहन-सहन देखे, तो सहमकर रह जाय। हम लोग यह कष्ट-पारावार देखते-देखते ऊब गये हैं और अब हमें कुछ दिखाई नहीं पड़ता है।...नित्य नये किसानों

का जमघट इकट्ठा होजाता है। कुछ दरवाज़े पर खड़े हैं—कुछ खिड़की के नीचे मौजूद हैं। बाक़ी सड़क में हैं। सब के मुँह में एक ही कथा है: 'हमने दो दिन से कुछ नहीं खाया है। हमने अपनी सारी भेड़ें बेच डाली हैं। हम क्या करें? क्या मर जायें?' अब तो ये लोग हमें दुश्मन दिखाई देने लगे हैं।"

एक दिन टॉल्सटॉय तड़के ही घूमने को निकल जाना चाहते थे। रास्ते में उन्हें एक कृषकाय चीथड़े लादे किसान और एक चौदह वर्ष के लड़के ने घेर लिया और अपनी कष्ट-कथा सुनानी आरम्भ की। टॉल्सटॉय ने लापरवाही से कहा—'अच्छी बात है! हम लोग आकर देखेंगे!' और आगे बढ़ने की चेष्टा की, पर इसी समय उनकी दृष्टि उस लड़के पर पड़ी।

"लड़का मेरी ओर अपने करुणोत्पादक भूरे नेत्रों से देख रहा था, जिनमें आँसू और आशा भरे हुए थे। इसी समय उसके नेत्रों से एक उज्ज्वल अश्रु-बिन्दु ढलककर बर्फ़ से ढके मार्ग पर गिर पड़ा। लड़के का निरीह मुख-मण्डल सुबकियों के मारे उमँड़ रहा था। मेरे लिए उसके पिता के शब्द साधारण और नगण्य थे, पर उसके लिए…!…मेरे लिए यह सारा जाना-बूझा व्यापार था, पर उसके लिए भयावह रूप से नया था। इन लोगों ने हमें भ्रान्त कर दिया है। पर तोभी ये लोग भी जीना और सुख से दिन काटना चाहते हैं…।"

टॉल्सटॉय की सन्तान में अपने पिता की शिक्षा ने किस

प्रकार घर कर लिया था; उसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। दुर्भिक्ष के ज़माने में स्टेडलिंग-नामक एक अँग्रेज़-लेखक ने उस प्रान्त का दौरा किया। यहाँ वह टॉल्सटॉय की लड़की मेरी के साथ सवार होकर वह एक गाँव में गया, जहाँ एक अन्न-क्षेत्र मौजूद था, और एक नया अन्न-क्षेत्र बच्चों के लिए खोला जानेवाला था। इस लेखक ने गाँववालों की दुरवस्था देखी, तो दंग रह गया। वहाँ अन्न और वस्त्र का अभाव था और रोग प्रचुर मात्रा में मौजूद था। उसने एक झोंपड़ी में देखा कि किसान, उसकी स्त्री, चार बच्चे, किसान का पिता, गाय-बछड़ा और तीन भेड़ें—सब एक ही जगह मौजूद हैं। उसे अनेक झोंपड़ियों में भयङ्कर रोगों के दर्शन हुए। उस गाँव से वापस आते समय टॉल्सटॉय की लड़की के साथ अँग्रेज़-लेखक की निम्न-लिखित बात-चीत हुई—

लड़की ने पूछा—"आपने गाँव को देखकर क्या राय स्थिर की?"

लेखक ने कहा—"बड़ी भयङ्कर अवस्था है। आपको छूत का भय नहीं है?"

वह बोली—"भय! भयभीत होना पाप है। आपको भय लग रहा है क्या?"

"नहीं, दरिद्रों के पास जाते समय मुझे छूत का भय नहीं लगता। इनकी ऐसी दुरवस्था देखी नहीं जाती।"

"देखिये न, जहाँ ये लोग इन कष्टों में पड़कर जान गँवा

रहे हैं, वहाँ हमारा इस तरह सुख-चैन से दिन बिताना लज्जा-जनक है या नहीं?"

"मगर आप लोगों ने तो अपने पद और समाज के सारे सुख-चैन को तिलाञ्जलि देकर दुखियों का दुख दूर करने का व्रत लिया है।"

"यह ठीक है। मगर हमारे गर्म कपड़ों की ओर देखिये, जो हमारे कष्ट-पीड़ित भाई-बहिनों को स्वप्न में भी नसीब नहीं हैं!"

"यदि हम लोग भी चीथड़े लाद लें और स्वयं भी फ़ाक़े करने लगें तो इससे उन्हें क्या लाभ होगा?"

'हमें उनसे अच्छी अवस्था में रहने का क्या अधिकार है?'

अंग्रेज़ लेखक निरुत्तर होगया। उसने लड़की की ओर देखा। उसके नेत्रों में आँसू छलछला रहे थे। लेखक का हृदय भी द्रवीभूत होगया।

एक दिन टॉल्सटॉय आवश्यकता से अधिक पुलकित थे। इसका कारण भी शीघ्र ही प्रकट होगया। टॉल्सटॉय एक गाँव में बच्चों के लिये अन्न-क्षेत्र खोलने में समर्थ हुये थे। इसके लिये उन्हें बहुत दिनों तक संघर्ष करना पड़ा था। इस प्रस्ताव पर अव्वल तो गाँववाले ही राज़ी न होते थे। वे कहते थे कि बच्चों का खाना उनके घर ही भिजवा दिया जाय। पर टॉल्सटॉय जानते थे कि यदि ऐसा किया गया तो बच्चों के पल्ले कुछ न पड़ेगा। जब गाँववाले इस प्रस्ताव पर राज़ी होगये तो टॉल्सटॉय को अपने विरुद्ध किये गये प्रचार का मुक़ाबला करना पड़ा।

सारे देश में टॉल्सटॉय के विरुद्ध प्रचण्ड अग्नि धधका दी गई थी। एक बिशप ने तो क्रेकोटकी-नामक स्टेशन के प्लेटफ़ॉर्म पर रविवार को यह उपदेश दिया कि 'टॉल्सटॉय ईसा-शत्रु है, और लोगों को धर्मच्युत करने आया है। उसने यह भी कहा कि रूस का ईसाई-समाज और गिर्जा इस ईसा-शत्रु का विनाश करके रहेगा।'

कृषकों में भ्रान्त धारणा फैली, पर जैसा कि कहा जा चुका है, उन्होंने शीघ्र ही टॉल्सटॉय के वास्तविक रूप के दर्शन किए। जब पादरियों ने इस प्रकार अपना उद्देश्य सिद्ध होते न देखा तो सरकारी अफ़सरों को भड़काना शुरू किया। इसी समय टॉल्सटॉय ने एक रूसी पत्र को एक लेख दिया जिसमें दुर्भिक्ष-सम्बन्धी सारे वृत्त थे। इस अवसर पर लण्डन के 'डेली टेली-ग्राफ़' के सम्वाददाता डा० डिलन ने उनसे भेंट की और दुर्भिक्ष-सम्बन्धी कुछ समाचार चाहे। टॉल्सटॉय ने डा० डिलन को रूसी-पत्र के सम्पादक के पास भेज दिया। वहाँ इस सम्वाददाता ने उस लेख का अनुवाद करके लण्डन भेज दिया। फल यह हुआ कि रूसी पत्र में तो लेख बहुत परिवर्तन-परिवर्धन के बाद छपा, पर 'डेली टेली-ग्राफ़' में दुर्भिक्ष-सम्बन्धी पूरी खबर छप गई। सरकार यह न चाहती थी; क्योंकि इससे उसकी अन्य देशों में बदनामी होती थी। बस, पादरियों और राज-भक्तों को मौक़ा मिला। उस समय सारे रूस में टॉल्सटॉय की गिरफ़्तारी की खबर फैल गई। और टॉल्सटॉय

गिरफ़्तार कर भी लिये जाते, पर सौभाग्य से ज़ार के दरबार में उनकी एक मौसी थी। जब उसे यह ख़बर मालूम हुई तो वह गृह-सचिव के पास पहुँची। गृह-सचिव ने अपनी बेबसी ज़ाहिर की। बोला—'कुछ समझ में नहीं आता, क्या करना चाहिए। ज़रा लियो टॉल्सटॉय के विरुद्ध लगाये गये इन अभियोगों को तो देखिये। पहले अभियोग को तो मैंने किसी प्रकार छिपा भी दिया, पर इस तरह मैं सम्राट् से कब तक छिपाता रहूँगा?'

उक्त महिला वहाँ से तो चली आई, पर उसने प्राण रहते अपने भांजे की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझा। वह लिखती है :

'मैंने सम्राट् को लिखा कि मैं आपके दर्शन करना चाहती हूँ, समय नियत करिये, मैं आ जाऊँ।' मुझे ज़ार का पत्र मिला कि वह .ख़ुद ही मुझसे मिलने आयँगे। पत्र पाकर मेरी बाँछें खिल गईं। मैं ज़ार की प्रतीक्षा बड़ी उद्विग्नता के साथ कर रही थी और चुपचाप ईश्वर से सहायता की प्रार्थना कर रही थी। अन्त में सम्राट् ने प्रवेश किया। मैंने देखते ही ताड़ लिया कि वह किसी कारणवश भ्रान्त और व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। जब उन्होंने पूछा कि क्या बात है, तो मैंने सीधा उत्तर दिया :

'दो-एक दिन में आपसे रूस के परम-प्रसिद्ध और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को नज़रबन्द करने के सम्बन्ध में रिपोर्ट की जायगी।'

टॉलस्टॉय और शिक्षा-प्रणाली

महर्षि टॉल्सटॉय की प्रतिभा ऐसी सर्वव्यापिनी थी कि यदि 'यूरोप की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में वह अपने विचार प्रकट न करते, तो सचमुच बड़े आश्चर्य की बात होती। टॉलस्टॉय के विचार इस सम्बन्ध में इतने अग्रसर और क्रान्तिकारी हैं कि उनके अनुसार आचरण करने के लिए वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। उनका कथन था कि अब से तीन सौ वर्ष पहले की शिक्षा-प्रणाली वर्तमान वातावरण के लिए अनुपयुक्त है। पहले शिक्षा का काम धर्मयाजकों के क़ब्ज़े में था, और उस समय तक कोई आदमी शिक्षित न समझा जाता था, जब तक उसे अपने धर्म-ग्रन्थों का भी भली भाँति परिचय न हो जाता था। पहले विज्ञान ने उतनी उन्नति नहीं की थी, इसलिये लोग-बाग सात दिन में सृष्टि होने की बात

पर विश्वास कर लेते थे। पर आजकल बात ही दूसरी है। अबोध बालक तक पुरानी धार्मिक धारणाओं पर अब आँख बन्द करके विश्वास नहीं कर लेते। उनका कहना था कि ऐसी शिक्षा-पद्धति से बालकों का कोई लाभ न होगा, जिसके अनुसार स्कूल के एक कमरे में ईसा के कुआँरी लड़की के गर्भ से उत्पन्न होने की बात बताई जाय, और दूसरे कमरे में यह बताया जाय कि सूर्य्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता, बल्कि पृथ्वी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है; यह आकाश स्वर्ग नहीं है, बल्कि हमारी ही दृष्टि का अन्त है; ये तारागण ऋषि-मुनि नहीं हैं, बल्कि पृथक्-पृथक् लोक हैं—और आदि-इत्यादि। वह बालकों के दिमाग़ में बचपन ही से इतिहास की तारीखें और रेख-गणित के प्रयोग हूँढ़ने के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि बालक का मस्तिष्क अपरिपक्व अवस्था में होता है। उसके विकास की आवश्यकता है। उस पर बलात् कई विभिन्न विषयों का भार लादना बड़ी भारी भूल है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि क्लास में जो लड़का सब से अधिक मूर्ख होता है, वह अपना पाठ रटने के कारण अन्य विद्यार्थियों से बाज़ी मार लेता है; और जिस बालक में मौलिकता होती है, वह नीचे रह जाता है। विद्यार्थी में विद्या-प्रेम जाग्रत् करना चाहिये। विद्या-प्रेम बल-प्रयोग करने और बेंत मारने से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि शिक्षक और शिष्य के पारस्परिक सहयोग से उत्पन्न होता है। उनका सिद्धान्त था कि शिक्षा का लक्ष्य यह होना चाहिये कि विद्यार्थी

टॉलस्टॉय और शिक्षा-प्रणाली

महर्षि टॉलस्टॉय की प्रतिभा ऐसी सर्वव्यापिनी थी कि यदि यूरोप की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में वह अपने विचार प्रकट न करते, तो सचमुच बड़े आश्चर्य की बात होती। टॉलस्टॉय के विचार इस सम्बन्ध में इतने अग्रसर और क्रान्तिकारी हैं कि उनके अनुसार आचरण करने के लिए वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। उनका कथन था कि अब से तीन सौ वर्ष पहले की शिक्षा-प्रणाली वर्तमान वातावरण के लिए अनुपयुक्त है। पहले शिक्षा का काम धर्मयाजकों के क़ब्ज़े में था, और उस समय तक कोई आदमी शिक्षि[त] समझा जाता था, जब तक उसे अपने धर्म-ग्रन्थों का भ[ली] भाँति परिचय न हो जाता था। [प]हले विज्ञान ने उतनी [उन्नति] नहीं की थी, इसलिये लोग- [illegible] में सृष्टि होने

बालक की वह दुष्ट प्रकृति अभी बद्धमूल नहीं हुई है, वह केवल माता-पिता या भाई-बहन या पास-पड़ौसियों का संस्कार-मात्र है, जो चेष्टा करने से मिट सकता है।

विद्यार्थी में वास्तविक विद्या-प्रेम उत्पन्न करना ज़रा कठिन बात है। ऐसे विद्यार्थी बहुत कम निकलेंगे, जिनका विद्या-प्राप्ति का उद्देश विद्या-प्राप्ति के लिए ही हो। अधिकांश विद्यार्थियों का उद्देश्य या तो (१) शिक्षक की मार-पीट से बचना होता है, या (२) इनाम पाना होता है, या (३) अन्य विद्यार्थियों से बढ़ जाना होता है, या फिर (४) कोई बड़ा रुतबा हासिल करना होता है। विद्यार्थियों को खास ढाँचे में ढालने का काम टॉल्सटॉय की सम्मति में 'अनुचित, अवैध और असम्भव' है। उनका कहना है कि कुछ आदमियों को यह अधिकार किसने दिया कि वे सारे देश के बालकों की शिक्षा-प्रणाली अपने बनाये नियमों के अनुसार स्थिर करें, उन्हें खास-खास पुस्तकें ही पढ़ने को दें, और जो विद्यार्थी उसके ढाँचे में ढल जायँ, उन्हीं को योग्य समझें। वह परीक्षा लेने के विरुद्ध थे और कहते थे कि इससे कुछ गिने-चुने लोगों को एक बड़े समुदाय की न्यूनाधिक योग्यता स्थिर करने का उच्छृङ्खल अधिकार मिल जाता है, और जिन लड़कों को योग्य समझ लिया जाता , उनमें आत्म-प्रवंचना की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इससे लड़के वास्तव में प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं, उन्हें बड़ी निराशा है और वे अपने-आपको निकम्मा समझने लगते हैं।

शिक्षक की भाँति ही योग्य हो जाय और इसी प्रकार विकास करता जाय। बेंतबाज़ी करने से या तो लड़का दब्बू हो जाता है या ढीठ हो जाता है। समाज को इन दोनों ही कुटेवों से खतरा है। बचपन में और विद्यार्थी-जीवन में लड़के की जो टेव पड़ जाती है, वह जीवन में अन्त समय तक रहती है। विद्यार्थी में सत्साहस और सद्‌उद्योग की टेव डालनी चाहिये। वह जो कुछ कहना चाहता है, उसे शिक्षक को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये, और उसी से पता लगाना चाहिए कि उसमें किस प्रकार की विद्या प्राप्त करने की लालसा है। शिक्षक विद्यार्थी के लिए होना चाहिए, विद्यार्थी शिक्षक के लिए नहीं होना चाहिये। आजकल स्कूलों में नियन्त्रण की ओर जो इतना ध्यान दिया जाता है, सो ग़लती है। नियन्त्रण के नाम पर बालक को क्लास में बोलने और स्कूल के सहन में घूमने तक की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती! ज़रा-ज़रा-सी बात पर उसे इतना कठोर दण्ड दिया जाता है कि उसमें असत्य भाषण की आदत पड़ जाती है। सब लड़कों के सामने किसी विद्यार्थी को सज़ा देना भी भारी भूल है। इससे विद्यार्थी अपने सहपाठियों का उपहास्य बनता है और इससे उसके हृदय में लज्जा-ग्लानि की भावना उत्पन्न होती है; जो बाद को शिक्षक के प्रति घृणा के रूप में बदल जाती है। शिक्षक को तो शिष्य के हृदय में घुसने की चेष्टा करनी चाहिये। जिन बालकों की प्रकृति सचमुच दुष्ट हो, उन्हें भौतिक दण्ड न देकर उन पर शिक्षक को विशेष परिश्रम करना चाहिये।

महर्षि टॉल्सटॉय

ज़रा तुलना तो कीजिये। सैनिक वेश में सजा हुआ योद्धा टॉल्सटॉय और खपच्चियों की कुर्सी पर आसीन। लम्बी और सफ़ेद दाढ़ी के महात्मा टॉल्सटॉय एक ही शरीर और एक ही आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। प्रकृति का कैसा विचित्र व्यापार है!

उनकी सम्मति में परीक्षा को इतना महत्व नहीं देना चाहिये कि केवल उत्तीर्ण विद्यार्थी ही योग्य समझे जाएँ। परीक्षा को गौण स्थान मिलना चाहिये। टॉल्सटॉय स्कूलों में सहयोग और भ्रातृत्व का वातावरण उत्पन्न करने के पक्ष में थे, जिससे विद्यार्थी को पढ़ना-लिखना बोझ-सा प्रतीत न हो। यदि बालकों को खेलने-कूदने और शोर मचाने की स्वच्छन्दता मिल जाय, तो फिर वे अपने पाठ और शिक्षक से प्रेम करना सीख जायेंगे।

टॉल्सटॉय ने अपनी शिक्षा-सम्बन्धी थ्योरियों को प्रकृत रूप देने के लिए १८६० में अपनी ज़िमींदारी यसनाया पोल्याना में एक छोटी-सी पाठशाला खोली, जिसमें उस गाँव और आस-पास के गाँवों से बालक-बालिकाएँ आया करती थीं। इस पाठशाला में अन्य पाठशालाओं-जैसा नियन्त्रण न था। बालक खूब दंगा किया करते और जी भरकर शोर मचाते। इसी ज़माने में टॉल्सटॉय ने एक मासिक पत्रिका भी निकाली, जिसमें उन्होंने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचार प्रकट किये। उस ज़माने में किसानों के बालकों को शिक्षा देना क़ानूनी जुर्म समझा जाता था। टॉल्सटॉय की आत्मा ने इस अनाचार को स्वीकार न किया। वह सारे देश में किसानों के बालकों की शिक्षा-समितियाँ खुलवाना चाहते थे, पर सरकार उनकी इस कार्यवाही की विरोधी थी। इस मामले में उन्हें किसी से सहयोग प्राप्त न हुआ। फलतः वह स्वयं ही तीन शिक्षकों को साथ लेकर, बालकों को पढ़ाने को तैयार हो गए। यह पाठ-

महर्षि टॉल्सटॉय

ज़रा तुलना तो कीजिये। सैनिक वेश में सजा हुआ योद्धा टॉल्सटॉय और खपच्चियों की कुर्सी पर आसीन। लम्बी और सफ़ेद दाढ़ी के महात्मा टॉल्सटॉय एक ही शरीर और एक ही आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। प्रकृति का कैसा विचित्र व्यापार है !

शाला तीन वर्ष तक चली। बाद को टॉल्सटॉय का मन ऊब गया। पर उनका कथन है कि इन तीन वर्षों में उन्हें जो आनन्द-प्राप्ति हुई, वह स्त्री-प्रेम और अन्य बातों से भी नहीं हुई। उन्हें बालकों के सहवास में जो आनन्द मिलता, वह लिखने और अध्ययन करने में कहाँ रक्खा था? १८६१ में रूसी सरकार ने किसानों पर से यह प्रतिबन्ध हटा लिया। अब टॉल्सटॉय ने स्थान-स्थान पर नए-नए स्कूल खोले। उनके पास यूनीवर्सिटियों के विद्यार्थी आ-आकर बालकों को पढ़ाने के लिए तत्परता प्रकट करने लगे। टॉल्सटॉय के व्यक्तित्व का उन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता था कि वे अपनी उच्च शिक्षा का बलिदान करने को ख़ुशी-ख़ुशी राज़ी हो गए। थोड़े ही दिनों में तेरह पाठशालाएँ खुल गईं।

स्वयं टॉल्सटॉय की पाठशाला में कैसा स्वच्छ और स्वस्थ वातावरण उपस्थित रहता था, यह स्वयं टॉल्सटॉय की ही ज़ुबानी सुनिए—

"अपने साथ कोई कुछ नहीं लाता; न किताब, न कॉपी। उन्हें घर के लिए भी कोई काम नहीं दिया जाता। हाथों में ही नहीं, अपने दिमाग़ों में भी उन्हें कुछ ले जाने को कोई मजबूर नहीं करता। उन्हें न आज का सबक़ याद रखने की ज़रूरत है, न कल का। पाठ की बात सोचकर उनके प्राण नहीं सूखते। वे केवल खुले हृदय के साथ आते हैं और उन्हें इस बात का आश्वासन रहता है कि आज भी पाठशाला में चहल-

पहल रहेगी, जैसी कि कल थी। किसी को अपनी पढ़ाई की बात सोचने की ज़रूरत नहीं है। कोई चाहे जब आए, कोई रोक-टोक नहीं है, और फिर भी दो-चार सयाने बालकों को छोड़कर जिन्हें उनके माता-पिता घर काम करने के लिए रोक लेते हैं, सब ठीक वक्त पर आते हैं। और ये सयाने लड़के भी घर से छुट्टी मिलते ही इस प्रकार सिर पर पाँव रखकर भागते हैं कि स्कूल में आते-आते उनका दम फूल जाता है। शिक्षक के आने तक सारे बालक पोर्च में इकट्ठे होकर एक-दूसरे के के साथ धक्का-मुक्की करते हैं। कोई सीढ़ियों पर जा लुढ़कता है, कोई बर्फ़ से ढके रास्ते पर। लड़कियाँ लड़कों में शामिल नहीं होतीं, मगर ज्यों ही लड़के उन्हें देखते हैं, उन सब को एक साथ सम्बोधन करके कहते हैं आओ न, लड़कियो, तुम बर्फ़ पर क्यों नहीं फिसलतीं?......' शिक्षक आया, फ़र्श पर लड़कों का ढेर लग रहा है। आवाज़ आ रही है, "भई, मेरा दम घुट रहा है", "अरे तूने मेरे बाल खींच लिए!"

"शिक्षक को देखकर ढेर में से नीचे से एक लड़का चिल्ला उठता है—'मास्टरजी की दोहाई है,' एक कहता है, 'मास्टर-जी, नमस्ते!' जो लड़के शिक्षक के साथ-साथ कक्षा की अलमारी तक जाते हैं, उन्हें पुस्तकें दे दी जाती हैं, बाक़ी लड़के वहीं फ़र्श पर पड़े पुस्तकें माँगते हैं। ढेर धीरे-धीरे ढीला पड़ जाता है। जब अधिकांश लड़कों को पुस्तकें मिल जाती हैं, वे बाक़ी लड़के उनकी ओर भर्त्सनापूर्ण दृष्टि से देखकर कहते हैं—

"क्या करते हो ! हमें कुछ सुनाई नहीं पड़ता । शोर-गुल बन्द करो ।' बस, वे उत्तेजित अवस्था में ही किताबों पर आ जुटते हैं, और उद्विग्न भाव से घुटने टकराते रहते हैं । संघर्ष की प्रकृति ग़ायब हो जाती है और शान्ति का वातावरण छा जाता है । जिस चाव के साथ वे मिटका के बाल खींच रहे थे, उसी चाव से वे कोल्टसावे की पुस्तकें पढ़ने लगते हैं । दाँत भिंचे हुए होते हैं, नेत्र प्रज्ज्वलित होजाते हैं । वे अपने सामने की पुस्तकों को छोड़कर और सारी बातें भूल जाते हैं । अब से कुछ देर पहले उन्हें धक्का-मुक्की से हटाना जितना कठिन था, अब उन्हें पुस्तक से हटाना भी उतना ही कठिन दिखाई देता है ।"

टॉलसटॉय बालकों को, आपस में लड़ाई-झगड़ा करने पर, दण्ड देने के पक्ष में न थे । वह कहते थे कि स्कूल-मास्टरों को बालकों को दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं है । यह काम माता-पिता का है । उन्हें तो बालकों को शिक्षा देनी चाहिये, और बस । उनकी आपस में कैसी निभती है, यह स्वयं उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए, स्वभावतया बालक अपने मामले में किसी वयस्क व्यक्ति का हस्तक्षेप सहन नहीं करते । वे कह तो कुछ नहीं सकते, पर उन के मन में रोष अवश्य भरा रहता है । वयस्क व्यक्ति के हस्तक्षेप करने का फल यह भी होता है कि जो लड़ाई-झगड़ा स्वयं शान्त हो जाता, वह दोनों प्रतिद्वन्द्वियों की दृष्टि में महत्व धारण कर लेता है, और कभी-कभी उनमें स्थायी मन-मुटाव हो जाता है । शिक्षक का दण्ड देने का ढंग अत्यन्त अनुचित है । वह दोनों

को बुलाता है और बिना पूरी बात सुने कहता है, 'तुम दोनों का क़सूर है, कान पकड़कर उठा-बैठी करो।' वास्तव में क़सूर दोनों का नहीं, केवल एक का ही है। इस प्रकार का दण्ड मिलने पर अपराधी मन-ही-मन प्रसन्न होता है और निर्दोष को दुहरा अत्याचार सहना पड़ता है।

यदि एक शिक्षक सन्तोषपूर्वक लड़ाई का अन्त देखे तो उसे दिखाई पड़ेगा कि जिन प्रतिद्वन्दियों में घोर संघर्ष होरहा था, वही धीरे-धीरे लड़ाई से उकताकर अन्त में मार-पीट बन्द कर देते हैं और फिर पाँच मिनट के भीतर-भीतर फिर सखा बन जाते हैं। कोई लड़का स्वभाव से ही प्रतिहिंसा-प्रिय होता है। पर ऐसा लड़का भी अन्त तक अत्याचार नहीं कर सकता।

टॉल्सटॉय अपने आँखों-देखी एक घटना का वर्णन करते हैं। दो लड़के थे। एक गणित में प्रखर-बुद्धि था, दूसरा एक नौकर का बालक था और प्रतिहिंसा-प्रिय था। दोनों में लड़ाई हो पड़ी। नौकर के बालक के नेत्रों से विजय-गर्व की ज्योति निकल रही थी। उसने उस गणितज्ञ के बाल पकड़कर उसका सिर दीवार से टकराना शुरू किया। गणितज्ञ महोदय वैसे शान के साथ कह तो रहे थे, 'कोई पर्वाह की बात नहीं!' मगर यह ज़ाहिर था कि अगर यह सिल्सिला अधिक देर तक जारी रहा, तो हज़रत पुक्का फाड़कर रो देंगे। सब लड़के इकट्ठे होगये। चारों तरफ़ शोर मच गया—'लड़ाई होगई! लड़ाई होगई!' छोटे लड़के हँस रहे थे, बड़े लड़के गम्भीर भाव से एक-दूसरे

की ओर देख रहे थे। टॉल्सटॉय भी दुविधा में पड़ गये कि हस्तक्षेप करना चाहिये या नहीं। नौकर के बालक ने भी यह दृष्टि-विनिमय देखा और उसे भास होने लगा कि वह कोई बुरा काम कर रहा है। वह सलज्ज भाव से मुस्कराने लगा और धीरे-धीरे उसने गणितज्ञ के बाल छोड़ दिये। अब गणितज्ञ की बारी थी। उन्होंने भी उसे ज़ोर से ऐसा धक्का दिया कि मुन्नाजी का सिर दीवार से टकरा गया। होश दङ्ग रह गये। भागे गणितज्ञ के पीछे-पीछे। सब लड़के चिल्ला उठे—'क्या वाहियात है! इतना बड़ा बैल होकर ज़रा-से बच्चे से लड़ता है!' बस, लड़ाई का अन्त होगया और दोनों को भास हुआ कि लड़ाई-झगड़ा करना सचमुच कोई बुरी बात है।

स्वयं टॉल्सटॉय अपने बालक विद्यार्थियों में किस प्रकार हिल-मिल गए थे, उसका एक उदाहरण उन्हीं के एक शिष्य फेड्का ने दिया है।

"एक दिन पाठ आरम्भ होते ही लियो टॉल्सटॉय ने हम से कहा—'मुझे श्रीमान् कहकर मत पुकारा करो। मेरा नाम लियो निकोलाइच है। मुझे इसी नाम से पुकारो।' अभी तीन महीने भी न बीते थे कि हम ज़ोर-शोर से पढ़ाई में लग गये, और आसानी से पढ़ने लगे। वह जितने चाव से काम लेते थे, उसको देखकर हमारा भी चाव बढ़ा। पन्द्रह मिनट की छुट्टी में हमें चाय और कुछ जलपान दिया जाता था। वह कहते, 'तुम लोग बाहर जाकर कुछ खाना-पीना चाहते हो, क्यों

न ? मेरी भी यही इच्छा है। तो फिर देखें, इनमें से कौन सब से आगे निकलता है ?' और हम लोग चीखते, शोर मचाते उनके पीछे-पीछे दौड़ते। वह तीन-तीन सीढ़ियों पर छलाँग मारकर हमसे बचने की चेष्टा करते। हम सब झुण्ड-के-झुण्ड उनके पीछे हो लेते।

"जब लियो टॉल्सटॉय जलपान करके लौटते, हम सब उन्हें आगे-पीछे से पकड़ लेते, उनकी पीठ पर चढ़ते, उन पर बर्फ़ की गेंदें बना-बनाकर मारते और उन्हें उलटने की चेष्टा करते। कुछ देर बाद वह भी या तो थककर, या कौतुक से बर्फ़ पर गिर पड़ते। बस, फिर हमारे हर्ष का वारापार न रहता। हम उन्हें बर्फ़ से ढकने की चेष्टा करते और उन पर सब मिलकर गिर पड़ते; कहते, 'अभी ढेर छोटा है ! अभी ढेर छोटा है !' इस प्रकार घण्टे बात-की-बात में कट जाते। इस प्रकार आनन्द का जीवन बिताने को मिले, तो सारी उम्र निकल जाय और पता भी न चले।

"टॉल्सटॉय एक बात में बड़े सख्त थे। वह बालकों को सत्य बोलने की शिक्षा देते और उन्हें स्वच्छ देखना चाहते। वह हमें चञ्चलता या अवज्ञा पर कभी दण्ड न देते। यदि शोर मच जाता, तो केवल इतना ही कहते—'ज़रा कम शोर करो !'"

इस पारस्परिक स्नेह और सौहार्द का फल यह हुआ कि बच्चे पढ़ने-लिखने से जी चुराने की बजाय उसमें आनन्द लेने लगे और थोड़े ही दिनों में उन्होंने काफ़ी उन्नति कर ली। यदि

बच्चों से कोई प्रश्न किया जाता तो सब एक साथ ही बोल उठते। खूब शोर-गुल मचता और बच्चों को पाठशाला में जाना भारसम प्रतीत न होता। टॉल्सटॉय ने उनके व्यायाम का भी प्रबन्ध कर रक्खा था। यदि बच्चों को कोईतकलीफ़ हो जाती तो उनकी मातायें उसका दोष टॉल्सटॉय और उनके व्यायाम को देने से न चूकतीं। पर टॉल्सटॉय को इन आलोचनाओं की चिन्ता न थी। वह प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने अपने शिक्षा-सम्बन्धी लेख यास्नाया मेगज़ीन में छपवाए। इस पत्रिका में उन्हें बड़ी क्षति उठानी पड़ी और बाद को उन्होंने उसे बन्द कर दिया। पर जब तक यह पत्रिका निकलती रही, इसमें उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचार भी निकलते रहे। उन्होंने नियन्त्रण को उठा देने पर विशेष ज़ोर दिया है। वह कहते थे कि जब बच्चा शिक्षक से हिल-मिल जायगा, तो अपनी अच्छी-से-अच्छी प्रकृति उसके आगे निस्संकोच भाव से रख देगा। बच्चों को पाठ देने की प्रणाली भी टॉल्सटॉय की अपनी थी। वह बच्चों के लिए घर पर काम करने को कुछ न देते थे। बालक आपस ही में एक-दूसरे की भूलें ठीक करते। शिक्षक केवल शिक्षक का काम करता।

टॉल्सटॉय का कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या था, यह आरम्भ में लिखा ही जा चुका है। वह कला को कोई ऐसी जटिल वस्तु नहीं मानते, जिसे केवल शिक्षित व्यक्ति ही समझ सकें—और सो भी कठिनतापूर्वक। उनके पास एक सीधा-सादा तराज़ू था—

कोई चित्र-कहानी, उपन्यास-मूर्ति, काव्य या नाटक जन-साधारण के ऊपर क्या प्रभाव डालता है ! क्या वह उसके मनोरागों को उद्दीप्त करने में समर्थ हुआ है ? क्या वह उस कला के प्रसाद में अपनी आत्मा के तादात्म्य की अनुभूति करता है ? किसी चित्र को समझने के लिये उसे चित्रकार की व्याख्या की तो आवश्यकता नहीं पड़ती ? कहानी या उपन्यास जन-साधारण के दैनिक जीवन का चित्र ही है या कोई अस्वाभाविक, चिते-पुती घटनाओं का संग्रह-मात्र ? काव्य से या संगीत से अशिक्षित व्यक्ति के हृदय की तंत्रियाँ भी बज उठती हैं न ? यदि रचना इस तराज़ू में पूरी उतर गई तो वह सचमुच कला-युक्त है। उनका विश्वास था कि साधारण किसान के बालक में कला-सम्बन्धी जो प्रतिभा छिपी हुई है। वह शिक्षित समुदाय में देखने को न मिलेगी। एक दिन टॉल्सटॉय ने पाठशाला में लड़कों से देहाती कहानी लिखने को कहा। लड़कों में खलबली मच गई। वे लिखने को तो बैठे, मगर किसी को अपने ऊपर विश्वास न था। अन्त में एक लड़के ने स्वयं टॉल्सटॉय से भी एक कहानी लिख दिखाने का अनुरोध किया। वह भी लिखने लगे। इतने ही में फेड्का-नामक एक किसान का लड़का चुपचाप उनके पीछे जाकर कुर्सी पर से उचककर पढ़ने लगा। यह देखकर टॉल्सटॉय ने अपनी लिखी कहानी सब को सुनाई और उसे पूरा करने का इरादा ज़ाहिर किया। सब लड़के टॉल्सटॉय की कहानी की आलोचना करने लगे। किसी ने कहा, इसमें यह

खराबी है, किसी ने कहा यह ख़ूबी है, कोई बोला, इनका अमुक अंश काट देना चाहिए, कोई बोला, इसमें फ़लाँ-फ़लाँ बात बढ़ानी चाहिए।

इन लड़कों की आलोचना को टॉल्सटॉय ध्यानपूर्वक सुनते रहे। इन लड़कों में फेड्का और सेमका की ओर टॉलसटॉय का ध्यान विशेषरूप से गया। इन दोनों बालकों ने अपने विचार ऐसे सरल और सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त किए कि टॉलसटॉय ने उनसे कहा—"तुम बोलते जाओ, मैं लिखता जाऊँ।" फेड्का ने बताना शुरू किया, टॉल्सटॉय लिखते गए। अन्य बालक ऊबकर घर चले गये, पर ये दोनों बालक बराबर बोलते गये। शाम के सात से रात के ग्यारह बजे तक लिखाई होती रही। दोनों बालक खाना-पीना भूल गए थे, और जब टॉल्सटॉय बीच में लिखना बन्द कर देते थे तो ये उन पर बिगड़ जाते थे। अन्त में टॉल्सटॉय ने लिखना बन्द कर दिया। उनके एक सहयोगी ने उन्हें देखकर पूछा—"क्या बात है! आज आपका चेहरा इतना पीला पड़ा हुआ क्यों है?" टॉलसटॉय अपने जीवन में इतने उद्वेलित दो या तीन बार हुये थे। दूसरे दिन टॉल्सटॉय को गत रात्रि की घटना पर स्वयं विश्वास न हुआ। एक देहाती लड़के में ऐसी प्रतिभा छिपी हुई है।

"मुझे यह बात बड़ी विचित्र और रोषकारी प्रतीत हुई कि मेरे-जैसा विख्यात लेखक, जिसका देश-भर में आदर किया जाता है, इन दो देहाती बालकों को शिक्षा देने की तो कौन

कहे, उनकी बराबरी करने और उनकी बात समझने तक की योग्यता नहीं रखता !"

दूसरे दिन टॉल्सटॉय ने पाठशाला में लड़कों से पूछा—"कहानी लिखना जारी रखने का इरादा है, क्या ? "फेड्का ने अपना हाथ हिलाया और कहा—"मैं चाहता हूँ ! मैं चाहता हूँ ! पर लिखेगा कौन ?" टॉल्सटॉय फिर लिखने में जुट गये। बालकों के चाव और कला-सम्बन्धी प्रतिभा ने टॉल्सटॉय को आश्चर्य्य में डाल दिया। कुछ देर बाद टॉल्सटॉय को लिखना बन्द करना पड़ा और दोनों बालक स्वयं लिखते रहे। उन्होंने दो पृष्ठ लिखे, जिनमें जगह-जगह बात दुहराई गई थी और घटनाओं का तारतम्य भी ठीक नहीं था। पर वैसे सब कुछ ठीक था। तीसरे दिन भी इसी प्रकार लिखना जारी रहा। कहानी समाप्त होगई पर अभाग्यवश कहीं खोई गई। टॉल्सटॉय को बड़ा परिताप हुआ। फेड्का और सेमका ने कहा, "हम उसे फिर लिख सकते हैं।" रात को आठ बजे पाठशाला का काम समाप्त हुआ और दोनों बालक टॉल्सटॉय के घर पहुँचे। यहाँ वे एक कमरे में बैठकर पहले तो ख़ूब हँसते रहे, फिर शान्त होकर लिखने में दत्तचित्त होगए। आधी रात के समय टॉल्सटॉय ने दरवाज़ा खटखटाया और उन्हें भीतर जाने की अनुमति दी गई। सेमका बड़ी-सी मेज़ पर कॉपी रक्खे, लिखने में दत्तचित्त था। वह बार-बार देख लेता और टेढ़ी-मेढ़ी लाइनें लिखता, फेड्का बोलता जाता। अन्त में कहानी समाप्त हुई और इन

देहाती बच्चों को भोजन दिया गया। वे कपड़े उतारकर उस मेज़ के नीचे ही हँसते-हँसते सो गए।

टॉल्सटॉय ने इस कहानी को और बच्चों की लिखी अन्य कहानियों को पत्रिका में छापा। टॉल्सटॉय की राय में ये कहानियाँ रूसी साहित्य में अपना सानी नहीं रखतीं। बाद को टॉल्सटॉय ने इन्हीं कहानियों के आधार पर अपनी प्रसिद्ध कहानियाँ लिखीं। यदि शिक्षक अपने शिष्यों में आत्म-विश्वास उत्पन्न करें और उनसे कोई भूल होने पर उनकी तीव्र भर्त्सना न करें तो यह निश्चित बात है कि वे अपने प्रकृति-दत्त प्रसाद को शिक्षक के सन्मुख अवश्य रख देंगे। शिष्य की अवहेलना या उसकी अवज्ञा करना बड़ी भूल है। वह शिक्षक की रिआया तो है नहीं, वह तो केवल जिज्ञासु-मात्र है, जो यह ख़ुद नहीं जानता कि क्या जिज्ञासा की जाय। टॉल्सटॉय ने बार-बार इसी बात पर ज़ोर दिया है कि बालक को पाठ भार-सम प्रतीत न हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिए। यदि विद्यार्थी पढ़ना नहीं चाहता, तो फ़िलहाल पाठ स्थगित कर देना चाहिए। एक बार शिक्षक शिष्य के मन में घर कर लेता है तो आमरण घर किये रहता है। यही फेड्का लिखता है:

"उन बातों को पचास वर्ष बीत गये। मैं भी बुड्ढा हो चला हूं। पर लियो टॉल्सटॉय और पाठशाला के सम्बन्ध में मुझे सारी बातें पूरी-पूरी याद हैं। उनके स्मरण-मात्र से मेरा चित्त उल्लसित होजाता है। मैं उस समय लियो टॉल्सटॉय को

जिस भक्ति और प्रेम की दृष्टि से देखता था, उसी दृष्टि से आज भी देखता हूँ। वह स्मृति मैं कभी न भुला सकूँगा।"

प्रत्येक शिक्षक को ऐसा ही बनने की चेष्टा करनी चाहिये जिससे स्कूल या कॉलेज से निकलने के बाद भी विद्यार्थी उसका आदर करता रहे।

❋ ❋ ❋

टॉल्सटॉय और प्रेम

महर्षि टॉल्सटॉय ने अपनी युवावस्था में बड़ा असंयत जीवन व्यतीत किया था। वह अपने ऊपर क़ाबू नहीं रख सकते थे, और बाद को अपने पतन पर पछताते थे। उनकी युवास्था की डायरी इसी पश्चात्ताप से भरी पड़ी है। वह आरम्भ से ही अपना सुधार करने में लगे रहे। युवावस्था में वह अपनी वासनाओं से बराबर संघर्ष करते रहे। जब उनका विवाह होगया तो उन्होंने अपने चरित्र को बराबर सम्हाले रक्खा। जब वह वृद्ध हुए और उनके मार्ग में पत्नी बाधक हुई तो उन्होंने अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपनी पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। स्त्री-प्रसंग के सम्बन्ध में टॉल्सटॉय के विचारों में कई बार परिवर्तन हुआ। आरम्भ में उन्होंने स्त्री को वासना-तुष्टि की सामग्री-मात्र समझा। यह वह ज़माना

था जब उनके विचारों में नास्तिकता और पदार्थवाद ज़ोर पकड़ रहे थे। उसके बाद वह ईसा की शिक्षा में विश्वास करने लगे। वह सन्तान-वृद्धि-निग्रह के कट्टर विरोधी थे। उनका कहना था कि कृत्रिम उपायों से विवाहित जीवन के उत्तरदायित्व से बचने की चेष्टा का यह कुपरिणाम होता है कि हम लोग और भी कामुक और वासना-प्रिय होजाते हैं। धीरे-धीरे यह वासना की अग्नि दोनों में से एक में शिथिल पड़ जाती है और दूसरे में वैसी ही रहती है। जिसमें वासना की अग्नि उसी प्रकार प्रचण्ड रहती है, वह उसकी तृप्ति के लिए भ्रष्टाचार करता है; और इस प्रकार ईसा की शिक्षा के विरुद्ध आचरण करता है। वह सन्तान-वृद्धि-निग्रह को पाप का प्रसार करनेवाला समझते थे। उनका कहना था कि सन्तान उत्पन्न करते-करते स्त्री की काम-शक्ति अपने-आप क्षीण पड़ जायेगी, और सन्तान का पालन-पोषण करते-करते पुरुष अपने-आप थक जायेगा; इसलिए स्वयं ही स्त्री-प्रसंग से बचेगा।

अपनी वृद्धावस्था में टॉल्सटॉय के स्त्री-प्रसंग-सम्बन्धी विचार कुछ और ही होगये। अब उनका सिद्धान्त था कि स्त्री और पुरुष में सम्बन्ध होना ही नहीं चाहिए। सहवास गर्हित वस्तु है, और स्त्री से बचने में ही कल्याण है। इन्हीं दिनों में उन्होंने एक उपन्यास लिखा—'क्रूज़र' सोनाटा। इस पुस्तक का प्रकाशन निषिद्ध कर दिया गया, क्योंकि टॉल्सटॉय ने इस पुस्तक में एक प्रकार से गृहस्थ-जीवन पर कुठाराघात किया है। किस

प्रकार एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी के व्यभिचार से उत्तेजित होकर उसकी हत्या कर डाली और इतने पर भी उस स्त्री को अपने पतन पर पश्चात्ताप नहीं हुआ। टॉल्सटॉय ने यह उपन्यास क्यों लिखा; इस सम्बन्ध में रूस के विद्वानों में काफ़ी मतभेद रहा। कुछ लोग कहते थे कि पुस्तक में टॉल्सटॉय ने अपने गृहस्थ-जीवन का चित्रण किया है। सचमुच इस युग में टॉल्सटॉय की स्त्री-जाति पर घोर अश्रद्धा होगई थी। उनकी दृष्टि में स्त्री शैतान की मौसेरी बहिन-मात्र रह गई थी, जिसका काम पुरुष को बहकाकर पतित करना-मात्र था। एक बार टॉल्सटॉय को पता चला कि एक युवक विवाह करना चाहता है और सम्बन्ध पक्का होगया है। टॉल्सटॉय ने उसे मिलने को बुलाया, पर उसके आजाने पर उसे बाहर ही रुकवा दिया और कमरे के भीतर से पूछा—

"बताओ, क्या तुम सचमुच शादी करना चाहते हो?"

युवक ने स्वभावतया उत्तर दिया: "हाँ।"

टॉल्सटॉय का दूसरा प्रश्न था: "तुमने कभी जाना भी है कि स्त्री क्या बला होती है?"

युवक ने कहा—"नहीं।"

और युवक को कमरे के भीतर से सुबकियों की आवाज़ सुनाई दी!

जो लोग कहते थे कि यह सब व्यर्थ के पचड़े हैं, तह में जाना ही फ़ज़ूल है—खाओ-पियो मौज करो, उनके लिये टॉल्सटॉय का

उत्तर था—'यदि तुम में ज़रा-सी भी विवेक-बुद्धि होगी तो तुम इस प्रश्न की अवज्ञा नहीं कर सकोगे।' उनका कहना था कि वासनाओं को जाग्रत ही मत करो, बस, फिर स्त्री-संग की इच्छा ही उत्पन्न न होगी। उनकी धारणा होगई थी कि जो शक्ति स्त्री प्रसंग में नष्ट की जाती है, यदि उसका उपयोग उच्चतर कामों में किया जाय तो कितना अच्छा हो। टॉल्सटॉय की इन दो परस्पर विरुद्ध विचार-धाराओं ने सब को चक्कर में डाल दिया। दोनों में से कौन-सी बात ठीक है ? ईसा और मूसा की शिक्षा कि 'बढ़ो और बढ़ते रहो' या ब्रह्मचर्य धारण करने की शिक्षा ? टॉल्सटॉय १८८३ में तो यह कहते थे कि प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह सन्तान उत्पन्न करे और सन्तान-वृद्धि-निग्रह की चेष्टा पाप-पूर्णचेष्टा है। स्त्री और पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध सर्वथा वैध है और होना चाहिए। अब १८९० में वह यह कहने लगे कि स्त्री-शैतान की मौसेरी बहिन है जिसका काम पुरुषों को पतन के गड्ढे में डालना है। दोनों ही बातें ठीक नहीं हो सकतीं। और तिस पर तमाशे की बात यह थी कि जहाँ वह लोगों को ब्रह्मचर्य का उपदेश दे रहे थे वहाँ ७० की आयु में स्त्री-प्रसंग भी कर रहे थे। एक बार एक लेखक से बात करते हुए उन्होंने कहा : 'वैसे तो मैं कल रात ही पति बना। और मुझे आशा है, मैं भविष्य में पति न बनूँगा !'

टॉल्सटॉय हृदय से यही चाहते थे कि स्त्री-पुरुष का प्रसङ्ग बन्द हो जाय, पर साथ ही वह पछताते हुए कहते थे कि "मेरी

बात पर ध्यान कौन देगा ? सब कहेंगे, पहले अपनी आँख का तो शहतीर निकाल !" वह कहते : "भगवान् का आदेश यही है कि स्त्री-प्रसङ्ग से बचो, पर इस आदेश का माध्यम स्वयं अपवित्र है।" वह कुलीन स्त्री और वेश्या में कोई अन्तर न करते। कहते, "एक अपना बनाव-शृङ्गार करके शराबखानों में जाती है, दूसरी दरबारों और नाच-घरों में जाती है। दोनों यही समझती हैं कि उनके जीवन का अस्तित्व ही पुरुष की काम-वासना तृप्त करने के लिए है। बच्चे पैदा करना उनके लिए गौण-सी बात है—शायद आकस्मिक संयोग है, इसलिए वे सन्तान-वृद्धि-निग्रह की चेष्टा करती हैं। एक बार टॉलसटॉय एक लेखक से बात कर रहे थे। यह वह ज़माना था, जब वह स्त्री-पुरुष के प्रसंग को अवैध समझने लगे थे। इस लेखक ने कहा कि मैं तो एक उपपत्नी रक्खे हुए हूँ, और फिर भी अपने जीवन को भ्रष्ट नहीं समझता। इस पर टॉलसटॉय ने उत्तर दिया : "यदि एक बार हम ने स्त्री-प्रसङ्ग किया, फिर या तो हमें किसी कुमारी को भ्रष्ट करना पड़ेगा, या किसी पति को, या किसी वेश्या के साथ संसर्ग करना पड़ेगा।"

बाद को टॉलसटॉय के स्त्री-प्रसङ्ग-सम्बन्धी विचारों में वह उग्रता नहीं रही। एक स्थान पर वह लिखते है—

"इस पापपूर्ण प्रवृत्ति पर अधिकार पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसमें वृद्धि न करें। यदि कोई आदमी ब्रह्मचारी है, तो वह ब्रह्मचारी बना रहे, यदि कोई आदमी

विवाहित है, तो वह एक-पत्नी-व्रत धारण करे, यदि कोई आदमी बहुत-सी स्त्रियों के साथ सहवास कर चुका है, तो उसे इस पापाचार को अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए। यदि पुरुष-समाज इसके अनुसार चले, तो उसकी बहुत-सी व्याधियाँ दूर हो जाएँ।

"वैसे पुरुष का पूर्णतया पवित्र बने रहना बहुत कठिन बात है, फिर भी हरेक आदमी को यह समझ लेना चाहिए कि वह पहले की अपेक्षा अधिक पवित्र हो सकता है, या पहले-जैसी पवित्रता प्राप्त कर सकता है। और वह पूर्ण पवित्रता के जितने निकट पहुँचेगा, उतना ही मानव-समाज का भला होगा।"

टॉल्सटॉय ने अपने उपदेश को इस बार जिस ढँग से रक्खा, उससे बहुत-से आदमी सहमत हो जाएँगे। मानव-समाज में वासना की मात्रा बढ़ गई है और वह उसकी तृप्ति में ही लगा रहता है। यदि वासना की मात्रा में कमी कर दी जाय, तो सचमुच बड़ी अच्छी बात है। पर साथ-ही-साथ टॉल्सटॉय पुरुष-समाज को स्त्री का पूर्ण बहिष्कार करने के लिए कहते हैं, जो उतना ही अप्राकृतिक है, जितना उनका १८८२ का यह उपदेश, कि पुरुष और स्त्री का सङ्ग स्वाभाविक और धर्मानुकूल है—असमयोचित है। तब वह सन्तान-वृद्धि-निग्रह सम्बन्धी उपायों को गर्हित और धर्म-विरुद्ध बताते थे और मूसा तथा ईसा के उपदेश का सहारा लेते थे। पर उनकी यह सलाह ठीक नहीं थी; क्योंकि आजकल जन-संख्या काफ़ी बढ़ी हुई है और

आजकल मूसा और ईसा के ज़माने की भाँति गिने-चुने आदमी नहीं हैं। अब वह स्त्री-प्रसङ्ग को बिल्कुल ही त्याज्य और घृणित बात बताने लगे और कहने लगे कि जो पुरुष स्त्री-प्रसङ्ग करेगा, वह कोई उच्च काम कर ही नहीं सकता। उनका कहना था कि स्त्री के सम्पर्क में आना ही ख़तरनाक है। जो कोई पुरुष स्त्री के साथ किसी तरह का सम्बन्ध रक्खेगा, उसका पतन अवश्यम्भावी है। अपनी पुस्तक 'क्रूज़र-सोनाटा' में वह एक स्त्री के मुँह से कहलवाते हैं—

"मगर आप शारीरिक वासना की चर्चा कर रहे है! क्या स्त्री-पुरुष में आत्मिक और आदर्श प्रेम नहीं हो सकता?"

पुस्तक का नायक कहता है—"आत्मिक और आदर्श-प्रेम! तो फिर दोनों एक-साथ सोते क्यों हैं? मेरी धृष्टता क्षमा करिए!"

स्त्री-पुरुष-प्रसङ्ग को वह कुछ इतना महत्वपूर्ण विषय समझते थे कि जब कभी इस विषय पर बात-चीत करते, बुरी तरह उद्वेलित हो जाते और ऐसे शब्दों का व्यवहार करते, जिन्हें उनका मुलाक़ाती अश्लील समझता। पर वह इस विषय पर जितनी गहराई के साथ विचार करते थे, उसकी थाह तक कोई न पहुँच पाता था। एक बार मैक्सिम गोर्की-नामक विश्व-विख्यात रूसी लेखक उनसे भेंट करने गया। टॉलसटॉय ने उसकी कुछ कहानियाँ पढ़ रक्खी थीं। इस पहली मुलाक़ात के अवसर पर टॉलसटॉय ने एक कहानी की चर्चा करते हुए

कहा—"लड़की जहाँ पन्द्रह वर्ष की हुई कि उसके भीतर आलिङ्गन और संस्पर्श की प्रवृत्ति जाग्रत हो उठती है। उस अज्ञात वस्तु की बात सोचकर वह भयभीत तो रहती है, पर साथ ही उसका शरीर उसे उस अज्ञात वस्तु का भास अवश्य करा देता है। इसी को आप चाहे लज्जा कहिए, चाहे क्रीड़ा कहिए। आप ओल्सोवा के विषय में कहते हैं कि वह स्वस्थ तो थी, पर वासना से शून्य थी। यह बात प्राकृतिक जीवन में नहीं देखी जाती।"

टॉल्सटॉय ने इस अवसर पर अपने विचारों को तद्वत-व्यक्त करने के लिए कुछ ऐसे भद्दे शब्दों का व्यवहार किया कि वह भावुक लेखक अन्त में खामोश होगया और टॉल्सटॉय को कोई दूसरा प्रसङ्ग छेड़ना पड़ा।

टॉल्सटॉय की क्रान्तिकारी पुस्तक 'क्रूज़र सोनाटा' का प्रभाव बुरा भी पड़ा और अच्छा भी। यह पुस्तक उस समय में लिखी गई थी, जब देश के कुलीन समाज में युवा पुरुष की शिक्षा-दीक्षा को पूर्ण तभी समझा जाता था, जब उसका किसी विवाहित स्त्री से प्रेम-सम्पर्क हो जाता था। युवक की माता और अन्य महिलायें उसे इस प्रकार का अवैध सम्पर्क करने के लिए उकसाती थीं। टॉल्सटॉय को भी किसी समय उनकी एक कुटुम्बिन ने इसी प्रकार की सलाह दी थी। फलतः इस पुस्तक से बहुत-से लोग समझ बैठे कि टॉल्सटॉय समाज में खुले-बन्धन प्रेम-सम्पर्क करने की सलाह देते हैं। उनके पास तद्विषयक

जिज्ञासायें आईं। टॉल्सटॉय को इस प्रकार बड़ा परिताप हुआ और उन्हें अपनी इस पुस्तक का उद्देश्य समझाने के लिए एक निबन्ध लिखना पड़ा। इस निबन्ध के पढ़ने से पता चलता है कि टॉल्सटॉय समाज में अवैध सम्पर्क को प्रोत्साहन देना तो दूर—अखण्ड ब्रह्मचर्य्य की सलाह देते हैं। वह लिखते हैं—

"हमारे समाज में युवा अपने जीवन का सब से अच्छा भाग यों-ही खो देते हैं। पुरुष किसी सुन्दर-सी छोकरी की तलाश में रहता है और उससे विवाह करना या गुप्त सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, और लड़की पुरुष को मोहने और फिर उससे विवाह करने या गुप्त प्रेम करने की ताक में लगी रहती है। इस प्रकार अधिकांश मनुष्यों की स्त्रियाँ एक ऐसे काम में नष्ट हो जाती हैं, जो निष्फल तो है ही, हानिकर भी है। हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि हम अपने प्रेम पात्र से (विवाह के द्वारा या वैसे ही) सम्बन्ध स्थापित करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। चाहे वह लक्ष्य मानव-समाज की सेवा हो, चाहे मातृ-भूमि की, चाहे विद्वत्ता या कला की—ईश्वर की सेवा तो बहुत बड़ी चीज़ है। जहाँ मनुष्य प्रेम में पड़ा—उसके लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा उपस्थित हुई। वैसे हम गद्य और पद्य-द्वारा इसके विपरीत प्रमाणित करने की चाहे जितनी चेष्टायें करें। ईसाई धर्म का आदर्श भगवान् से और मनुष्य से प्रेम करना है। वासनापूर्ण प्रेम और विवाह अपने स्वार्थ की सेवा के लिए किया जाता है। और

ईश्वर और मानव-समाज की सेवा में बाधा उपस्थित करता है, इसलिए ईसाई दृष्टि-कोण से यह पतन और पाप है।"

टॉल्सटॉय ने इस निबन्ध में मानव-समाज के लिए इतना ऊँचा आदर्श रक्खा है कि उसकी प्राप्ति असम्भव है। मनुष्य में वासना का उत्पन्न होना उसका एक स्वाभाविक गुण है। ईसा और बुद्ध की भाँति सभी संसार से उपराम नहीं हो सकते। स्वयं टॉल्सटॉय भी उपराम न हो सके और अपनी वृद्धावस्था में भी सहवास करते रहे। उनके इसी परस्पर-विरुद्ध कार्य्यों ने रूस के विद्वत्समाज को क्षुब्ध कर दिया। इससे तो उनका वह दृष्टि-कोण अधिक संगत था, जो उन्होंने अपनी पुस्तक 'What I Believe' में व्यक्त किया है। वह कहते हैं—

"ईसा की शिक्षा का मर्म मेरी समझ में अब आया। ईसा का कथन है कि आरम्भ से ही ईश्वर ने स्त्री और पुरुष को उत्पन्न किया। इन दोनों का एक होना आवश्यक है, इसलिए मनुष्य को उन्हें अलग न करना चाहिये, जिन्हें भगवान् ने ही एक बनाया है। मेरी समझ में अब आया कि एक-पत्नी-व्रत या एक-पति-व्रत स्वाभाविक मानवी विधान है। जो युवावस्था को पहुँच चुके हैं, उन्हें ब्रह्मचर्य्य धारण नहीं करना चाहिए। मैं पति को पत्नी से अलग करने में सहायक नहीं हो सकता। मैं विवाह कहलाये जानेवाले सम्बन्ध और स्वतन्त्र सम्पर्क में किसी प्रकार का भेद करने को तैयार नहीं हूँ। मैं किसी प्रकार के ऐसे सम्पर्क को पूरा और धर्मपूर्ण समझूँगा।"

इन दो परस्पर-विरुद्ध दृष्टि-कोणों ने टॉल्सटॉय के भक्तों में भी एक प्रकार की हलचल उत्पन्न करदी। टॉल्सटॉय के आश्रमों में स्त्री-पुरुष से अलग रक्खे जाते थे । 'क्रूज़र सोनाटा' के निकलते ही इन आश्रमों की बालिकायें काम-वासना से विकल होने लगीं। जिन स्त्रियों को विवाह से विशेष चाव नहीं था, वें इस पुस्तक के पढ़ने के बाद विवाह-सम्बन्ध को अत्यन्त गर्हित समझने लगीं। धर्म-याचक तो टॉल्सटॉय की आलोचना करने की ताक में लगे ही रहते थे। उन्होंने गिर्जों में और पैम्फ़लेटों के द्वारा इस पुस्तक की ख़ूब ख़बर ली। सब की यही धारणा थी कि टॉल्सटॉय ने सीमा का व्यतिक्रम कर दिया। यदि अन्धाधुन्ध बच्चे पैदा करना बुरा है तो बिल्कुल पवित्र रहना और भी बुरा है—शायद अस्वाभाविक और अप्राकृत है। जिस प्रकार हमें भूख लगती है, नींद लगती है, उसी प्रकार हम में काम-वासना जाग्रत होती है। यदि यह कामेच्छा अस्वाभाविक है तो उत्पन्न क्यों होती है ? पुरुष-स्त्री का सम्बन्ध न अवैध है न अधार्मिक। ईसा ने कहा है—'बढ़ो और बढ़ाओ।' टॉल्सटॉय कहते हैं—'बस, बहुत हुआ।' बस, इसी प्रकार की आलोचनाओं की वर्षा चारों ओर से होने लगी। वैसे 'क्रूज़र-सोनाटा' ने अच्छा प्रभाव भी डाला । एक विद्वान् का तो कथन है कि मैं अपनी युवावस्था में भ्रष्ट होने ही वाला था कि इस पुस्तक को पढ़कर सम्हल गया। मगर धर्मयाचक टॉल्सटॉय के पीछे हाथ धोकर पड़ गये।

आर्कविशप निकानोर ने तो यहाँ तक कहा कि टॉल्सटॉय सारे सभ्य-समाज की भित्ति ही उलट देना चाहता है। ऐसे आदमी को नष्ट कर देना आवश्यक है। आर्कविशप ने यह भी कहा कि हमारे राजवंश को दाम्पत्य-प्रेम और ईसाई-धर्म के पालन में आदर्श समझना चाहिये। अच्छा होता, यदि आर्कविशप रूस के राजवंश का ज़िक्र न करते।

टॉल्सटॉय का दाम्पत्य-जीवन सुखी नहीं रहा। यह आश्चर्य की बात थी कि पति-पत्नी में इतना वैमनस्य रहते हुए भी टॉल्स-टॉय ऐसी लोक-प्रसिद्ध रचनायें तैयार कर सके। सम्भव है, उनका स्त्री-सहवास-सम्बन्धी दृष्टिकोण इस प्रकार के दाम्पत्य-जीवन के द्वारा ही बना हो। एक बात निश्चित् है। टॉल्सटॉय आरम्भ से अन्त तक कामुक रहे। उनकी पत्नी की डायरी हाल ही में छपी है। उसमें उन्होंने लिखा है कि वह अपने पति की काम-वासना के कारण कितनी दुःखी रहती थीं। टॉल्सटॉय पर काम सवार होता था, और उसकी तृप्ति के बाद उन्हें पश्चात्ताप होता था। एक बार एक लेखक से ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा—

"बस, इन स्त्रियों के सम्बन्ध में मैं एक बार सच्ची-सच्ची बात कह दूँगा और फिर अपने कफ़न में कूदकर ऊपर से ढकना बन्द कर लूँगा।"

उन्हें स्त्री-जाति से ही कुछ ऐसी ही अरुचि उत्पन्न होगई थी।

'क्रूज़र सोनाटा' का प्रकाशन रूस में निषिद्ध था, पर वह

गुप्त रूप से लिथो टाइप में खूब चल रही थी। टॉल्सटॉय की धर्मपत्नी ज़ार से मिलने गईं और उससे प्रकाशन की अनुमति चाही। सम्राट् ने कहा—"काउण्टेस, आप इस पुस्तक को छपाने के लिए इतनी आतुर क्यों हो रही हैं? पुस्तक गृहस्थ और विवाह की भित्ति को उखाड़ फेंकनेवाली है, आपको तो उससे अरुचि होनी चाहिये थी।"

काउण्टेस का उत्तर था कि वह पुस्तक का प्रकाशन कुछ इसलिए नहीं कराना चाहतीं कि वह टॉल्सटॉय की पत्नी हैं, बल्कि इसलिये कि उन्होंने उनकी अन्य सारी रचनायें भी प्रकाशित कराई हैं। सम्राट् ने पुस्तक के प्रकाशन की अनुमति दे दी, पर अन्य पुस्तकों की जिल्द में। बाद को अन्य प्रकाशकों ने उसे अलग भी छाप डाला। सम्राट् ने यह देखकर अप्रसन्नतापूर्वक कहा—"यदि मुझे वह स्त्री भी धोखा दे सकती है तो मैं नहीं जानता, मुझे किसका विश्वास करना चाहिए।"

* * *

टॉल्सटॉय और ज़ार

एक स्थान पर यह दिखाया जा चुका है कि टॉल्सटॉय सेना और सैनिक जीवन के विरुद्ध थे। वस्तुतः वह भौतिक बल के प्रयोग के ही विरुद्ध थे और ईसा की शिक्षा के विरुद्ध समझते थे। टॉल्सटॉय को जीवन-सम्बन्धी तथ्यों के निर्धारित करने में ईसा के उस उपदेश ने बहुत प्रभावित किया था, जिसमें कहा गया है: "तुम लोगों को ईंट का जवाब पत्थर, और घूँसे का जवाब लातों से देने की सलाह दी गई है, परन्तु मैं तुम से कहता हूँ कि बुरे का प्रतिरोध मत करो, बल्कि जो तुम्हारे दाहिने गाल पर चाँटा मारे, उसके आगे बाँया गाल भी कर दो, और जो कोई तुम्हारे साथ ज़ोर-ज़ुल्म करके तुम्हारा कोट छीन ले, तुम उसे अपना चोग़ा भी उतारकर दे दो।" इसी धार्मिक उपदेश का विकास टॉल्सटॉय ने अपने निजी ढङ्ग से किया।

वह अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि कोई आदमी कोई काम नहीं करना चाहता तो उससे वह काम कराने के लिए उसे विवश मत करो, और न उसे उस काम के करने से ही रोको, जो वह करना चाहता है।

टॉल्सटॉय अपने सत्याग्रह को क्या प्रकृत रूप देना चाहते थे, यह तो उन्होंने कहीं स्पष्ट नहीं किया, पर उन्होंने 'What I believe' में अपना दृष्टिकोण समझाने की चेष्टा की है। वैसे सत्याग्रह-सम्बन्धी धारणा किसी-न-किसी रूप में सारे देशों में और सारे वर्गों में हमेशा से मौजूद रहती आई है। किसी ज़माने में रोम में ईसाइयों को शेरों का आहार बनाया जाता था। वे ईसाई अपना धर्म छोड़ने की अपेक्षा चुपचाप काल के गाल में चले जाना अच्छा समझते थे। भारतवर्ष में तो गौराङ्ग महाप्रभु का कथानक प्रसिद्ध ही है। गुरु गोविन्दसिंह के लड़कों की, और बाबा मनीसिंह की कहानियाँ भी इतिहास-प्रसिद्ध हैं। जब कोई व्यक्ति या वर्ग या जाति किसी दूसरे व्यक्ति या वर्ग या जाति के किसी विशेष कर्म को अनुचित समझता है और उसके इस कर्म का भौतिक प्रतिरोध करने की उसमें सामर्थ्य नहीं होती तो वह उस अत्याचार का सविनय प्रतिरोध करने को तैयार हो जाता है। उसके इस कार्य में उसे अतुल बलिदान करना पड़ता है, पर अन्त में जय उसी की होती है।

मनुष्य की मनुष्यता में, उसके हृदय के गुणों में टॉलस्टॉय

करने को तैयार नहीं किया, पर दुखोबोर सम्प्रदाय-जैसे वर्गों में सत्याग्रह और ईसाई-धर्म के पालन की प्रवृत्ति देखकर हर्ष अवश्य प्रकट किया। जब 'What I believe' के लिखने के बाद उनके पास ऐसे पत्र आने लगे, जिनसे पता चला कि अन्य देशों में भी कुछ वर्ग या सम्प्रदाय सत्याग्रह को अपना धर्म बनाए हुए हैं तो उनके आनन्द का वारापार न रहा। टॉलस्टॉय को हत्या और प्रतिहिंसा से बड़ी घृणा थी। वह अपने देश के दलित किसानों का उद्धार चाहते तो थे, पर क्रान्तिकारी दल की कार्यवाही से उन्हें तनिक भी सहानुभूति न थी। जब दुखो-बोर-सम्प्रदाय ने उनकी और अपने नेता वेरिजिन की शिक्षाओं से प्रभावित होकर अपने हथियार जला दिए तो टॉलस्टॉय को बड़ा आनन्द हुआ, पर जब एलेक्ज़ेण्डर द्वितीय को क्रान्ति-कारियों ने मार डाला तो उनकी व्यथा-वेदना की सीमा न रही।

उस ज़माने में रूसी जनता को न बोलने की स्वतन्त्रता थी, न लिखने की। देश के शासन में उनका कोई हिस्सा न था। आरम्भ से ही रूसी जनता विदेशी या देशी आक्रमणों से सताई जाती रही। रूस में दर्जनों विभिन्न नस्लें हैं और बीसियों प्रकार की ज़बानें हैं। सब के रीति-रिवाज अलग-अलग। ये नस्लें आपस में एक-दूसरी को घृणा और अविश्वास की दृष्टि से देखती आ रही हैं। अब कहीं जाकर थोड़ा-सा सामञ्जस्य स्थापित हो सका है। मुख्य रूस को सदियों तक इधर पोलों का

अत्याचार सहना पड़ा, उधर वे तातारों को लूट-खसोट के शिकार बनते रहे। जब रूस के ग्राण्ड ड्यूकों ने इधर पोलों पर विजय पाई और उधर तातारों को वश में किया तो अपने लोगों पर अत्याचार करना शुरू कर दिया। भारत की भाँति रूस में भी सरकार की बागडोर हमेशा से एक आदमी के हाथ में रहती आई। यदि वह शासक अच्छा हुआ तो प्रजा को थोड़ी-सी शान्ति मिल गई, नहीं तो वह बराबर शासक के अत्याचारों की या उन्माद की शिकार बनती रही। फिर भी बीच-बीच में रूस को विदेशियों के आक्रमण सहने पड़ते थे। १६१२ में पोलों ने मॉस्को को अपने पंजे के नीचे दबा रक्खा था। १७०६ में स्वेड रूस के अन्तराल में पहुँचे। १८१२ में फ्रेंच लोग मॉस्को पर चढ़ दौड़े। इस प्रकार रूसी जनता को वास्तविक शान्ति कभी नसीब न हुई। यदि लोग अपना असन्तोष प्रकट करते तो उन्हें पीस दिया जाता। इस मामले में ज़ार की सरकार विशेष रूप में 'वीर' सिद्ध होती। पर जहाँ बाहरी आक्रमण होता, सेनायें प्रजा को अरक्षित छोड़कर भाग निकलतीं। इसी अवस्था का अन्त करने के लिए रूस में दिसम्बरियों का और अराजकतावादियों का जन्म हुआ। ये लोग सरकारी अत्याचारों से, कुशासन से, इतने ऊब गये थे और शासन-व्यवस्था पर से उनका विश्वास कुछ ऐसा उठ गया था कि वे किसी प्रकार की सरकार की आवश्यकता ही न समझते थे। ख़ैर, ये लोग तो अतिवादी थे। पर एक दूसरा दल था, जो तत्कालीन शासन-व्यवस्था का अन्त

करके जनता की शासन-व्यवस्था स्थापित करना चाहता था। यह दल ऐसी व्यवस्था चाहता था, जिसमें प्रजा को अपना दुःख-दर्द रोने का अवसर मिले। पर रूसी जनता उच्छृङ्खल शासन की कुछ ऐसी अभ्यस्त होगई थी कि क्रान्ति के बाद भी जब अस्थाई सरकार क़ायम हुई तो उसमें लेनिन ने ज़ारशाही की 'तीसरा विभाग'-नामक व्यवस्था को क़ायम रक्खा; हाँ, उसका नाम अवश्य बदल दिया गया। ज़ारशाही के ज़माने में इस 'तीसरे विभाग' के साथ में बहुत बड़ी शक्ति थी। इस विभाग का मुखिया अन्य मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार काम करने को बाध्य नहीं था और अकेले ज़ार के निकट ही उत्तरदायी था। इस विभाग के कर्मचारी प्रेस का गला घोट सकते थे, जन-सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा सकते थे, और जिसे चाहे, गिरफ़्तार कर सकते थे। लेनिन ने इस विभाग को पहले 'चेका' का नाम दिया—फिर 'राजनीतिक विभाग' बना दिया, पर इस विभाग का काम वही रहा, जो पहले था। यह विभाग अब भी मौजूद है और ज़ारशाही के ज़माने में जिस कठोरता से काम लेता था, उससे अधिक कठोरता से काम लेता है।

क्रान्तिकारी दल ने ज़ारशाही के ज़माने में इसी उच्छृङ्खलता का अन्त करने की चेष्टा की। इस दल के सदस्य सारे देश में फैले हुए थे। इन्हें सैकड़ों की संख्या में साइबेरिया या उत्तरी रूस में भेज दिया जाता था और बहुतों को फाँसी दे दी जाती थी, पर फिर भी ये लोग अपने लक्ष्य पर डटे हुए थे।

१८८१ की पहली मार्च को इन लोगों ने ज़ार एलेक्ज़ेण्डर द्वितीय की हत्या कर डाली। टॉल्सटॉय इस हत्याकाण्ड से बेतरह उद्वेलित हो उठे। उन्होंने ज़ार के पुत्र को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने षड्यन्त्रकारियों को क्षमा करने की सलाह दी। वह इस हत्या को तो बुरा समझते ही थे, हत्याकारियों को दण्ड देने के बहाने मार डालने को और भी बुरा समझते थे। इस अवसर पर उनके हृदय में दयाभाव उठ रहे थे, इसका कुछ आभास उन्होंने उस पत्र में दिया था, जो उन्होंने कई वर्ष बाद लिखा था। इस पत्र में वह लिखते हैं—

"हत्याकारियों के मुक़दमे ने और उन्हें प्राणदण्ड देने की तैयारियों ने मेरे हृदय में प्रबल संस्कारों की बाढ़ उत्पन्न कर दी। मैं उन्हें अपने मस्तिष्क से न निकाल सका और विशेषकर उन लोगों के विचार से तो मैं पीछा छुड़ा ही नहीं सका, जो उन हत्याकारियों की हत्या करने की तैयारी कर रहे थे। ज़ार एलेक्ज़ेण्डर तृतीय के विषय में मैं विशेष रूप से सोच रहा था। उन हत्यारों को क्षमादान देकर ज़ार को जितना आनन्द होता, यह मेरे लिये कितनी सीधी-सादी बात थी! मुझे विश्वास न होता था कि उन्हें सचमुच प्राणदण्ड दिया जायगा, पर तो भी उनके हत्यारों के सम्बन्ध में सोच-सोचकर व्यथित हो रहा था। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक दिन मैं भोजन के बाद इस तरह के विचार अपने मस्तिष्क में लिए चमड़े के सोफ़ा पर सो गया और स्वप्न में देखने लगा कि वे हत्यारे नहीं,

मैं .खुद फाँसी पर चढ़ाया जा रहा हूँ और ज़ार और ज़ार के कर्मचारी नहीं, मैं .खुद फाँसी दे रहा हूँ। बस, इसी विभीषिका में मैं उठ बैठा और फ़ौरन ज़ार को पत्र लिख डाला।"

उस पत्र के पढ़ने से पता चलता है कि टॉल्सटॉय अहिंसा और क्षमा के सिद्धान्तों में कितनी प्रगाढ़ आस्था रखते हैं। यदि वह इस विषय में इतने उद्वेलित न हुए होते, तो यह पत्र कभी न लिखते। इस पत्र के पढ़ने से ज्ञात होगा कि ईसा की क्षमा की शिक्षा ने उनकी आत्मा को किस प्रकार अपनालिया था। वह लिखते हैं—

"मैं ठहरा एक नगण्य और तुच्छ, दुर्बल और निकम्मा आदमी, और तिस पर भी चला हूँ रूसी-सम्राट् को एक ऐसे मामले में सलाह देने, जो जटिलता में अपना सानी नहीं रखता। मैं जानता हूँ कि यह बात बड़ी विचित्र, अनुचित और दुस्साहसपूर्ण है, पर फिर भी मुझ से लिखे बिना नहीं रहा जाता। मैं देहात के एकान्त से लिख रहा हूँ और मुझे निश्चित सूचना नहीं है। मैं जो कुछ जान सका हूँ, पत्रों और किम्व-दन्तियों के आधार पर; इसलिए मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, सम्भव है, वह असम्बद्ध हो। यदि ऐसा हो, तो श्रीमान् मुझे अपने आत्म-विश्वास के लिए क्षमा करें और इस बात पर विश्वास करें कि मैं जो यह लिख रहा हूँ, सो कोई इसलिए नहीं कि मैं अपने-आपको बड़ा समझता हूँ, बल्कि इसलिए कि मैं अपने-आपको मनुष्य-जाति के प्रति इतना दोषी समझता

हूँ कि यदि मैं वह न करूँ, जिसे करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, तो मैं एक दूसरा अपराध करूँगा।

"मेरा पत्र उन पत्रों की भाँति न होगा, जो साधारणतया सम्राट् को लिखे जाते हैं, ख़ुशामद और असत्यता से भरे हुए। मेरा पत्र तो एक मनुष्य-द्वारा दूसरे मनुष्य को लिखा गया पत्र-मात्र होगा। मैं आपका ज़ार और मनुष्य की हैसियत से कितना आदर करता हूँ, सो बिना चिकनी-चुपड़ी बातों के ही प्रकट हो जायगा।

"आप के पिता को जो एक रूसी ज़ार और सहृदय मनुष्य थे, जिन्होंने हमेशा अपनी प्रजा का मङ्गल किया और कल्याण चाहा, उनके निजी शत्रुओं ने नहीं, बल्कि वर्तमान शासन-प्रणाली के शत्रुओं ने इस धारणा-द्वारा प्रेरित होकर कि वे मनुष्य-जाति की भलाई कर रहे हैं, अमानुषिक ढँग से घायल किया और मारडाला। अब आपने अपने पिता का स्थान लिया है और आपके सामने ये शत्रु मौजूद हैं, जिन्होंने आपके पिता के जीवन को विषमय बना दिया था और जिन्होंने उनकी हत्या की। वे आप के भी शत्रु हैं; क्योंकि आपने अपने पिता का स्थान लिया है। वे इस कल्पित धारणा-द्वारा प्रेरित होकर कि वे मनुष्य-जाति का मङ्गल कर रहे हैं, आपकी भी हत्या करना चाहते होंगे। आपके हृदय में अपने पिता के हत्यारों से बदला लेने की इच्छा काम कर रही होगी। इस विचार ने कि इस प्रकार का बदला लेने की लोग-बाग आप से

आशा रखते होंगे, आपको विशेष रूप से प्रभावित कर दिया होगा; परन्तु आपका प्रमुख कर्त्तव्य ज़ार की हैसियत से नहीं, मनुष्य की हैसियत से है। यदि आप ईसा की शिक्षा का पालन करें, तो यह प्रभाव नष्ट हो जाएगा। मैथ्यू की पुस्तक में लिखा है (४३-४)।

"तुमने सुना है कि यह कहा गया है कि तू अपने पड़ौसी से प्रेम कर, और अपने शत्रुओं से घृणा कर; परन्तु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि तुम अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो, जो तुमसे घृणा करें तुम उनका उपकार करो, अपने स्वर्गस्थ पिता की सन्तान बनो……।"

मैं यह जानता हूँ कि मनुष्य ईसा की शिक्षा का पालन नहीं कर रहे हैं और मैं स्वयं इससे भी ओछे विचारों-द्वारा प्रभावित हो चुका हूँ। इसलिए आपसे इतने बड़े आत्म-बल की आशा रखना सचमुच दुःसाहस का काम है। पर तो भी आप बुराई के बदले भलाई करिए, यही आपको शोभा देता है। वैसे मानवी और दैवी-विधानों का उल्लंघन करनेवालों को क्षमा प्रदान करना और बुराई के बदले में भलाई करना बहुत से आदमियों को आदर्शवाद या विक्षिप्ततापूर्ण कार्य दिखाई पड़ेगा, और बहुत-से आदमी मेरी इस सलाह को बुरे उद्देश से प्रेरित होकर दी गई सलाह समझेंगे। वे लोग कहेंगे, "क्षमा मत करिए, बल्कि इस व्याधि का अन्त कर दीजिये। आग को बुझा देना ही अच्छा है"; परन्तु यदि उनसे अपनी सम्मति को प्रमाणित करने

को कहा जाय, तो निश्चय ही बुरा उद्देश्य और अविवेक उन्हीं में दिखाई पड़ेगा।

कोई बीस वर्ष हुए, कुछ लोगों ने विशेषकर नवयुवकों ने जो वर्तमान अवस्था और वर्तमान शासन-प्रणाली से घृणा करते थे, एक दल बनाया। उन्होंने किसी नवीन अवस्था की या अव्यवस्था की बात सोची, और समाज के वर्तमान ढाँचे को आग लगाने, डाका डालने और हत्या करने के ईश्वर-विरुद्ध कर्मोंद्वारा बदलने की चेष्टा की। इस व्याधि का अन्त करने की चेष्टा पिछले बीस वर्ष से जारी है, पर इन लोगों की संख्या घटने के बजाय उत्तरोत्तर बढ़ रही है। अब ये लोग इतने निर्दय और दुस्साहसी होगए हैं कि राज्य के अस्तित्व के लिए खतरा सिद्ध हो रहे हैं। इस महा-व्याधि का सामना करने-वालों में दो दल हैं, एक तो वह जो इस गले-सड़े अंग को काटकर फेंकना ठीक समझता है, दूसरा दल इस व्याधि का स्वतः ही अन्त कराना चाहता है। यह दूसरा दल उदार दल है जो अशान्ति को दूर करना और विरोधियों के आक्रमण को निकम्मा करना चाहता है। जो लोग इस व्याधि को बाहरी दृष्टि से देखते हैं उनके आगे केवल दो प्रकार के उपाय हैं—विनाश का उपाय (फांसी, पुलिस, सेंसर-आदि इत्यादि) और उदार नीति (आंशिक स्वतन्त्रता, दण्ड में नर्मी से काम लेना और शासन-व्यवस्था को मूर्त रूप देना, ये दोनों हीबेकार सिद्ध हुई हैं, इसलिए ईश्वरीय इच्छा की अवहेलना करना ठीक नहीं है।

आपकी और रूस की अवस्था एक ऐसे रोगी की अवस्था है जिसकी दशा खतरनाक हो चली हो। ज़रा-सी भूल, कोई हानिकर या अनावश्यक औषधि रोगी का विनाश कर सकती है। इसी प्रकार हत्यारों को निर्दयतापूर्वक प्राणदण्ड देने से या जनता के प्रतिनिधियों की सभा करने से हमारे सारे भविष्य में आकाश-पाताल का अन्तर हो सकता है। अपराधियों का मुक़दमा जारी है और इस पक्ष में ही इन तीन मार्गों में से एक मार्ग का अनुकरण किया जायगा। बुराई का बदला बुराई से चुकाना, या उदार नीति का अवलम्बन करना (इन दोनों मार्गों का अनुकरण किया जा चुका है, पर फल कुछ नहीं निकला), या ज़ार-द्वारा मनुष्य की हैसियत से परमात्मा की इच्छा की पूर्ति करना।

राज राजेश्वर! किसी सांघातिक और भयङ्कर भूल ने क्रान्तिकारियों के हृदय में आपके पिता के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न कर दी, जो इस भयङ्कर हत्या के रूप में फलित हुई। यह घृणा मृत ज़ार के साथ ही दफ़नाई जा सकती है। क्रान्तिकारी अपने एक दर्जन सहयोगियों के प्राणदण्ड के लिए उन्हें दोषी ठहरा सकते हैं, यद्यपि यह अनुचित है। पर स्वयं आपके हाथ ख़ून से रँगे हुए नहीं हैं। आप तो अपनी स्थिति के निर्दोष शिकार हैं। आप अपने और ईश्वर के समक्ष पवित्र और निर्दोष हैं। पर आप ऐसे स्थान पर खड़े हैं जहाँ से दो मार्ग जाते हैं। कुछ ही दिनों में यदि उन लोगों की विजय हुई जो कहते हैं कि ईसाई

शिक्षा और सत्य केवल अनर्गल प्रलाप है और राजनीतिक जीवन में रक्त बहाना अनिवार्य्य है, और मृत्यु का दौर-दौरा होना ही चाहिए, तो आप हमेशा के लिए भगवान् के उस पवित्र मार्ग से भटककर राज्य की आवश्यकता के उस मार्ग को पकड़ लेंगे जहाँ सब-कुछ, भगवान् और मनुष्य के विधानों का उलङ्घन तक न्याय्य है।

यदि आपने अपराधियों को क्षमा न किया, बल्कि उन्हें फाँसी पर चढ़ा दिया तो सैकड़ों में से केवल तीन-चार आदमी कम हो जायेंगे, पर उनका स्थान तीस या चालीस ले लेंगे, और आप हमेशा के लिए ऐसा मौक़ा अपने हाथ से खोदेंगे जिसके द्वारा आप ईश्वर की इच्छा पूरी कर सकते। फिर आप हमेशा के लिए राज्यहित कहलाई जानेवाली बुराई के गर्त में गिर पड़ेंगे।

क्षमा करिये! बुराई का बदला भलाई से दीजिये, और आपके इस कार्य का यह परिणाम होगा कि सैकड़ों में से दर्जनों आदमी शैतान की उपासना छोड़कर ईश्वर की ओर झुक जायेंगे। हज़ारों-लाखों आदमियों के हृदय राज-सिंहासन-द्वारा, ऐसे भीषण अवसर पर इस उदारता को देखकर हर्ष के मारे नाच उठेंगे।

सम्राट! यदि आप यह करें कि इन लोगों को अपने पास बुलाकर इन्हें कुछ रुपया दे दें और अमेरिका भेज दें, और एक विज्ञप्ति निकलवा दें जिसका शीर्षक हो 'पर मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम अपने शत्रुओं से प्रेम करो,' तो मैं यह तो कह नहीं

सकता कि दूसरे क्या कहेंगे, परन्तु मैं आपका कुत्ता और ग़ुलाम होजाऊँगा! मैं जिस प्रकार इस समय रोरहा हूँ, उसी प्रकार जब कभी आपका नाम सुनूँगा। भावावेश से रोपड़ूँगा। मगर मैं यह क्यों कहता हूँ कि 'दूसरे क्या कहेंगे?' आपके शब्दों को पढ़कर सारे रूस में प्रेम और दया की बाढ़ आजायेगी......।

इन क्रान्तिकारियों का मुक़ाबला इनकी हत्या और विनाश करके नहीं किया जासकता। मैं इनकी संख्या की बात नहीं कह रहा हूँ, बल्कि उनके आदर्श का ज़िक्र कर रहा हूँ। इनसे तो केवल आत्म-बल-द्वारा ही लड़ा जासकता है। इनका आदर्श है सब को भर पेट भोजन मिले, सब को स्वच्छन्दता और बराबरी का दर्जा मिले। इनसे मोर्चा लेनेवाले का आदर्श इनसे भी ऊँचा और व्यापक होना चाहिए। फ्राँस और इँगलैण्ड में भी इन लोगों के विरुद्ध संघर्ष जारी है, और असफल सिद्ध होरहा है।

'केवल एक ही ऐसा आदर्श है जिसके द्वारा इनका मुक़ाबला किया जा सकता है—ख़ुद इन्हीं का आदर्श, प्रेम, क्षमा और—बुराई के बदले भलाई करने का आदर्श। ये लोग इस आदर्श को ग़लत तरीक़े पर अपनाते हैं। जहाँ राज-सिंहासन की ऊँचाई से क्षमा और ईसाई-धर्म-सुलभ प्रेम का शब्द निकला कि देशभर में ईसाई शासन का दौर-दौरा हो जायगा और जिस व्याधि ने सारे देश को व्यथित कर रक्खा है उसका अंत बात-की-बात में हो जायगा। जिस तरह आग में मोम का पुतला जल जाता है, उसी तरह ईसा के आदेशों क

पालन करनेवाले मनुष्य ज़ार के आगे क्रान्तिकारी षड्यंत्रों का अंत हो जायगा।'

कहना व्यर्थ है कि ज़ार ने टॉल्सटॉय की प्रार्थना पर कान नहीं दिया। राज-सिंहासन और जनता में कशमकश चल रही थी। देखें, कौन जीतता है। एलेक्ज़ेण्डर तृतीय अपने उच्छृङ्खल शासनाधिकार में कोई कमी करने को तय्यार न था। हत्यारों को फाँसी दे दी गई। इस फाँसी ने टॉल्सटॉय के हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव डाला कि कई वर्ष बाद उन्होंने अपने एक मित्र से कहा :—

'वीभत्सतापूर्ण कर्म का बदला वीभत्सता से देने का परिणाम यह होता है कि और वीभत्सता उत्पन्न होती है। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब मैंने उस भयंकर व्यथाकारी और अमानुषिक कृत्य के पाँच अपराधियों की फाँसी की बात सुनी; तो मेरी आत्मा काँप उठी। न मुझे नींद आती थी, न चैन मिलता था; मैं पीटर्सबर्ग जाकर वह काम करना चाहता था, जो पुराने ज़माने में लोग किया करते थे; मैं ज़ार के सामने जाकर उनसे फाँसी रुकवादेने की प्रार्थना करना चाहता था। कोई शक्ति मुझे बलात् यह तरीक़ा अपनाने को बाध्य कर रही थी, दुर्बलता ने मुझे आधुनिक ढँग ही अपनाने को विवश किया। मैंने पत्र लिखा और उसमें अपना कलेजा निकाल कर रखने की चेष्टा की, पर मेरे हृदय में जो तूफ़ान उठ रहा था उसे यह पत्र भी व्यक्त न कर सका।'

'बाद को जब मुझे पता चला कि फाँसी दी जा चुकी, तो मेरे नेत्रों के आगे वे सुनी और लटकी हुई लाशें बलात् आने लगीं। स्त्री सोफ़ी पेरोवर्का की मूर्ति मुझे विशेषरूप से व्यथित करने लगी। मुझे स्पष्ट भास होने लगा कि किस प्रकार उसने फँदे में अपनी गर्दन डाली होगी, किस प्रकार गाँठ को टँटुये पर रक्खा होगा और पैरों के नीचे से स्टूल के हटाये जाने पर किस प्रकार धक्के के साथ उसकी गर्दन फँदे में भिंच गई होगी और उसके शरीर का सारा रक्त उसके चेहरे पर आकर जमा होगया होगा। मेरा गला घुटने लगा और अपने आप-को यह विश्वास दिलाने के लिये कि मेरा गला सचमुच तो नहीं घुट गया, मैं बार-बार मुँह की लार पीने लगा। मैंने वे फटे हुये नेत्र देखे जो किसी भयंकर पदार्थ के निर्मम सन्नि-कर्ष पर विस्मय-चकित-भाव से ताक रहे होंगे। कैसा वीभत्स काण्ड था······कैसा वीभत्स······ !'

टॉलसटॉय कहते हैं कि उस अवसर पर उन्हें उस रीछ की याद आई, जिसने एक बार उन पर आक्रमण किया था। रीछ ने अपने पञ्जे उनके कन्धे पर गड़ा रक्खे थे, पर उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा नहीं हो रही थी। मृत्यु के सन्निकर्ष ने उन्हें भय-रहित बना दिया था। वह कहते हैं कि वास्तविक, सर्व-भक्षिणी मृत्यु भयावह नहीं है, चारों ओर शान्ति और निस्तब्धता का वातावरण दिखाई देने लगता है।

१८८१ के मई मास में वह एक जेलखाना देखने गये, जहाँ

उन्हें पन्द्रह कालूगावासी देहाती दिखाई पड़े जो दो महीने से पासपोर्ट न होने के कारण जेल में बन्द थे। उन्हें कालूगा भेजकर मुक्त किया जा सकता था, पर वहाँ केवल इसलिए नहीं भेजा गया कि कालूगा का जेलखाना भरा हुआ था, मानों यह भी देहातियों का क़सूर हो। इसी महीने की २६ तारीख को उन्होंने एक मित्र से वाद-विवाद किया। उनकी स्त्री तो उनके विरुद्ध थीं ही। एक बोला—'ईसा की शिक्षा के अनुसार चलना असम्भव है।'

टॉल्सटॉय ने कहा—'तो क्या उनकी शिक्षा मूर्खतापूर्ण है ?'

उत्तर मिला—'नहीं, मगर अव्यवहार्य्य अवश्य है।'

'तो आपने उनकी शिक्षा पर आचरण करने की चेष्टा भी की है ?'

'नहीं, मगर वह है अव्यवहार्य्य !'

इसी मास में उनका दो और मित्रों से वाद-विवाद हुआ। एक ने मुस्कराकर कहा—'उन्हें (क्रान्तिकारियों को) फाँसी पर लटका देना चाहिये !'

टॉल्सटॉय ने ज़बान बन्द रक्खी, पर उनके मन में आरहा था कि इसका कॉलर पकड़कर इसे बाहर फेंक दें।

रूसी क्रान्तिकारियों और राजनैतिक आन्दोलन करनेवालों पर कैसे अत्याचार किये जाते थे, इसका कुछ आभास एक स्थान पर दिया जा चुका है। ये अत्याचार मात्रा और संख्या

में उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये। टॉल्सटॉय सरकारी कर्मचारियों की तीखी आलोचना करते और उनके लेख विदेशी पत्र छापते। बीस वर्ष बाद उन्होंने ज़ार निकोलस को पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने उच्छृङ्खल शासन-प्रणाली की और रूसी ईसाई धर्म की आलोचना करते हुए कहा। उन्होंने कहा कि 'इस समय रूस को इन दोनों में से किसी की भी ज़रूरत नहीं है।' उन्होंने ज़ार को भाई के नाम से सम्बोधित किया। उन्होंने लिखा—

'प्रिय भाई, मेरी समझ में आपको सम्बोधन करने का यही ढङ्ग ठीक है; क्योंकि मैं यह पत्र आपको ज़ार की हैसियत से नहीं, भाई के नाते लिख रहा हूँ। दूसरा कारण यह भी है कि मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हूँ और ऐसा प्रतीत होता है, मानों मैं यह पत्र दूसरी दुनिया में लिख रहा हूँ। मैं जब तक आपके कार्य-कलाप के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट न कर दूँ, तब तक नहीं मरना चाहता…।'

एकान्त-शासन के सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि जब रूसी लोग ज़ार को ईश्वर का अवतार समझते थे तब तो इस प्रकार की शासन-व्यवस्था ठीक थी, पर अब ठीक नहीं है; क्योंकि अब सब जान गये हैं, या थोड़ी-सी शिक्षा पाते ही जान जायँगे कि अच्छा ज़ार एक आकस्मिक सौभाग्य-मात्र है और ज़ार पागल और दैत्य भी हो सकते हैं, जैसे जान चतुर्थ और पाल। इसके अतिरिक्त ज़ार चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह तेरह करोड़ आदमियों पर अकेला शासन नहीं कर सकता।

जनता पर शासन तो वे लोग करते हैं जो ज़ार को घेरे रहते हैं और जिन्हें प्रजा के मङ्गल की अपेक्षा अपने पद का ध्यान अधिक रहता है।

'एकान्त-शासन-व्यवस्था एक दक़ियानूसी व्यवस्था है जो मध्य-अफ्रीका के लोगों के लिए उपयुक्त हो सकती है; क्योंकि वहाँ के लोग अवशिष्ट संसार से अलग हैं, पर रूसी लोगों के लिए यह व्यवस्था उपयुक्त नहीं है। रूसी लोग अवशिष्ट संसार के साथ ही ज्ञान सम्पन्न हो रहे हैं। इसलिए इस प्रकार की शासन-व्यवस्था और इस प्रकार का सनातनी-धर्म केवल हिंसा और बल-प्रयोग, घेर और वैध उपायों के अन्त के द्वारा, फाँसी और धार्मिक पीड़न के द्वारा, पुस्तकों और पत्रों के निषेध और कुर्की के द्वारा, विकृत-शिक्षा और इसी प्रकार के अन्य दूषित और निर्दयतापूर्ण उपायों के द्वारा क़ायम रक्खे जा सकते हैं।'

आपका शासन-काल अब तक इसी प्रकार के कार्य-कलाप में बीता है। इसका आरम्भ आपके उस उत्तर से हुआ जो आपने अभिनन्दन-पत्र के बदले में दिया था और जिससे सारे रूस में सनसनी मच गई थी। तब आपने जनता की वैध अभिलाषा को 'अविवेकपूर्ण वहम' कहकर पुकारा था। आपने फ़िनलैण्ड के लिए क़ानून बनाये, चीनियों पर छापे मारे, हेग-कान्फ्रेन्स की योजना की, जिसके फल स्वरूप आपको अपनी सेना बढ़ानी पड़ी। आपने उत्तरदायित्वपूर्ण शासन को संकुचित किया, और तानाशाही को प्रोत्साहन दिया। आपने शराब जैसी ज़हर-

रीली चीज़ को सरकारी चीज़ क़रार दिया और सारे देश में विरोध होने पर भी अपराधियों को कोड़े लगाने की सज़ा देने का अविवेकपूर्ण क़ानून बहाल रक्खा। दमन के द्वारा जनता को दला तो जा सकता है, पर उन पर शासन नहीं किया जा सकता। वास्तव में वर्तमान-काल में जनता पर शासन करने का एकमात्र उपाय यही है कि उनके आन्दोलन का स्वयं मुखिया बनकर उन्हें बुराई के रास्ते से हटाकर भलाई की ओर लेजाया जाय और लक्ष्य-प्राप्ति में समर्थ बनाया जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि जनता को अपनी-अपनी माँगें प्रकट करने का मौक़ा दिया जाय और इन्हें सुनने के बाद उनकी उन माँगों को पूरा किया जाय जो अधिकांश जनता की मज़दूरों की माँगों से टक्कर खाती हों। देहातियों को अस्पृश्य न समझा जाय, वे जहाँ चाहें जाकर रहें, उन्हें शिक्षा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता दी जाय, धर्म-सम्बन्धी सुविधा दी जाय। सब से अधिक आवश्यक बात तो यह है कि १० करोड़ आदमियों को ज़मीन जोतने और बोने का समान अधिकार दिया जाय, जिमींदारी का अधिकार किसी को न रहे। सरकार का सब से बड़ा कर्तव्य यह है कि

रुष्ट कर दिया हो या पीड़ा पहुँचाई हो, तो मुझे क्षमा करिये, पर मेरे हृदय में रूसी जनता की ओर—आपकी मंगल कामना काम कर रही है।'

इस अवसर पर गाँधीजी-द्वारा लार्ड इर्विन को लिखे गये पत्र की बलात् याद आजाती है।

पर इस पत्र का ज़ार पर कोई प्रभाव न पड़ा और दमन-चक्र उसी प्रकार चलता रहा। १६०८ में टॉलसटॉय ने एक बड़ा ही ओजस्वी लेख लिखा 'मैं चुप नहीं रह सकता।' इस लेख में टॉलसटॉय ने क्रान्तिकारियों को सैकड़ों की संख्या में फाँसी पर चढ़ाने की सरकारी नीति का घोर विरोध किया। टॉलसटॉय के हृदय में हिंसा के प्रति तीव्र घृणा काम करती रहती थी। सरकारी दमन-नीति में उन्होंने हिंसा देखी और उसकी खरी आलोचना की। इस लेख से चारों ओर, सारे योरुप में सनसनी मच गई। लेख की प्रत्येक पंक्ति में टॉलसटॉय ने अपने हृदय का भावावेश निकालकर रख दिया था। टॉलसटॉय फाँसी और निर्वासन के समाचार पढ़ते और कलेजा मसोसकर रह जाते। इस लेख में उन्होंने लिखा—

'मैं स्वीकार करता हूँ, मुझे आशा है कि इन लोगों की करतूतों का भंडा फोड़ करने का वही परिणाम होगा जो मैं चाहता हूँ। मुझे उस वर्ग से निकाल दिया जायेगा जिसमें मैं रहता हूँ। इस समय मैं ऐसी अनुभूति कर रहा हूँ, मानों मैं स्वयं भी इन अपराधों के करनेवालों में शामिल होऊँ......।'

"मैं यह इसलिए लिख रहा हूं, और मेरी शक्ति में जो कुछ है, उसके अनुसार इसे यहाँ रूस में और विदेशों में फैलाने में कोई कोर-कसर न रक्खूँगा कि दो बातों में से एक बात होनी चाहिए, या तो ये अमानुषिक कृत्य बन्द हो जाएँ, या फिर उनसे मेरा सम्बन्ध विच्छेद हो जाए और मुझे जेल में डाल दिया जाय, जिससे मुझे यह तो सन्तोष रहे कि ये वीभत्स-काण्ड मेरी ओर से नहीं हो रहे हैं, या अन्य बारह या बीस देहातियों की भाँति मेरे गले में भी रस्सी डाल दी जाय और पैरों के नीचे से बेंच सरका दी जाय। यदि ऐसा हो जाय, तो फिर क्या कहना है।"

टॉल्सटॉय के इस ओजस्वितापूर्ण विरोध का परिणाम यह हुआ कि देश का सारा पठित-समाज उनके साथ हो लिया। इस लेख को देश के बहुत से पत्रों ने छापा और जुर्माना भरा। उस ज़माने में किसी के पास टॉल्सटॉय की पुस्तक या लेख निकल आता था, तो उसे गिरफ़्तार कर लिया जाता था। स्वयं टॉल्सटॉय के सेक्रेटरी को गिरफ़्तार करके निर्वासित कर दिया गया। जन-सभाओं में टॉल्सटॉय का नाम लेना अपराध समझा जाता था। गिरजों में प्रार्थनाओं के अवसर पर जहाँ ज़ार के चिरायु होने की प्रार्थना की जाती थी, वहाँ टॉल्सटॉय की मृत्यु की प्रार्थना की जाती थी। रूस के प्रधान धर्माचार्य का आदेश था कि जहाँ कहीं अवसर मिले, टॉल्सटॉय को धिक्कारा जाय। जब टॉल्सटॉय की अस्सीवीं वर्ष गाँठ मनाई गई, पादरियों ने

साहित्यिक टाल्सटाय

टॉल्सटॉय और उसके समकालीन लेखकों का एक व्यङ्ग-चित्र।

"मैं यह इसलिए लिख रहा हूं, और मेरी शक्ति में जो कुछ है, उसके अनुसार इसे यहाँ रूस में और विदेशों में फैलाने में कोई कोर-कसर न रक्खूँगा कि दो बातों में से एक बात होनी चाहिए, या तो ये अमानुषिक कृत्य बन्द हो जाएँ, या फिर उनसे मेरा सम्बन्ध विच्छेद हो जाए और मुझे जेल में डाल दिया जाय, जिससे मुझे यह तो सन्तोष रहे कि ये वीभत्स-काण्ड मेरी ओर से नहीं हो रहे हैं, या अन्य बारह या बीस देहातियों की भाँति मेरे गले में भी रस्सी डाल दी जाय और पैरों के नीचे से बेंच सरका दी जाय। यदि ऐसा हो जाय, तो फिर क्या कहना है।"

टॉल्सटॉय के इस ओजस्वितापूर्ण विरोध का परिणाम यह हुआ कि देश का सारा पठित-समाज उनके साथ हो लिया। इस लेख को देश के बहुत से पत्रों ने छापा और जुर्माना भरा उस ज़माने में किसी के पास टॉल्सटॉय की पुस्तक या लेख निकल आता था, तो उसे गिरफ़्तार कर लिया जाता था। स्व: टॉल्सटॉय के सेक्रेटरी को गिरफ़्तार करके निर्वासित कर दिय गया। जन-सभाओं में टॉल्सटॉय का नाम लेना अपराध समझा जाता था। गिरजों में प्रार्थनाओं के अवसर पर जहाँ ज़ार के चिरायु होने की प्रार्थना की जाती थी, वहाँ टॉल्सटॉय की मृत्यु की प्रार्थना की जाती थी। रूस के प्रधान धर्माचार्य का आदेश था कि जहाँ कहीं अवसर मिले, टॉल्सटॉय को धिक्कारा जाय जब टॉल्सटॉय की अस्सीवीं वर्ष गाँठ मनाई गई, पादरियों ने

टॉल्सटॉय को ईसा-शत्रु कहकर पुकारा। स्कूलों और म्युनिसिपेलिटियों को आदेश था कि टॉल्सटॉय के सम्मान में कुछ न किया जाय।

इतना सब होने पर भी अधिकारियों का यह साहस न होता था कि टॉल्सटॉय पर हाथ डालें; यद्यपि टॉल्सटॉय मन्त्रियों को, जजों को और पब्लिक-प्रॉसीक्यूटरों को बराबर लिख रहे थे कि असली अपराधी वह हैं, उन्हें पकड़ा जाय। ऐसा टॉल्सटॉय का प्रताप था।

* * *

युवक से एक स्थान के बारे में पूँछताँछ करने लगे। युवक ने इस देहाती को घृणा की दृष्टि से देखा और रास्ता लिया। इतने ही में उनकी गाड़ी भी आ लगी। टॉल्सटॉय गाड़ी में सवार होगये और गाड़ी चल दी। युवक के आश्चर्य्य का वारा-पार न रहा। उसने टॉल्सटॉय से परिचित एक-दूसरे व्यक्ति से पूछा—'यह बुड्ढा कौन था?'

'काउण्ट टॉल्सटॉय।'

'क्या! वही काउण्ट टॉल्सटॉय जो बड़े भारी लेखक हैं? ......हे भगवान्! मैं भी कैसा मूर्ख हूँ! उनके दर्शन-मात्र करने के लिये मैं क्या कुछ न दे डालता और मैं स्वयं ही कैसी अशिष्टता से पेश आया!' और उसने रुष्ट भाव से अपनी टोपी उतारकर ज़मीर पर पटक दी।

× × ×

एक बार टॉल्सटॉय-रचित एक प्रहसन को एक गाँव की नाटक-मण्डली ने खेलने का निश्चय किया। टॉल्सटॉय को पता चला तो वह भी खेल देखने गये। प्रहसन देहातियों पर ज़मींदारों-द्वारा अत्याचार करने के ऊपर था। दरवाज़े से द्वार-रक्षक ने उन्हें देहाती समझा और धक्का देकर हटा दिया, पर बाद को टॉल्सटॉय ने अपना परिचय दिया तो उन्हें भीतर जाने दिया। रिहर्सल हो रहा था। टॉल्सटॉय भी देखने लगे। एक अवसर पर देहातियों को ज़मींदार के कर्मचारी-द्वारा धकियाकर निकाले जाने का दृश्य था। ज़मींदार का कर्मचारी देहातियों

टॉल्सटॉय का रहन-सहन

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि टॉल्सटॉय रूसी देहाती की भाँति रहना-सहना पसन्द करते थे। तड़क-भड़क से उन्हें बड़ी घृणा थी। वह किसी प्रकार के दिखावे से दूर भागते थे। अपने देहातियों-जैसे वेष के कारण टॉल्सटॉय को कई बार अपमान भी सहना पड़ा। उन्हें देखकर कोई यह न कह सकता था कि यह टॉल्सटॉय हैं।

एक बार टॉल्सटॉय स्वास्थ्य-भंग होने पर अपनी पत्नी के साथ वायु-परिवर्तनार्थ निकले। वह अपने यास्नाया-नामक गाँव से सेवस्टापोल गये, जहाँ अपनी युवावस्था में वह सेना में काम कर चुके थे। यहाँ उनका स्वास्थ्य काफ़ी सुधर गया। यहाँ से वह याल्टा गये। रास्ते में पहले पड़ाव पर उन्होंने अपनी गाड़ी के घोड़े बदले। टॉल्सटॉय गाड़ी से उतरकर एक

युवक से एक स्थान के बारे में पूँछताँछ करने लगे। युवक ने इस देहाती को घृणा की दृष्टि से देखा और रास्ता लिया। इतने ही में उनकी गाड़ी भी आ लगी। टॉल्सटॉय गाड़ी में सवार होगये और गाड़ी चल दी। युवक के आश्चर्य्य का वारा-पार न रहा। उसने टॉल्सटॉय से परिचित एक-दूसरे व्यक्ति से पूछा—'यह बुड्ढा कौन था?'

'काउण्ट टॉल्सटॉय।'

'क्या! वही काउण्ट टॉल्सटॉय जो बड़े भारी लेखक हैं! ......हे भगवान्! मैं भी कैसा मूर्ख हूँ! उनके दर्शन-मात्र करने के लिये मैं क्या कुछ न दे डालता और मैं स्वयं ही कैसी अशिष्टता से पेश आया!' और उसने रुष्ट भाव से अपनी टोपी उतारकर ज़मीर पर पटक दी।

× × ×

एक बार टॉल्सटॉय-रचित एक प्रहसन को एक गाँव की नाटक-मण्डली ने खेलने का निश्चय किया। टॉल्सटॉय को पता चला तो वह भी खेल देखने गये। प्रहसन देहातियों पर ज़मींदारों-द्वारा अत्याचार करने के ऊपर था। दरवाज़े से द्वार-रक्षक ने उन्हें देहाती समझा और धक्का देकर हटा दिया, पर बाद को टॉल्सटॉय ने अपना परिचय दिया तो उन्हें भीतर जाने दिया। रिहर्सल हो रहा था। टॉल्सटॉय भी देखने लगे। एक अवसर पर देहातियों को ज़मींदार के कर्मचारी-द्वारा धकियाकर निकाले जाने का दृश्य था। ज़मींदार का कर्मचारी देहातियों

टॉल्सटॉय का रहन-सहन

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि टॉल्सटॉय रूसी देहाती की भाँति रहना-सहना पसन्द करते थे। तड़क-भड़क से उन्हें बड़ी घृणा थी। वह किसी प्रकार के दिखावे से दूर भागते थे। अपने देहातियों-जैसे वेष के कारण टॉल्सटॉय को कई बार अपमान भी सहना पड़ा। उन्हें देखकर कोई यह न कह सकता था कि यह टॉल्सटॉय हैं।

एक बार टॉल्सटॉय स्वास्थ्य-भंग होने पर अपनी पत्नी के साथ वायु-परिवर्तनार्थ निकले। वह अपने यास्नाया-नामक गाँव से सेवस्टापोल गये, जहाँ अपनी युवावस्था में वह सेना में काम कर चुके थे। यहाँ उनका स्वास्थ्य काफ़ी सुधर गया। यहाँ से वह याल्टा गये। रास्ते में पहले पड़ाव पर उन्होंने अपनी गाड़ी के घोड़े बदले। टॉल्सटॉय गाड़ी से उतरकर एक

जिसका काम यह था कि रास्ते में जो कोई देहाती मिले, उसे तीन-चार आने के पैसे दे दिया करे। रास्ते में उन्हें एक देहाती मिला, जो गाड़ी में जा रहा था।

देहाती बोला—'बुड्ढे, कहाँ चल दिया?'

'ऑप्टिन को।'

'तो क्या वहीं रहने का इरादा है!' और दोनों में बात-चीत आरम्भ होगई।

एक दिन रात को टॉल्सटॉय एक गाँव में पहुँचे और वहाँ के मुखिया के यहाँ ठहरे। मुखिया कोई पच्चीस गाँववालों को ईंटें थोपने की मज़दूरी चुका रहा था। वह उन्हें पूरी मज़दूरी देने के बजाय कतर-ब्योंत कर रहा था। इतने पर भी जब उसने पैसे चुका दिये तो गाँववालों से शराब पिलाने को कहा। बोला—'यह देखो, तीर्थ-यात्री भी आए हैं, इन्हें पिलाओ।'

टॉल्सटॉय यह सुनकर बाहर चले गये और अपने नौकर से बोले—'यह मुखिया भी कैसा दुष्ट है। अपनी ही आसामियों का ख़ून चूस रहा है!'

थोड़ी देर बाद मुखिया भी नशे में मतवाला बनकर वहाँ आ पहुँचा और वहीं लेट गया। इसी समय एक स्त्री गोद में बच्चा लिए वहाँ आकर उसके हाथ-पाँव जोड़ने लगी। बोली—'नज़र वसीलीविच, मुझ विधवा पर दया करो, नहीं तो मैं यहीं धरना देकर मर जाऊँगी।'

मुखिया बराबर हँसता रहा, और जब स्त्री बराबर हाथ-पाँव

को बड़ी शिष्टता के साथ निकालने लगा। टॉल्सटॉय से चुप न रहा गया। वह ज़ोर से बोले—"नहीं, यह अस्वाभाविक है। इन्हें उसी तरह धकियाकर निकालो, जिस तरह मुझे अभी-अभी धकियाकर बाहर निकाला गया था।" और उन्होंने आप बीती सारी कथा सुनाई।

× × ×

एक बार टॉल्सटॉय अस्वस्थ होने पर वायु-परिवर्तनार्थ गये। एक स्टेशन पर वह थककर स्टेशन के बाग़ में जा बैठे। इसी समय एक स्त्री वहाँ आई और कड़े स्वर में बोली—'यहाँ से निकल जाओ। यह बाग़ बड़े आदमियों के लिये है। तुम्हारे-जैसे लफ़ंगों के लिए नहीं है।'

टॉल्सटॉय उठकर चले आये।

जब गाड़ी के जाने का वक़्त हुआ तो उन्हें विदा करने एक बड़ी-सी भीड़ इकट्ठी होगई। अब कहीं उस स्त्री को अपनी भूल मालूम हुई। वह हाथ में गुलदस्ता लिए गाड़ी में घुसने की चेष्टा करने लगी। पर भीड़ इतनी थी कि वह अपनी चेष्टा में सफल न हो सकी। बेचारी वहीं से खड़ी-खड़ी कहती रही—'कोई काउण्ट से मेरी ओर से क्षमा माँग दे तो बड़ा अच्छा हो। मुझे क्या पता था कि यह काउण्ट टॉल्सटॉय है।'

× × ×

एक बार टॉल्सटॉय तीर्थ-यात्रा करने निकले—पैदल और देहाती जूते पहनकर। उनके साथ उनका नौकर सर्जी भी था,

दिया, जहाँ गन्दगी का कोई हद-हिसाब न था। नौकर ने महंत को एक रूबल दिया, तो इन्हें एक कमरा मिला; जिसमें एक चमार पहले से ठहरा हुआ था। चमार ज़ोर-ज़ोर से खर्राटे भर रहा था। टॉल्सटॉय ने कहा—'इसे जगाकर कहो, खर्राटे न भरे।'

नौकर ने उसे जगाया और कहा—'भले आदमी, तू मेरे बुड्ढे को भी सोने देगा या नहीं?'

चमार बोला—'तो मैं क्या करूँ? मैं तो ऐसे ही सोऊँगा।'

मगर वह फिर चुपचाप सोता रहा।

× × ×

दूसरे दिन टॉल्सटॉय प्रार्थना में शरीक हुए और फिर मठ का पुस्तकालय देखने गये। यहाँ उन्होंने देखा कि एक वृद्धा बाइबिल लेना चाहती है, पर उसके पास पैसे नहीं हैं। महन्त उसे पुस्तक देने के बजाय धार्मिक कहानी सुनाने लगा। टॉल्सटॉय ने डेढ़ रूबल निकालकर महन्त को दिया और बुढ़िया पुस्तक लेकर आशीर्वाद देती हुई चली गई। महन्त को बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि यह कङ्गाल दिखाई पड़नेवाला बुड्ढा अपना धन इस प्रकार बहा रहा है। उसने एक चेले को बुलाया जो टॉल्सटॉय को पहचानता था। बस, बात-की-बात में सारे मठ में खबर फैल गई कि टॉल्सटॉय आए हुए हैं। प्रधान मठाधीश ने उन्हें बुला भेजा। उन्हें सब से बढ़िया स्थान दिया गया मठाधीश से घण्टों बात-चीत होती रही।

× × ×

जोड़ती रही तो चिल्लाकर बोला—'यहाँ से दफ़ा हो, नहीं तो निकलवा दूँगा।'

टॉल्सटॉय ने स्त्री को अपने पास बुलाया और सारा वृत्तान्त पूछा। स्त्री ने कहा कि उसके पाँच पुत्र हैं और पंचायती ज़मीन में उसके पाँच हिस्से थे। मुखिया ने उसके तीन हिस्से तो हथिया लिये, और अब वह उसकी झोंपड़ी पर भी क़ब्ज़ा करना चाहता है। टॉल्सटॉय ने सारी बात लिखली और स्त्री को शान्त करते हुए कहा कि उसके लिए जो-कुछ सम्भव है, किया जायगा।

बस, अब मुखिया बिगड़ गया। बोला—'तुम्हारी इतनी मजाल! दिखाओ तुम्हारा पासपोर्ट कहाँ है?'

नौकर ने टॉल्सटॉय का पासपोर्ट बण्डल में से निकाला। मुखिया बोला—'लड़के को बुलाओ, वह पढ़ना-लिखना जानता है। पीटर्सबर्ग में कोचवानी की है कि भाड़ झोंका है।'

मुखिया का लड़का आया, पासपोर्ट पढ़ा और सहमे हुए ढँग से पिता के कान में कुछ कहा। मुखिया बात-की-बात में वहाँ से काफ़ूर होगया और फिर दिखाई न पड़ा।

टॉल्सटॉय बोले—'कैसे दुःख की बात है कि इस तरह के आदमियों को मुखिया चुना जाता है।'

× × ×

जब तीर्थ-स्थान ऑप्टिन आया तो रात होगई थी। महन्त ने इनकी वेश-भूषा देखी तो इन्हें साधारण-सा स्थान ठहरने को

दिया, जहाँ गन्दगी का कोई हद-हिसाब न था। नौकर ने महंत को एक रूबल दिया, तो इन्हें एक कमरा मिला; जिसमें एक चमार पहले से ठहरा हुआ था। चमार ज़ोर-ज़ोर से खर्राटे भर रहा था। टॉल्सटॉय ने कहा—'इसे जगाकर कहो, खर्राटे न भरे।'

नौकर ने उसे जगाया और कहा—'भले आदमी, तू मेरे बुड्ढे को भी सोने देगा या नहीं?'

चमार बोला—'तो मैं क्या करूँ! मैं तो ऐसे ही सोऊँगा।'

मगर वह फिर चुपचाप सोता रहा।

× × ×

दूसरे दिन टॉल्सटॉय प्रार्थना में शरीक हुए और फिर मठ का पुस्तकालय देखने गये। यहाँ उन्होंने देखा कि एक वृद्धा बायबिल लेना चाहती है, पर उसके पास पैसे नहीं हैं। महन्त उसे पुस्तक देने के बजाय धार्मिक कहानी सुनाने लगा। टॉल्सटॉय ने डेढ़ रूबल निकालकर महन्त को दिया और बुढ़िया पुस्तक लेकर आशीर्वाद देती हुई चली गई। महन्त को बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि यह कङ्काल दिखाई पड़नेवाला बुड्ढा अपना धन इस प्रकार बहा रहा है। उसने एक चेले को बुलाया जो टॉल्सटॉय को पहचानता था। बस, बात-की-बात में सारे मठ में खबर फैल गई कि टॉल्सटॉय आए हुए हैं। प्रधान मठाधीश ने उन्हें बुला भेजा। उन्हें सब से बढ़िया स्थान दिया गया मठाधीश से घण्टों बात-चीत होती रही।

× × ×

एक बार टॉल्सटॉय रूस के प्रसिद्ध उपन्यासकार तुर्गनेव से मिलने गये। वह नियत दिन से एक दिन पहले ही पहुँचे, इसलिए स्टेशन पर तुर्गनेव की कोई सवारी न मिली। टॉल्सटॉय वहीं से एक गाड़ी किराये करके चले। ड्राइवर अँधेरे में रास्ता भूल गया। फलतः टॉल्सटॉय तुर्गनेव के घर रात के ए५ बजे पहुँचे। इस अवसर पर तुर्गनेव के साथ कवि पोलोनकी भी ठहरा हुआ था। उसने गाड़ी की गड़गड़ाहट सुनी तो बाहर आया। देखा, एक देहानी गाड़ी पर से उतर रहा है। कवि ने टॉल्सटॉय को वीस वर्ष पहले देखा था। तब से अब में ज़मीन-आस्मान का अन्तर था, इसलिए वह उन्हें पहचान न सका।

पर टॉल्सटॉय ने पोलोनकी को पहचान लिया था। बोले—'यह पोलोनकी हैं क्या?'

तब कहीं कवि को मालूम पड़ा। दोनों गले मिले। इतने ही में तुर्गनेव भी आगया और तीनों विद्वानों ने गर्मागर्म बहस करनी शुरू कर दी। बहस की उत्तेजना में टॉल्सटॉय के कान और गर्दन तक लाल हो जाती थी, पर अब उनमें युवा-काल-जैसी असहिष्णुता न थी। कवि का कहना है—'मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ कि टॉल्सटॉय का नया जन्म हुआ है।'

× × ×

एक बार टॉल्सटॉय अपने एक मित्र से मिलने गये। फैशन वही देहाती था। जब द्वार खटखटाया तो भीतर से नौकरानी निकली। देखा, एक गाँववाला खड़ा है। टॉल्सटॉय

को सामने के दरवाज़े से आने पर ख़ूब झिड़कियाँ मिलीं। इतना दुस्साहस ! जाओ, पीछे के दरवाज़े से जाओ।

टॉल्सटॉय चुपचाप चले आये।

× × ×

टॉल्सटॉय को घोड़े पर चढ़ने का बड़ा शौक़ था और इस प्रकार उनका व्यायाम भी हो जाता था। एक दिन उनके पास एक सरकारी अफ़सर आया। बोला—'लोगों को तो आप दरिद्रता का पाठ पढ़ाते हैं, पर स्वयं घोड़े की सवारी करते हैं।'

'मगर घोड़ा बुड्ढा है।'

'फिर भी है तो क़ीमती।'

टॉल्सटॉय ने कुछ और कहा, और अफ़सर लज्जित होकर चला गया। पर अफ़सर की बात टॉल्सटॉय के कलेजे के पार होगई। उस दिन से उन्होंने घोड़े की सवारी करना छोड़ दिया।

× × ×

अपनी युवावस्था में टॉल्सटॉय अपने विचारों का प्रतिपादन बड़े उत्तेजित भाव से किया करते थे। तड़क-भड़क से उन्हें हमेशा से ही घृणा थी। तुर्गनेव से उनका कुछ मनमुटाव होगया था। दोनों के हितचिन्तकों ने दोनों का मेल कराने के लिए आमन्त्रित किया। तुर्गनेव ने अपनी कन्या की शिक्षा का ज़िक्र किया और कहा कि वह पेरिस में पढ़ रही है और निर्धनों को पुराने कपड़े सीकर भेजती है।

टॉल्सटॉय ने पूछा—'और आप यह अच्छी बात समझते हैं ?'

'निश्चय ही; इससे दाता को निर्धनों की दैनिक आवश्यकताओं का पता लग जाता है।'

'और मेरी राय में किसी बनी-सजी लड़की का चीथड़े सीना परले सिरे का पाखण्ड है।'

'कृपा करके ऐसी बात न कहिए।'

'क्यों न कहूँ, मेरा यही विश्वास है।'

'तो आपका यह विचार है कि मैं अपनी लड़की को बुरी शिक्षा दे रहा हूँ ?'

'इसमें क्या शक है ?'

टॉल्सटॉय की यह बात सुनते ही तुर्गनेव आग-बगूला हो बोला—'यदि तुम ऐसी बात करोगे तो तुम्हारा सिर तोड़ दूँगा।'

टॉल्सटॉय ने उसे द्वन्द्व-युद्ध के लिए चुनौती दी, पर फिर मामला रफ़ा-दफ़ा होगया। किन्तु दोनों के मन का मैल बहुत दिनों बाद धुला।

× × ×

टॉल्सटॉय को लोक-प्रदर्शन से बड़ी घृणा थी। पुश्किन रूस का बड़ा भारी लेखक हुआ है। उसका मृत्यु-दिवस मनाने के लिए एक सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में टॉल्सटॉय शरीक होते तो उसकी रौनक़ और भी बढ़ जाती। इधर तुर्गनेव और टॉल्सटॉय का मनमुटाव भी दूर होगया था।

तुर्गनेव ने टॉल्सटॉय को राज़ी करने का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया। वह उनके घर गया। उद्यान में टहलते-टहलते पुश्किन के मृत्यु-दिवस का ज़िक्र भी चला। इसी सिल्सिले में तुर्गनेव ने अपने आने का उद्देश्य भी बता दिया।

टॉल्सटॉय ने सभा में शरीक होने से साफ़ इन्कार कर दिया। दोनों में बड़ी बहस हुई। भीतर से काउण्टेस निकलकर आईं। देखा, दोनों लेखक बहस में लगे हुए हैं। टॉल्सटॉय ने सभा में शरीक होने से इन्कार करके तुर्गनेव को हमेशा के लिए अपने-आपसे दूर कर दिया। उनसे एक और बड़ा लेखक मिलना चाहता था, पर तुर्गनेव ने टॉल्सटॉय की ओर से उसका भी मन फेर दिया।

× × ×

एक बार टॉल्सटॉय टूला के गवर्नर से मिलने गए। गवर्नर तो न था, पर उनके अफ़सर ने उनकी बड़ी आव-भगत की; 'हुज़ूर', 'सरकार' की झड़ी लगा दी। जब टॉल्सटॉय वापस जाने लगे तो अफ़सर ने उन्हें रेल का टिकट तक न लेने दिया। पूछा—'श्रीमान्, स्पेशल डिब्बा तैयार कराया जाय?' टॉल्सटॉय ने अफ़सर को निराश करना उचित न समझा। यद्यपि वह हमेशा तीसरे दर्जे में सफ़र किया करते थे। उन्होंने कहा—'दूसरा दर्जा ठीक रहेगा।'

इतना बड़ा लेखक और दूसरा दर्जा! अफ़सर के आश्चर्य का वारापार न रहा।

टॉलस्टॉय और पोपलेट

पाठक पढ़ ही चुके होंगे कि टॉलस्टॉय ने ईसाई-धर्म और ईसाई-शिक्षा के निजी अर्थ लगाकर ईसाई धर्माचार्यों को किस प्रकार रुष्ट कर दिया था। टॉलस्टॉय की खरी आलोचना से अधिकारीवर्ग तो संतप्त रहते ही थे, पादरी लोग भी बेचैन थे। उधर उन्होंने भगवान् के अस्तित्व में प्रगाढ़ और नित्य विश्वास प्रकट करके रूस और यूरोप के विद्वानों को असन्तुष्ट कर दिया था। उस ज़माने में ईसाई-धर्म और आस्तिकता फ़ैशन के खिलाफ़ समझे जाते थे। इस प्रकार टॉलस्टॉय ने अपने चारों ओर शत्रु खड़े कर लिए थे। पर उन्हें विशेष खतरा पादरियों की ओर से था। पादरी भी उनसे भयभीत थे। यदि और कोई होता तो इस खरी आलोचना के लिए फाँसी पर चढ़ा दिया जाता, साइबेरिया भेज दिया जाता, या देश से निर्वासित कर

दिया जाता। पर काउण्ट टॉल्सटॉय पर हाथ डालने का साहस किसी को न होता था। भय था कि सारा यूरोप और अमेरिका रूस के विरुद्ध होजायँगे। टॉल्सटॉय मनुष्य-मात्र को अपना बन्धु समझते थे। उनके लिए सब धर्म समान थे और ईश्वर में आस्था रखना उतना ही सहज और सरल समझते थे, जितना उपन्यास लिखना या भोजन करना। वह ईश्वर की भक्ति के लिए धर्माचार्य्यों की शरण में गये और वहाँ उन्हें शान्ति न मिली। वहाँ उन्हें जिस संकीर्णता के दर्शन हुए, उससे उनका हृदय संतप्त हो उठा। उन्हें देहाती की धार्मिकता अधिक पसन्द आई। उन्होंने ईसाई-धर्म को एक नया रूप दिया।

भला रूसी पादरी यह सब कैसे सह सकते थे? उन्होंने टॉल्सटॉय को जनता की दृष्टि में गिराने में कोई कोर-कसर न रक्खी। फिर भी जनता उन्हें अपना दीनबन्धु समझती रही। उधर टॉल्सटॉय का सरकार-विरुद्ध आन्दोलन जारी था। बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में सरकारी दमन-चक्र पूरे ज़ोरों पर था। जनता भी अपना असन्तोष खुल्लमखुल्ला प्रकट करने लगी थी। म्यूनिसिपैल्टियों की मीटिंगों में सदस्य विरोध व्यक्त करने लगे। स्कूलों और कॉलेजों में विद्यार्थियों के संगठन होने लगे। सरकार ने एक क़ानून बनाकर इन विद्यार्थियों को सिपाहियों में भर्ती होने को बाध्य किया। यूनीवर्सिटी के कुछ अण्डर-ग्रेजुएटों को तो सचमुच सिपाही बनने को लाचार होना पड़ा। इस पर सारे देश में सनसनी मच गई और पीटर्सबर्ग के कज़ान

टॉलस्टॉय और पोपलेट

पाठक पढ़ ही चुके होंगे कि टॉलस्टॉय ने ईसाई-धर्म और ईसाई-शिक्षा के निजी अर्थ लगाकर ईसाई धर्माचार्यों को किस प्रकार रुष्ट कर दिया था। टॉल्सटॉय की खरी आलोचना से अधिकारीवर्ग तो संतप्त रहते ही थे, पादरी लोग भी बेचैन थे। उधर उन्होंने भगवान् के अस्तित्व में प्रगाढ़ और नित्य विश्वास प्रकट करके रूस और यूरोप के विद्वानों को असन्तुष्ट कर दिया था। उस ज़माने में ईसाई-धर्म और आस्तिकता फ़ैशन के खिलाफ़ समझे जाते थे। इस प्रकार टॉलस्टॉय ने अपने चारों ओर शत्रु खड़े कर लिए थे। पर उन्हें विशेष खतरा पादरियों की ओर से था। पादरी भी उनसे भयभीत थे। यदि और कोई होता तो इस खरी आलोचना के लिए फाँसी पर चढ़ा दिया जाता, साइबेरिया भेज दिया जाता, या देश से निर्वासित कर

दिया जाता। पर काउण्ट टॉल्सटॉय पर हाथ डालने का साहस किसी को न होता था। भय था कि सारा यूरोप और अमेरिका रूस के विरुद्ध होजायेंगे। टॉल्सटॉय मनुष्य-मात्र को अपना बन्धु समझते थे। उनके लिए सब धर्म समान थे और ईश्वर में आस्था रखना उतना ही सहज और सरल समझते थे, जितना उपन्यास लिखना या भोजन करना। वह ईश्वर की भक्ति के लिए धर्माचार्य्यों की शरण में गये और वहाँ उन्हें शान्ति न मिली। वहाँ उन्हें जिस संकीर्णता के दर्शन हुए, उससे उनका हृदय संतप्त हो उठा। उन्हें देहाती की धार्मिकता अधिक पसन्द आई। उन्होंने ईसाई-धर्म को एक नया रूप दिया।

भला रूसी पादरी यह सब कैसे सह सकते थे? उन्होंने टॉल्सटॉय को जनता की दृष्टि में गिराने में कोई कोर-कसर न रक्खी। फिर भी जनता उन्हें अपना दीनबन्धु समझती रही। उधर टॉल्सटॉय का सरकार-विरुद्ध आन्दोलन जारी था। बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में सरकारी दमन-चक्र पूरे ज़ोरों पर था। जनता भी अपना असन्तोष खुल्लमखुल्ला प्रकट करने लगी थी। म्यूनिसिपैल्टियों की मीटिंगों में सदस्य विरोध व्यक्त करने लगे। स्कूलों और कॉलेजों में विद्यार्थियों के संगठन होने लगे। सरकार ने एक क़ानून बनाकर इन विद्यार्थियों को सिपाहियों में भर्ती होने को बाध्य किया। यूनीवर्सिटी के कुछ अण्डर-ग्रेजुएटों को तो सचमुच सिपाही बनने को लाचार होना पड़ा। इस पर सारे देश में सनसनी मच गई और पीटर्सबर्ग के कज़ान

कैथीड्रल के सामने जनता ने प्रदर्शन किया। पीटर्सबर्ग के गव-नंर क्लीगल्स ने क़ज़्ज़ाक़ों-द्वारा जनता को तित्तर-बित्तर करा दिया। जो लोग पिटे, उनमें एनेन्स्की-नामक लेखक भी था। बहुत-से आदमियों को गिरफ़्तार कर लिया गया। इस पर देश के गण्य-मान्य पुरुषों ने सरकारी नीति की ख़ूब आलोचना की। इनमें प्रिन्स व्याज़म्स्की भी था, जिसे बाद को ज़ार की डाँट-डपट सहनी पड़ी।

टॉल्सटॉय ने प्रिन्स को एक अभिनन्दन-पत्र दिया, जिस पर बहुत-से मान्य पुरुषों के हस्ताक्षर थे। अभिनन्दन-पत्र में प्रिन्स को इस सत्साहस के लिए और अपने पद का ध्यान न करके जनता का साथ देने के लिए बधाई दी गई थी। कहा गया था कि इसके लिए रूसी जनता प्रिन्स की हमेशा के लिए कृतज्ञ रहेगी। टॉल्सटॉय की इस कार्रवाही से अधिकारी-वर्ग और भी नाराज़ होगया। अब अधिकारियों को टॉल्सटॉय से कोई सहानुभूति न रही। पहले भी विशेष सहानुभूति न थी। बस, रूसी ईसाइयों के प्रधानाचार्य्य ने अपने शत्रु को कुचलने का यही अवसर सब से अच्छा समझा। उसने एक आदेश-पत्र जारी किया, जिसमें उसने लिखा—

'आजकल भगवान् ने एक नये ढोंगी को पैदा होने दिया है। इसका नाम काउण्ट लियो टॉल्सटॉय है। यह संसार-प्रसिद्ध लेखक है, जन्म से रूसी है, शिक्षा-दीक्षा से सनातनी है। पर इस आदमी ने अपनी बुद्धि के घमण्ड में आकर भगवान्

और प्रभु ईसा और उनके पवित्र सन्देश का विरोध करने का बीड़ा उठाया है। अब इस आदमी ने अपनी साहित्यिक शक्ति रूसी जनता के हृदय में से रूसी ईसाई-गिर्जा के प्रति आस्था-भक्ति को उखाड़ फेंकने में लगाई है……।

इसलिए गिर्जा इस आदमी को अपना सदस्य नहीं समझता और जब तक वह पश्चात्ताप न करेगा, सदस्य न समझेगा।'

'इस आदेश-पत्र से रूस-भर में सनसनी मच गई। पुस्तकालयों में से टॉल्सटॉय की रचनायें उठा दी गईं। समाचारपत्र उनका चित्र या उनका लेख न छाप सकते थे। एक मादक-द्रव्य-निषेधक सोसाइटी ने तो उनका नाम तक सदस्यों की फ़हरिस्त से काट दिया। डाकख़ानों और तारघरों में टॉल्सटॉय के साथ सहानुभूति प्रकट करनेवाले पत्र और तार पड़े रह जाते थे और उन्हें धिक्कारनेवाले पत्र और तार ठीक वक़्त पर पहुँचा दिए जाते थे। उधर टॉल्सटॉय की रचनाओं की माँग बढ़ी और लोग-बाग उनकी पुस्तकें लुक-छिपकर पढ़ने लगे।

जिस दिन यह आदेश प्रकाशित हुआ, उसी दिन टॉल्सटॉय पीटर्सबर्ग की सड़क पार कर रहे थे कि एक आदमी बोल उठा—'वह देखो, इन्सान के लिबास में शैतान!' यदि और कोई होता, और यदि सरकार की ओर से लोगों में इतना असन्तोष न फैला हुआ होता, तो उस पर भीड़ तत्काल पत्थर मारना शुरू कर देती। पर इस अवसर पर भीड़ ने इन्हें देखकर

तुमुल हर्ष-ध्वनि की। उधर अधिकारी भी टॉल्सटॉय को लोगों की निगाह में गिराने पर तुले हुए थे। पीटर्सबर्ग की प्रदर्शिनी में टॉल्सटॉय का चित्र टँगा हुआ था। अधिकारियों ने उसे हटवा दिया। पर स्कूल के लड़के टॉल्सटॉय को देखते तो आनन्द से विभोर हो जाते और हर्ष-ध्वनि करते। उनके पास पत्रों की झड़ी लग गई। टॉल्सटॉय जहाँ ठहरे हुए थे, उस मकान का विशाल सहन विद्यार्थियों, लड़कियों और मज़दूरों से ठसाठस भर गया। टॉल्सटॉय ने बाहर निकलकर सब को शान्त किया।

टॉल्सटॉय ने प्रधान धर्माचार्य्य को उसके आदेश का बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। वह कहते हैं—

'मेरी ये धारणायें चाहे किसी को रुष्ट करें, चाहे संतप्त करें, चाहे किसी के मार्ग में बाधक सिद्ध हों, चाहे कोई उनसे प्रसन्न हो या अप्रसन्न, मेरे लिए उनमें परिवर्तन करना उतना ही असम्भव है, जितना अपने शरीर में परिवर्तन करना। मैं अपना जीवन निजी ढङ्ग से व्यतीत करूँगा, ठीक जिस प्रकार मैं अपनी मौत मरूँगा (और वह घड़ी भी निकट आ रही है) इसलिए मैं उस भगवान के सामने, जहाँ से मैं आया हूँ, जाने की तैयारी करते समय अपनी धारणाओं को न बदलूँगा। मैं अपने धर्म को हमेशा के लिए अक्षरशः सत्य नहीं समझता, पर मैं किसी और ऐसे धर्म को नहीं जानता, जो मेरे विवेक और मेरे हृदय को उतनी अच्छी तरह संतुष्ट कर सके। यदि कोई

ऐसा धर्म मौजूद है, तो मैं उसे तुरन्त स्वीकार कर लूँगा; क्योंकि भगवान् तो सत्य का भूखा है। परन्तु मेरे लिए उस धर्म को इतनी मनोव्यथा भोगने के बाद दोबारा अपनाना उतना ही असम्भव है, जितना किसी पक्षी का अण्डे में से निकलकर फिर उसमें प्रविष्ट होना असम्भव है।'

टॉल्सटॉय के इस पत्र को देश में छापना तो क़ानून-विरुद्ध था ही, देश के बाहर भी क़ानून-विरुद्ध समझा गया। लीपज़िग में प्रकाशक डीडरिच और अनुवादक लौन फ़ैल्ड पर यह पत्र प्रकाशित करने के अभियोग में मुक़दमा चलाया गया, पर जज ने अभियुक्तों को रिहा कर दिया और कहा कि टॉल्सटॉय महात्मा हैं।

पर टॉल्सटॉय के हृदय पर इस बहिष्कार का बड़ा आघात लगा और उनका स्वास्थ्य भङ्ग होगया। कई बार उनके जीवन की आशा छोड़ दी गई। पर अन्त में उनका स्वास्थ्य सुधरा। डॉक्टरों और औषधियों में टॉल्सटॉय को कभी विश्वास न था। अब भी जब वह चंगे होने लगे तो एक दिन डॉक्टर से बोले—

'महोदय, मैं डॉक्टरों की बुराई हमेशा से करता आया हूँ। पर अब डॉक्टरों को भली प्रकार जानने के बाद मुझे मानना पड़ता है कि मैंने उनके साथ अन्याय किया। आप बड़े भले आदमी हैं और आपका विज्ञान आपको जो सिखाता है, वह सब अच्छी तरह जानते हैं, पर कसर की बात इतनी ही है कि विज्ञान स्वयं कुछ नहीं जानता।'

टॉल्सटॉय का घर तीर्थ-यात्रियों और भिक्षुओं से हमेशा घिरा रहता था और इसी कारण काउण्टेस टॉल्सटॉय से नाराज़ हो जाती थीं। आस-पास के देहाती उनसे सलाह-मशवरा लेने आते। सारे यूरोप और अमेरिका से खिंच-खिंचकर विद्वान् उनके दर्शनार्थ उनके गाँव में जाते। रूस के विद्वानों और लेखकों के लिए तो यास्ना तीर्थ-स्थान बना हुआ था। चित्रकार, संगीतज्ञ, मूर्तिकार, कवि, उपन्यास-रचयिता-आदि का उनके यहाँ मेला लगा रहता था। इन्हीं में एक फ्रेंच विद्वान् था। टॉल्सटॉय को उसका आना न भाता था और वह इन्हें अपने मिशन में अपना समर्थक बनाना चाहता था। वह चाहता था कि रूस और फ्रांस मिलकर जर्मनी को पीस दें। टॉल्सटॉय उसे देखते और उनके नेत्र अवसादपूर्ण ढँग से उसकी ओर जिज्ञासा के साथ जमे रहते। फ्रेंच विद्वान् को अपने आगमन के लिए बहाने गढ़ने पड़ते; क्योंकि वह जान गया था कि इस नर-संहारकारी मिशन में टॉल्सटॉय उसका साथ न देंगे।

निकोलस द्वितीय को अपना प्रसिद्ध पत्र लिखने के बाद से टॉल्सटॉय ने लिखना-पढ़ना एक प्रकार से बन्द कर दिया था। 'मैं चुप नहीं रह सकता' लिखने के बाद वह यदा-कदा अपनी डायरी में ही लिखकर संतुष्ट हो जाते थे। उधर पति-पत्नी में विग्रह की मात्रा दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। सन् १६१० में विग्रह ने विकराल रूप धारण कर लिया। उस ज़माने में टॉल्सटॉय बराबर बीमार रहते थे। पत्नी को वसीयत और रच-

नाओं से मिलनेवाले धन की चिन्ता थी। टॉल्सटॉय इस ओर से उपराम थे। एक दिन रात को उन्होंने अपने कमरे में खसखसाहट की आवाज़ सुनी। उन्होंने अन्दाज़ा लगा लिया कि काउण्टेस उनके काग़ज़-पत्र खखोड़ रही हैं। बस, उन्होंने उसी दम घर छोड़ने का निश्चय कर लिया। काउण्टेस के जाने के बाद टॉलसटॉय उठे, कुछ काग़ज़ लिए और अस्तबल का रास्ता लिया। मार्ग में वह अँधेरे के कारण गिर पड़े। फिर कोचवान को जगाकर वह चल पड़े। जब उनकी पत्नी को पता चला कि वह घर छोड़कर चले गये हैं तो उन्होंने आत्म-हत्या करने की चेष्टा की।

बाद को टॉल्सटॉय की एक पुत्री भी उनके पास आगई। टॉलसटॉय की अवस्था और भी खराब होगई। कई दिन तक मृत्यु की प्रतीक्षा में पड़े रहने के बाद अन्त में टॉलसटॉय का ६ नवम्बर १६१० को परलोक-वास होगया। सारे देश में शोक के बादल छा गए। जितने समाचारपत्र थे, काले बॉर्डरों के साथ निकले। ज़ार, डूमा और कौन्सिल ऑफ़ स्टेट ने रूस के इस महान् लेखक की मृत्यु पर शोक प्रकाश किया। थियेटर-हॉल बन्द कर दिए गए। पीटर्सबर्ग यूनीवर्सिटी टॉलसटॉय के दफ़नाने के दिन बन्द रही। देश-भर के स्कूल, कॉलेजों में मातम मनाया गया। जिस गाड़ी में उनकी लाश यास्ना ले जाई जा रही थी, वह हर स्टेशन पर रोकी गई और लाखों देहातियों ने उनका सम्मान किया। कफ़न को देहातियों ने और

टॉल्सटॉय के पुत्रों ने कंधा दिया। जलूस कोई एक मील लम्बा था। बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सब सुबकियाँ ले-लेकर रो रहे थे कि आज हमारा सच्चा हितैषी चल बसा।

टॉल्सटॉय जब तक जिए, जनता के होकर, दरिद्रनारायण के होकर जिये। उन्होंने जीवन-सम्बन्धी जो तथ्य निर्धारित किए, इन्हें निर्भीकतापूर्वक लोगों के सामने रक्खा। उनकी रचनाओं की एक-एक पंक्ति से मानव-जाति के प्रति प्रगाढ़ स्नेह टपकता है। उन्होंने तत्कालीन सरकार की कड़ी आलोचना की। यदि ज़ार अपने ख़ुशामदियों को एक ओर हटाकर, इस कुलीन कृषक की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाता तो वह अब भी शासन करता होता। टॉल्सटॉय संसार के सब से बड़े कलाकार, सब से बड़े आस्तिक और सब से बड़े अहिंसावादी थे। वह महात्मा थे, वह दीनबन्धु थे, वह सच्चे ईसाई और सच्चे धर्मात्मा थे।

❀ ❀ ❀

टॉल्सटॉय और गाँधी

टॉल्सटॉय और गाँधी—इन दोनों में से कौन बड़ा है और कौन छोटा—यह कहना असम्भव है। महर्षि टॉल्सटॉय जिस क्षेत्र में बड़े थे, उस क्षेत्र में महात्मा गाँधी ने प्रवेश करने की चेष्टा न की। हमारा मतलब उनकी साहित्यिक प्रतिभा से है। वैसे गाँधीजी संसार के परम सफल पत्रकारों में से हैं। उनकी अंग्रेज़ी की प्रशंसा बड़े-बड़े विद्वानों ने की है। उनके लेखों में प्रसाद-गुण जिस मात्रा में विद्यमान रहता है, उस मात्रा में बहुत कम लेखकों की रचनाओं में देखा जाता है। गाँधीजी ने जो लिखा, अमर होगया। उनके लेखों को पढ़ने के लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। मामूली-सा साक्षर व्यक्ति भी उनके लेखों को समझ सकता है। इसी में लेखक और पत्रकार की सफलता का रहस्य निहित है। टॉल्सटॉय और

गाँधी दोनों की रचनाओं में यही विशेषता है कि पाठक लेखक की आत्मा के तद्वत् दर्शन का दाता है। जटिल-से-जटिल विषय पर इन महापुरुषों की लेखनी उठी और उसे सहज-सरल और बोधगम्य बना गई।

ईश्वर के अस्तित्व का विषय हुआ तो उसे इस प्रकार समझाया कि देहाती और मज़दूर भी समझ सके। उसे समझने के लिए सेंट पॉल और शंकराचार्य्य की शरण लेने की ज़रूरत नहीं, जो संशयवादी इन दोनों महात्माओं की शरण में आए, बस, वह आस्तिक बनकर लौटे। सत्याग्रह का जटिल प्रश्न हुआ तो इस प्रकार से लोगों के सामने रक्खा कि लाखों, करोड़ों आदमी उनके पीछे हो लिए। स्वयं टॉल्सटॉय ने अपने सत्याग्रह-सम्बन्धी तथ्यों को प्रकृत रूप देने की चेष्टा कभी नहीं की, नहीं तो रूसी जनता भी उनके पीछे उसी प्रकार हो लेती, जिस प्रकार भारतीय जनता गाँधीजी के पीछे हो लेती है।

असहयोग के मामले में दोनों महात्माओं के सिद्धान्तों में मौलिक विरोध है। टॉल्सटॉय किसी भी प्रकार की सरकार के विरोधी न थे और टैक्स-आदि को दूषित समझते थे। वह सेना को बुरा समझते थे; क्योंकि सैनिक जीवन अनेक प्रकार के दूषणों को प्रोत्साहन देता है। सेना दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है। पुलिस की कोई आवश्यकता नहीं है। न्याय-विभाग में न्याय नहीं, अन्याय होता है। जेलों में आदमी सुधरते नहीं, बिगड़ते हैं। और इन सारी चीज़ों को प्रश्रय

देनेवाली सरकार है, इसलिए सरकार से असहयोग करना चाहिए। लोगों को किसी प्रकार की सरकार की आवश्यकता नहीं है। ज़मीनें किसी एक आदमी की सम्पत्ति न रहे, जिसे जितनी ज़मीन की ज़रूरत हो, ले, जोते। लोगों में ईसाई शिक्षा का, दया, धर्म, क्षमा और परोपकार का प्रचार किया जाय तो देश में चोर ही न रहें। कोई किसी पर अत्याचार ही न करे। सब धर्मात्मा बन जायें। धराधाम पर स्वर्ग आ जाय। न किसी से द्वेष, न किसी से वैर—सब एक-दूसरे से प्रेम करना आरम्भ कर दें। जब लोग एक-दूसरे से प्रेम करने लगेंगे तो फिर राष्ट्रीयता की आवश्यकता न रह जायगी, सब विश्व-बन्धुत्व के सूत्र में गुँथ जायँगे। न युद्ध होगा, न नये युद्ध के कारण उत्पन्न होंगे, राष्ट्रीय अपमान और स्वदेश-हित नाम की चीज़ें उड़ जायँगी, सब मानव-जाति के कल्याण में चिन्तित रहेंगे। इस ऊँचे आदर्श की उपलब्धि में कौन बाधक है? सरकार, धार्मिक असहिष्णुता और संकीर्णता। इसलिए सरकार का और पण्डे-पादरियों का विरोध करना और करते रहना चाहिए। सरकार को सुधारने से काम न चलेगा, उसका समूल उच्छेद होना ज़रूरी है। यही सारी बुराइयों की जड़ है। न यह होगी, न पण्डे-पादरियों को आश्रय मिलेगा। न बाँस होगा, न बाँसुरी बजेगी। सब ज्ञान-भाव से एक ईश्वर की उपासना करेंगे, सब एक-साथ मिलकर बैठेंगे। एक व्यापक विश्व-धर्म हो जायगा, संकीर्णता चली जायगी। न कोई किसी से लड़ेगा, न भिड़ेगा। बोलो,

विश्व-बन्धुत्व की जय! सारे संसार की जय !!

गाँधीजी भी विश्व-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व के उपासक हैं, पर वह बादलों में उड़नेवाले जीव नहीं हैं। वह बड़े भारी राज-नीति-विशारद हैं और जानते हैं कि किस समय पर क्या करना ठीक होगा। वह असहयोग के समर्थक थे और हैं—यदि यह सामूहिक रूप से सम्भव है। वह सरकार मात्र का विरोध करना नहीं चाहते, केवल इस सरकार का विरोध करना चाहते हैं। वह स्वाधीनता चाहते हैं, पर औपनिवेशक स्वराज्य से ही फ़िलहाल संतुष्ट हो जायँगे। वह स्थावर जङ्गम सम्पत्ति के विषय में टॉल्सटॉय की भाँति अल्पवहार्य्य सिद्धांत नहीं रखते। उनका कहना तो यही है कि ज़मींदारी-प्रथा को जो वर्तमान रूप दे दिया गया है, उसमें भौतुक सुधार हो। वह मिल-मज़दूरों-द्वारा मिलों पर अधिकार कराना नहीं चाहते। उन्होंने अनेक बार रूठे हुए मज़दूरों और चिढ़े हुए मालिकों का समझौता कराया है और कहा है कि इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। वह पुलिस को टॉल्सटॉय की भाँति अना-वश्यक नहीं समझते; क्योंकि वह जानते हैं कि पुलिस के बिना देश में सुव्यवस्था रखना असम्भव है। हाँ, वह वर्तमान ढङ्ग की पुलिस नहीं चाहते। वर्तमान पुलिस मालिक है, गाँधीजी नौकर चाहते हैं। गाँधीजी जानते हैं कि सब को अपना धर्म पालन करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, पर वह इस स्वतन्त्रता के नाम पर किसी भी जाति का अङ्ग-भङ्ग देखना सहन नहीं

कर सकते। उन्होंने देखा कि हरिजनों को पृथक् निर्वाचनाधिकार देकर हिन्दुओं के विरुद्ध एक नया गुट तैयार करने का मन्सूबा किया गया है; बस, उन्होंने एक प्रकृत कर्मयोगी की भाँति अपने प्राण सङ्कट में डाल दिए और जो बात बिल्कुल निश्चित-सी समझी जारही थी, उसे बात-की-बात में बदलवाकर दम लिया। गाँधीजी को जर्मन और अँग्रेज़ भी उतना ही प्रिय है, जितना भारतीय; पर वह केवल इसी कारण भारत पर जर्मनी या इँग्लैण्ड का शासन सहन न कर लेंगे। वह टैक्स के विरोधी नहीं हैं, वर्तमान प्रणाली के विरोधी हैं। वह इतनी बड़ी सेना नहीं चाहते और इस कारण सरकार के घोर विरोधी हैं। पर थोड़ी-सी सेना अवश्य चाहते हैं और उसे स्वदेश-हित के लिए आवश्यक समझते हैं। गाँधीजी प्रकृत राजनीति-विशा-रद हैं।

गाँधीजी ने अपने जीवन में कभी कोई उपन्यास नहीं लिखा, कभी कोई नाटक नहीं लिखा, कभी कोई कविता नहीं लिखी। टॉल्सटॉय की लेखनी में सरस्वती का वास था। वह संसार के सब से बड़े उपन्यासकार, सब से अधिक सफल कहानी-लेखक और अच्छे-खासे कवि थे। एक इसी बात में टॉल्सटॉय गाँधीजी से बढ़कर थे और गाँधीजी से ही क्यों, संसार के सारे उपन्यासकारों और कहानी-लेखकों से बढ़कर थे। उनके उप-न्यासों में, उनकी कहानियों में हम हैं, आप हैं, सारा संसार है। जो बातें उनके पात्र करते हैं, वही आपने की होंगी। जिस ढङ्ग

से कोई पात्र सोचता है, उसी ढङ्ग से कभी हमने भी विचारा होगा। टॉल्सटॉय की अनुभूति की शक्ति बड़ी ही तीव्र थी और मनोविज्ञान के वह आचार्य थे। गाँधीजी भी मनोविज्ञान के आचार्य्य हैं और उनकी अनुभूति की शक्ति भी बड़ी तीव्र है। पर जहाँ टॉल्सटॉय ने कल्पित पात्रों के द्वारा अपनी अनुभूति को लोगों के सामने रक्खा है, वहाँ गाँधीजी उसे अपने लेखों-द्वारा तद्वत् रख देते हैं।

अक्सर गाँधीजी को परस्पर-विरुद्ध बातें कह डालने का दोषी ठहराया जाता है। टॉल्सटॉय को भी इसी प्रकार का लाञ्छन मिला था। टॉल्सटॉय के सम्बन्ध में यह लाञ्छन कुछ हद तक ठीक भी है। विशेषकर उनके स्त्री-सहवास-सम्बन्धी विचारों में कई बार परिवर्तन हुआ। टॉल्सटॉय हमेशा से ही अतिवादी थे। एक बार उन्होंने यह निर्धारित किया कि स्त्री-सहवास वैध और अत्यन्त आवश्यक है। बच्चे पैदा करना ज़रूरी है और कृत्रिम उपायों-द्वारा प्रजनन-प्रतिरोध करना पाप है। सात-आठ वर्ष बाद ही वह कहने लगे कि स्त्री-सहवास अत्यन्त गर्हित है और इससे मनुष्य की शक्ति का क्षय होता है। इसलिए मनुष्य को स्त्री-प्रसंग से बचना चाहिए और अविवाहित ही रहना चाहिए। और जहाँ वह इस प्रकार के उपदेश दे रहे थे, वहाँ उनका काउण्टेस के साथ सह-वास पूर्ववत् जारी था और सो भी वृद्धावस्था में। टॉल्सटॉय में यह काम-शक्ति इतनी प्रबल थी कि काउण्टेस की डायरी में

एक जगह पाया जाता है कि वह उनकी वासना से बेतरह तङ्ग आगई थीं।

गाँधीजी ने कभी नहीं कहा कि बच्चे पैदा करना धर्म है, यद्यपि वह स्वयं कई पुत्रों के पिता हैं। न फिर बाद को उन्होंने यह कहा कि स्त्री-सहवास गर्हित कर्म है और इससे दूर रहना चाहिए। उन्होंने आरम्भ से ही कहा है कि प्रजनन-प्रतिरोध के लिए कृत्रिम उपाय काम में नहीं लाने चाहिएँ। वह अब भी यही कहते हैं। वह भी यह कहते हैं कि स्त्री-सहवास में स्त्री-पुरुष की शक्ति का क्षय हो जाता है और इसलिए वह नवयुवक-नव-युवतियों को एक-समान ब्रह्मचर्य्य की शिक्षा देते हैं। उनका जीवन आरम्भ से ही कठोर संयम के ढाँचे में ढला है। उन्होंने टॉल्सटॉय की भाँति कभी असंयत जीवन व्यतीत नहीं किया और इसके लिए उन्हें एक बार अपने एक मित्र के द्वारा लाञ्छित भी होना पड़ा। गाँधीजी ने कभी व्यभिचार नहीं किया, इसलिए उन्हें पश्चात्ताप करने की भी कभी आवश्यकता नहीं पड़ी। टॉल्सटॉय की डायरी पश्चात्ताप के उद्गारों से रँगी पड़ी है। गाँधीजी ने संयम का पाठ पढ़ाते हुए स्वयं कभी पर-स्त्री-सहवास नहीं किया। अब तो लगभग ३५ वर्ष से वह ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर रहे हैं। गाँधीजी जो कहते हैं, करते हैं और करते रहते हैं। टॉल्सटॉय कहते कुछ थे, करने कुछ और लगते थे। वासना के क्षणिक आवेश में आकर उन्होंने न-जाने कितनी बार अपना संयम भंग किया होगा और न-जाने कितनी

बार पश्चात्ताप के आँसू बहाये होंगे। गाँधीजी को कभी पश्चात्ताप के आँसू नहीं बहाने पड़े। उनका संकल्प हिमालय पर्वत की भाँति अचल और अटल है। वह ब्रह्मचर्य्य की शिक्षा देते हैं, पर जो युवा विवाह करना चाहें, उन्हें रोकते भी नहीं—चाहे वह स्वयं उनका पुत्र ही क्यों न हो। संयम के मामले में गाँधीजी टॉल्सटॉय क्या, पुराने ऋषियों से भी आगे हैं।

नैतिक बल के मामले में टॉल्सटॉय और गाँधी दोनों एक-दूसरे से बढ़कर हैं। इन्होंने जो बात बुरी समझी, कह डाली, चाहे किसी को बुरी लगी, चाहे भली। टॉल्सटॉय ने देश में दमन और फाँसी का दौरदौरा देखा तो तत्काल ज़ार को लताड़ा। जब इन्होंने देखा कि उनकी रचनायें पढ़नेवालों को सज़ा मिलती है तो उन्होंने भी प्रार्थना की कि उन पर मुक़दमा चलाया जाय। जब उन्होंने किसानों के फाँसी पर चढ़ाये जाने का समाचार सुना तो मन्त्रियों को और जजों को को लिखा कि मुझे भी फाँसी पर चढ़ा दिया जाय। गाँधीजी ने इस प्रकार के सत्साहस का अनेक बार परिचय दिया है। दक्षिण-अफ़्रीका में तो गोरों से प्राणों का भय रहने पर भी वह सत्याग्रह पर आरूढ़ रहे। उन्होंने भारत में पहले असहयोग और फिर सत्याग्रह-आन्दोलन आरम्भ करके अँग्रेज़ों की विश्व-व्यापिनी शक्ति को चुनौती दी। अपने इस सत्साहस के पुरस्कार-स्वरूप गाँधीजी को अनेक बार जेल जाना पड़ा, अनेक व्रत करने पड़े और अनेक मित्रों को रुष्ट करना पड़ा, पर जिस बात को वह असत्य

समझते थे, उसकी घोषणा करने से वह न चूके। गाँधीजी टॉल्सटॉय की भाँति सत्य-पथ के पथिक हैं और सत्य का मार्ग कुछ ऐसा कटीला है कि उस पर चलनेवाले को कष्ट भोगने पड़ते हैं।

टॉल्सटॉय की भाँति गाँधीजी के भी हथियार आत्म-बल के हथियार हैं। वह भी अपने साथ बुराई करनेवाले के साथ भलाई करना चाहते हैं। वह भी अहिंसा के पूर्ण उपासक हैं। एक बार टॉल्सटॉय से पूछा गया कि भेड़िये को मारना चाहिए या नहीं? टॉल्सटॉय ने उत्तर दिया—नहीं; क्योंकि एक बार संहार-कार्य्य आरम्भ करने के बाद फिर मारने का अन्त न रहेगा। गाँधीजी उतने अतिवादी नहीं हैं। हाल ही में गुजरात में प्लेग फैला। गाँधीजी वहाँ गये। उनसे पूछा गया कि चूहों को नष्ट करना चाहिए या नहीं? गाँधीजी ने कहा कि वैसे तो अहिंसा का व्रत यही सिखाता है कि उन्हें न मारना चाहिये; क्योंकि जीने का जितना अधिकार हमें है, उतना चूहों और पिस्सुओं को भी है, पर मैं ठहरा दुर्बल मनुष्य-मात्र, मुझे अपने जीवन की रक्षा की अधिक चिन्ता है, इसलिये प्लेग के चूहों को मैं नष्ट करना ही ठीक समझता हूँ। एक बार गाँधीजी ने अपने आश्रम में एक रुग्ण बछड़े को मरवाकर उसकी पीड़ा का अन्त कर दिया था। इस पर सारे हिन्दू-समाज में सनसनी मच गई, पर गाँधीजी तनिक भी विचलित न हुए। पता नहीं, टॉल्सटॉय पर यदि भेड़िया आक्रमण करता तो वह क्या करते, पर हमें इतना अवश्य याद है कि जब उन्हें अपने मकान की तलाशी

ली जाने की बात मालूम हुई तो उन्होंने आवेश में आकर कहा कि अच्छा हुआ, जो मैं घर मौजूद नहीं था, नहीं तो पुलीस को अपनी पिस्तौल का निशाना बनाने से न चूकता।

टॉल्सटॉय और गाँधी—दोनों की वाद-विवाद करने की प्रणालियाँ अगल-अलग हैं। टॉल्सटॉय ने जब-कभी वाद-विवाद किया, उत्तेजित होगये। वह जानते थे कि ईमानदारी से काम ले रहा हूँ, और जो-कुछ कह रहा हूँ, ठीक है; बस, इतना ही उनके लिए काफ़ी था। वह अपने प्रतिपक्षी की ईमानदारी और नेक-नीयती की बात बिल्कुल भूल जाते—आवेश में आ-जाते और कभी-कभी चीखने-चिल्लाने तक लगते। ऐसा मालूम होता है मानो किसी से लड़ाई होनेवाली हो। और लड़ाई हो भी जाती थी। गाँधीजी ने अपने प्रतिपक्षी को कभी नाराज़ नहीं किया। उनकी वह मनमोहिनी मुस्कराहट बड़े-से-बड़े विवाद-प्रिय को शान्त कर देती है। गाँधीजी की सफलता का यही रहस्य है कि यह जानते हुए भी कि प्रतिपक्षी के और उनके दृष्टिकोणों में ज़मीन-आस्मान का अन्तर है, वह सन्तोषपूर्वक उसका दृष्टिकोण सुनते रहेंगे, और बीच-बीच में ऐसा बात कहते रहेंगे जिससे उनका प्रतिपक्षी चौंक पड़ेगा। इसी कारण जहाँ टॉल्सटॉय के सम्बन्ध में की गई आलोचनाओं में तिक्तता और कटुता विद्यमान रहती थी, वहाँ महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में कुछ कहते समय उनके शत्रु तक एक विशेष प्रकार की कोमलता का व्यवहार करते हैं।

टॉल्सटॉय का जीवन देहातियों में बीता, उन्हें मध्यम श्रेणी के लोगों को समझने का कभी अवकाश नहीं मिला। इसी कारण उनके उपन्यासों में हम दो प्रकार के समाज देखते हैं—निम्नस्थ देहाती समाज या उच्च कुलीन-वर्ग। इसी कारण उनका अध्ययन और निरीक्षण बड़ा व्यापक है। वह उच्च-से-उच्च और निम्न-से-निम्न समाज में मिल चुके हैं। टॉल्सटॉय ने देहातियों के लिये बहुत-कुछ किया और उन्हें अनेक प्रकार की सुविधायें दिखलाने के लिये ज़ार को लिखा। गाँधीजी ने भी दरिद्र-नारायण की सेवा का बीड़ा उठाया है। पर उनके दरिद्र नारायण झोपड़ियों में भी वास करते हैं और शहर की गन्दी गलियों में भी रहते हैं। शायद समझते हैं कि शहर की गन्दी गलियों में रहकर ४०) मासिक पर निर्वाह करनेवाला कष्ट अधिक कष्ट में हैं। फलतः वह सारे वर्गों में एक-समान माननीय हैं। विशेषकर दलित समाज, जिसे गाँधीजी प्रेमवश हरिजन-समाज कहकर पुकारते हैं, उन्हें अपाना त्राता समझता है।

धर्म का बखेड़ा एक ऐसा गर्म दूध है, जिसमें हाथ डाला और हाथ जला। टॉल्सटॉय ने रूसी ईसाई-धर्म की आलोचना की, फलतः पादरी उनके शत्रु बन गये और उन्हें बहिष्कृत कर दिया गया। वैसे टॉल्सटॉय ईश्वर में रूस के सारे पादरियों के एकत्र समुदाय की इकट्ठी आस्था से अधिक आस्था रखते होंगे, पर जहाँ उन्होंने गिर्जे के विरुद्ध जाने की चेष्टा की कि उन्हें दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया गया। इस बहि-

प्रकार की बदौलत टॉल्सटॉय के जीवन की अन्तिम घड़ियाँ विशेष रूप से कटु होगईं। गाँधीजी पर भी सनातनी सम्प्रदाय का कोप हुआ। उन्होंने जहाँ हरिजनोद्धार का काम हाथ में लिया कि सारे पण्डे उनके विरुद्ध होगए। अजमेर में तो उन पर बम तक फेंका गया। सनातनी भाई गाँधीजी की और सारी बातें मानने को तय्यार हैं, बस, वह 'धर्म के मामले में' टाँग न अड़ायें, नहीं तो सनातन-धर्म रसातल चला को जायेगा। कई स्थानों पर तो सनातनियों की सभायें हुईं, जिनमें गाँधीजी को खुल्लमखुल्ला हिन्दुओं का शत्रु बताया गया। यदि गाँधीजी हिन्दुओं के शत्रु हैं, तो मित्र किसके हैं, यह हम नहीं जानते। गाँधीजी हिन्दू-धर्म को कुछ इने-गिने टीकाधारियों की बपौती नहीं समझते, बल्कि छः करोड़ अछूतों को भी उस वर्ग में मिलाना चाहते हैं। गाँधीजी ने हरिजनोद्धार का बीड़ा उठाया है, और गाँधीजी ने जो काम हाथ में लिया है वह अधूरा न रहेगा। टॉल्सटॉय ने भी देहातियों के उद्धार का बीड़ा उठाया, और अन्त में, उनकी मृत्यु के बाद ही सही, उनका उद्धार होकर रहा। महापुरुषों का व्रत कभी व्यर्थ नहीं जाता।

टॉल्सटॉय ग्रामीणों की भाँति रहते थे और इस कारण उन्हें कई बार कई स्थानों पर तिरस्कृत भी होना पड़ा। गाँधीजी की वेश-भूषा जो भी कुछ है—प्रत्येक भारतवासी जानता ही है। इसी लँगोटी में वह लॉर्ड इरविन और लार्ड विलिंगडन और सम्राट् जार्ज और लायड जार्ज और, मुसोलिनी से मिल

आये। जब उन्होंने लँगोटी धारण नहीं की, तब भी उन्हें देखकर कोई यह न कह सकता था कि यह बैरिस्टर हैं; सीधा-सादा काठियावाड़ी बनिया कहता। गाँधीजी को भी अपनी सादगी के कारण अनेक बार अपमानित होना पड़ा, पर तो भी, और शायद इसी कारण से, वह अपनी सादगी को अपनाते रहे। वह दरिद्रनारायण की भाँति रहना चाहते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं कि इस देश के दरिद्र को, संसार के सब से बड़े दरिद्र को, कितना शीतल गता होगा। इसी लँगोटी में इँगलैंड की सरदी काटी, इसी लँगोटी में उन्होंने इटली का सफ़र किया। टॉल्सटॉय की भाँति गाँधीजी भी लोगों को दरिद्रता का पाठ पढ़ाते हैं, पर वह ऐसा कब तक कर सकते थे, जब तक स्वयं उदाहरण न बनते! इसी में गाँधीजी की महत्ता है! इसी में टॉल्सटॉय की महत्ता थी!

टॉल्सटॉय की भाँति गाँधीजी की भी ईश्वर में अचल आस्था है। गाँधीजी को प्रार्थना में बड़ा विश्वास है। उन्होंने कई बार कहा है कि जब कभी मुझे कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता, मैं प्रार्थना करता हूँ और भगवान् मुझे मार्ग दिखा देते हैं। वह प्रार्थनाओं के द्वारा ईश्वर से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करने में विश्वास रखते हैं। टॉल्सटॉय की भाँति उनके निकट भी ईश्वर कोई ऐसी जटिल विभावना नहीं, जिसे समझने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता हो। उनका भगवान् दरिद्र-नारायण का भगवान् है। गाँधीजी की भगवान् में ऐसी सरल

और सहज आस्था है कि कभी-कभी लोग उनके ईश्वर-सम्बन्धी विचारों को पढ़कर आश्चर्य में आजाते हैं। टॉलसटॉय का ईश्वर भी कृषक का ईश्वर था। इन दोनों महापुरुषों ने अपना ईश्वर किसी विशेष धर्म-पुस्तक में सीमित नहीं कर रक्खा है। ये दोनों महात्मा संसार के समस्त धर्मों को एक-समान सत्य के द्योतक समझते आए हैं। धार्मिक संकीर्णता इन महापुरुषों में छू तक न गई। आप टॉलसटॉय की अध्यातमवाद-सम्बन्धी रचनायें पढ़िये, ऐसा प्रतीत होगा, मानों आप किसी हिन्दू की ईश्वर-सम्बन्धी, आत्मा और परलोक-सम्बन्धी विवेचन पढ़ रहे हों। गाँधीजी के सम्बन्ध में ईसाई भी ऐसा ही सोचते हैं; यद्यपि गाँधीजी हिन्दू हैं, और अपने समय के सब से बड़े हिन्दू हैं।

स्त्रियों और बालकों के लिए टॉलसटॉय और गाँधी—दोनों के हृदयों में समान कोमलता रही है। वैसे टॉलसटॉय बाद को स्त्रियों को शैतान का अवतार समझने लगे थे, पर इससे उनकी उनके प्रति स्वाभाविक कोमलता नष्ट नहीं हुई थी। वह अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों तक बालिकाओं में बड़े प्रसिद्ध रहे। जब उनका बहिष्कार किया गया तो उनके सहन में पीटर्सबर्ग की हजारों लड़कियाँ एकत्र होगईं। टॉलसटॉय बालकों के साथ विशेष रूप से कोमल व्यवहार रखते थे। पाठकों ने पढ़ा ही होगा कि वह बच्चों के साथ किस प्रकार अठखेलियाँ किया करते थे। बच्चों की मंगल-कामना की उन्हें हरदम चिन्ता रहती थी। जब देश में दुर्भिक्ष फैला और अन्न-कष्ट दूर करने का

काम टॉल्सटॉय ने अपने हाथ में लिया तो उन्होंने बालकों के लिए एक भोजनशाला अलग खुलवाई।

गाँधीजी में तो बालकों को देखते ही मानो नये प्राण आ जाते हैं। वह बच्चों को चारों ओर बिठाकर उनसे घण्टों चुल-बुली और हँसानेवाली बातें करते रहते हैं। कभी-कभी वह बालकों के साथ खेलने में इस प्रकार तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें फिर किसी काम की सुधि नहीं रहती। उनकी मुस्कराहट बालकों की मुस्कराहट है; सरल, सहज और मनोहारी। गाँधी-जी और टॉल्सटॉय ईसा की भाँति बच्चों को स्वर्ग के निवासी समझते हैं। गाँधीजी में जो इतना हास्य-विनोद है, सो उनकी बाल-सुलभ प्रकृति के कारण। भीषण-से-भीषण अवस्था मौजूद हो, गाँधीजी के चेहरे पर वही मुस्कराहट थिरकती रहेगी। कभी कोई असाधारण अवस्था उपस्थित हुई तो क्षण-भर के लिए चिन्ता के बादल छा गये, पर किसी बालक को देखते ही वे बादल इस प्रकार छिन्न हो जाते हैं, जैसे सूर्य्य के उदय होने पर मेघ-मण्डल विलीयमान् हो जाता है। गाँधीजी बालकों को राष्ट्र की अमूल्य निधि समझते हैं और वे हैं भी। वह उनकी शिक्षा-दीक्षा की ओर टॉल्सटॉय की भाँति ही विशेष ध्यान देते हैं। अब तो उन्होंने अपना साबरमती आश्रम तोड़ दिया, पर जब आश्रम था, तो बालकों की ओर विशेष ध्यान देते थे।

गाँधीजी और टॉल्सटॉय में सब से बड़ा अन्तर यह है कि गाँधीजी टॉल्सटॉय की भाँति केवल लिखकर और उसके अनु-

सार स्वयं चलाने की चेष्टा करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, बल्कि जो निर्धारित करते हैं, उसे लौह-व्रत के साथ पालन करते हैं। उन्होंने वर्तमान शासन-प्रणाली को, अँग्रेज़ी सत्ता को 'शैतानी प्रणाली' और 'शैतानी सत्ता' कहकर पुकारा और वह उसमें मौलिक सुधार करने को तैयार होगये। वह कोरे महात्मा ही नहीं हैं, वह बहुत बड़े राजनीति-विशारद, एक बहुत बड़े पत्र-कार और एक बहुत बड़े समाज-सुधारक भी हैं। ईश्वर-सम्बन्धी तथ्य उनके अपने निजी हैं, पर अन्य तीन गुणों से वह देश का और संसार का उपकार कर रहे हैं। वह अहिंसा-व्रत के पालक हैं और कहते हैं कि बिना भौतिक बल के प्रदर्शन किये भी देश का शासन और पड़ौसी शक्तियों से मित्रता का नाता हो सकता है।

बीसवीं शताब्दि ने संसार को ये दो नर-रत्न प्रदान किये। इनमें से एक रत्न खो गया, दूसरा उसी प्रकार अपनी अलौकिक प्रभा से संसार को चकाचौंध में डाल रहा है।

* * *

गाँधी

सत्याग्रही गाँधी

जब गाँधी नौजवान थे, तब दक्षिण-अफ्रीका में अपने देशवासियों की अधिकार-रक्षा के लिए उन्होने युद्ध किया था। यह उनकी नौजवानी थी और उपरोक्त चित्र में आप उन्हें सैनिक वेश में पायेंगे। टॉलसटॉय भी नौजवानी में सैनिक थे, लेकिन उनका वेश एकदम भिन्न है।

महात्मा गाँधी और पादरी होम्स

अमेरिका के प्रसिद्ध पादरी रेवरेन्ड होम्स ने महात्माजी को देश में फैले हुए, विषैले अनात्मवाद को नाश करने के लिए बुलाया था। रेवरेन्ड होम्स ने उन्हें जगद्गुरु माना है। नीचे उनके, गाँधी-विषयक विचारों का, उन्हीं के शब्दों में दिग्दर्शन कराया गया है।

"यदि महात्माजी अमेरिका पधारें तो हमारा पहिला कर्तव्य यही होना चाहिए कि जिस धर्म की हम इतनी ज़बरदस्त डींग मार रहे हैं; उसका वास्तविक अर्थ उनसे समझें। यह बात सभी को बड़ी विचित्र मालूम होगी, और यह, है भी ठीक; क्योंकि गाँधी ईसाई नहीं हैं,—हिन्दू हैं। यह ठीक है कि उनका ईसाई मत से काफ़ी सम्बन्ध रहा है। उन्होंने अनेक बार न्यू टेस्टामेन्ट में अपनी आस्था प्रकट की है; खासकर The

Sermon on the mount" के तो वे चिर-ऋणी ही हैं। लेकिन महात्माजी अपने पूर्वज महर्षियों के सिद्धान्तों के ज़बरदस्त समर्थक एवं पालक हैं। जब हम महात्माजी, एवं उनके कार्यों पर विचार करते हैं तो ईसाई शब्द की पश्चिमीय परिभाषानुसार हमें वे प्रत्येक कार्य में ईसाई ही नज़र आते हैं। आश्रम में प्रातः एवं सायंकाल की प्रार्थनाओं में वे किसी अन्य धर्म के ईश्वर की प्रार्थना नहीं करते, वरन् "मीरा के गिरधर गोपाल" वाले श्रीकृष्ण को ही रिझाया करते हैं। यह बात अत्यन्त कठिन एवं दुरूह ही है कि महात्माजी रोम के सर्व-प्रधान पादरी की पोशाक पहिन लें और रोम के गिरजा-घर की भव्यता उन्हें अपनी ओर खींच ले। यह भी असम्भव है कि वे किसी प्रोटे-स्टेन्ट गिरजा के मठपति होकर बैठ जायँ।

एक समय महात्मा गाँधी ने दक्षिणी-अफ्रिका के एक गिरजा में अपने गहरे मित्र सी० एफ्० एन्ड्रयूज़ के उपदेशों को सुनने के लिए जाने का इरादा किया। इतवार की शाम को जब वे उस गिर्जा में घुसने लगे, तब किसी ने उनसे कहा— "तुम इस गिरजा में नहीं जा सकते !! यह गौरांगों का गिरजा है; काले चमड़ेवालों का नहीं।"

"यदि ईसाई शब्द के पारिभाषिक अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो गाँधी वास्तव में ईसाई नहीं। यह बात अमेरिका-निवासियों पर स्पष्ट ज़ाहिर है कि गाँधीजी ईसाइयों के कई संस्कारों को क़बूल भी नहीं करते। तब हम व्यर्थ ही यह आशा क्यों करें कि

गाँधी हमें ईसाई मत के विषय में उपदेश देंगे ?

"क्या ईसा ईसाई थे ?" इस सवाल के उठते ही हम बरबस कह उठते हैं कि जो कल्पना हमारी गाँधी के लिये आज हो रही है, वही ईसा के लिए भी ठीक है। आप लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि ईसा ईसाई नहीं, वरन् यहूदी थे। वे ईसाई गिरजे में नहीं, वरन् यहूदियों के मन्दिर में पले थे। ईसा ने न्यू-टेस्टामेंट नहीं, वरन् ओल्ड टेस्टामेंट पढ़ी थी। उन्होंने कभी भी ईसाई देवों का स्मरण नहीं किया। जब किया तब 'जहोवा' का ही ध्यान किया। मैं जिस तरह ईसा को सेन्ट-पीटर के सिंहासन के योग्य समझता हूँ, उसी तरह गाँधी को भी। मैं यूरोप और अमेरिका के किसी भी गिरजे में ईसा के वास्तविक स्वरूप को नहीं पाता। यदि आज गाँधीजी न्यूयाँर्क में आयें तो हम यही समझेंगे कि प्रभु ईसा प्रकट हुए। यह माना कि उनका स्वागत किसी भी प्रोटेस्टेंट गिर्जा में नहीं होगा। पर उन गिर्जाधारियों को ध्यान रखना चाहिये कि ईसाई मत किसी खास जाति का मत नहीं; न यह किसी तरह के खास विचारों एवं रस्म-रिवाजों का ही नाम है; वरन् इस मत का सम्बन्ध उस जीवन से है, जो दया से ओत-प्रोत, सहानुभूति से सजा हुआ, कुविचारों से रहित, ज़ुल्मों का नाशक एवं प्रेम से प्लावित हो रहा है। इसका सम्बन्ध उस जीवन से है, जो दुश्मन को भी प्रेम की नज़र से देखता है। दुनिया के जीवित मनुष्यों में अकेले महात्मा गाँधी ही ऐसे हैं, जिन्होंने इस पर पूर्ण प्रकाश

डाला है। वे उस जीवन पर भी अधिकार कर चुके हैं, जिस पर ईसा का अधिकार था, इसलिये वे आज संसार में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। आज हम अमेरिका-निवासी उन्हें इसी लिये बुलाना चाहते हैं कि वे आकर हमें ईसाई मत का वास्तविक अर्थ समझा जायँ। हम उसी ईसाई मत के वास्तविक स्वरूप को उनसे समझना चाहते हैं, जिसका पालन तो हम नहीं के बराबर कर रहे हैं, किन्तु डींगें सब से ज़्यादा मार रहे हैं। दूसरी बात, जिसकी हम महात्माजी से आशा करते हैं, वह है—सादगी का रहस्य। एक समय था, जब सादा जीवन व्यतीत करना हमारे देश में पवित्र माना जाता था। सादे जीवन से मेरा मतलब सांसारिक विषय-भोग एवं सत्ता से निर्लेप होने से है। यह सिद्धांत हमारे यहाँ बड़ी ही सख़्ती से व्यवहार में लाया जाता था। जब सादे जीवन का महत्व कम होने लगा तो युग-धर्मानुसार उसमें तब्दीली हो गयी। इस समय हमारा ऐश्वर्य ही हमारे लिये अधिक हो गया है। हम व्यर्थ ही विषय-भोग की लालसा में चक्कर काटते रहते हैं।

"अमेरिका-निवासियों के दिलों में यह विचार उठ रहे हैं कि महात्मा गाँधी नंगे-बदन और नंगे पैर कैसे रहते हैं? सिर्फ़ मुट्ठी-भर खजूरों से अपना पेट कैसे भर लेते हैं? कठोर ज़मीन पर कैसे सो जाते हैं? इन विचारों का जन्म इसलिये हुआ कि अमेरिकावाले स्वयं सांसारिक विषय-वासना में फँसे हुये हैं। कभी-कभी वे सोचा करते हैं कि जब महात्माजी यहाँ आयेंगे,

तो हम उनके साथ कैसे रहेंगे। वे महात्माजी को पूर्वीय देशों के साधु-जीवन के सिद्धान्तों के पैमाने से ही जोखना चाहते हैं। अमेरिकावासी यह भी देखना चाहते हैं, उनके वे दो अस्त्र कैसे प्रबल हैं, जिनके सहारे वह एक अशिक्षित एवं धनहीन देश की ओर से लँगोटी लगाए, नंगे-पैर, ज़रा-सी खजूरें और प्याली-भर बकरी के दूध के साथ संसार की एक महान् शक्ति से राजनैतिक-आर्थिक लड़ाई लड़ रहे हैं। ये चीज़ें हिन्दुस्तान के वर्तमान युद्ध पर प्रकाश नहीं डाल सकतीं। ये गुण तो उस आत्मा के हैं, जो बरसों से अपनी तपस्या में तन्मय हैं। ये गुण उस आत्मा के हैं, जिसने उसी सत्य के अनन्त सौंदर्य को प्राप्त कर लिया है, जिसे सदियों पहले ईसा ने ढूँढ़ा था। आश्चर्य तो यह है कि गाँधीजी जो लड़ाई लड़ रहे हैं, उसमें स्वयं उनका और भारतवासियों का कुछ भी नुक़सान नहीं। यही कारण है कि उन्हें किसी का डर नहीं। वे ऐसे धैर्यवान् एवं दृढ़ हैं कि इस युद्ध के परिणाम तक की परवाह उन्हें नहीं है।

यह कौन नहीं जानता कि दुनियाँ में जितना ज़्यादा मोह होगा, उतना ही मनुष्य का दिल कमज़ोर भी होगा। अर्थात् जिसके पास जितना द्रव्य है, उसे उसके नष्ट होने का उतना ही भय भी है। वह रात-दिन उसी चिन्ता में व्यग्र रहता है। जिस जाति का राज्य चारों ओर फैला हुआ है, और व्यापार सर्वत्र व्यापक है, वह हमेशा युद्धों में फँसी रहती है। ग़रीब हमेशा सुखी होता है और छोटा राष्ट्र हमेशा निश्चिन्त रहता है।

"आपने वह मनोरञ्जक घटना तो अवश्य ही पढ़ी होगी, जिसमें हिंसावादी नौजवानों के प्रतिनिधियों ने महात्माजी को बहुत ही भद्दे शब्दों में सम्बोधित किया था। वे हिंसावादी नौजवान उन पर हमला तक करने पर उतारू होगए थे। जिस समय महात्माजी कराँची पहुँचे, उसी समय देश के तीन हिंसावादियों को अंग्रेज़ सरकार ने फाँसी पर लटका दिया। हिंसावादियों ने महात्माजी को आड़े-हाथों लिया कि उन्होंने गाँधी-इरविन-संधि के अनुसार इन तीनों को बचाने की कोशिश क्यों नहीं की। वहाँ हिंसावादियों में प्रतिहिंसा के भाव इतने बढ़ गए कि यदि गाँधीजी के कुछ मित्र उन्हें सुरक्षित नहीं रखते, तो शायद वे युवक उन्हें घायल कर देते। बाद में उन लोगों ने कांग्रेस में अपना प्रतिनिधि भेजने की आज्ञा माँगी, जिस से गाँधीजी उनका लिखित वक्तव्य ध्यान से सुन सकें, एवं उस पर पूर्ण विचार कर सकें। गाँधीजी ने उन्हें बुलवा लिया। जब ये जोशीले नवयुवक उस 'नेक बूढ़े गाँधी' के सन्मुख आए, तो उसने अनुपम धैर्य के साथ सब-कुछ सुना। फिर बड़ी ही नम्रता से, महात्माओं के समान, बोले—'यदि आप मुझे मारना चाहते हों, तो ख़ुशी से मार डालिये। मैं किसी से शिकायत नहीं करूँगा। मेरा कोई रक्षक नहीं, सिर्फ़ परमात्मा ही एक-मात्र रक्षक है। मुझे कुछ लोग मूर्ख कहते हैं; क्योंकि मैं अपने शत्रु से भी प्रेम करता हूँ। यह तो मेरे जीवन का ध्येय है। मुझे अब बलिदान करने को कुछ भी नहीं रहा। मेरे पास कोई भी सांसारिक वस्तु नहीं।

मैं तो भिखारी हूँ। मेरी एक बात अवश्य है। वह यह कि जिस दिन भारतवर्ष अहिंसा के सिद्धान्त से हट जायगा, उसी दिन मैं अपने जीवन को नष्ट कर दूँगा। यदि तुम्हारा यह कहना है कि मैं तुम्हारी हानि कर रहा हूँ, तो तुम्हें ऐसा कहने का हक़ है। परन्तु मेरा यह धर्म है कि तुम्हें पारस्परिक प्रेम एवं सत्य का पथ सुझाऊँ। मेरे पास तुम्हारे लिए सिवाय प्रेम के कोई दूसरी वस्तु नहीं। यही मेरा हथियार है।'

"आज अमेरिका-निवासी पदार्थवाद या अनात्मवाद (Materialism) के गहरे गड्ढे में गिर रहे हैं। इसका मुझे महान् खेद है। आज हमें इन विचारों पर ज़रा भी सोचने का समय नहीं; क्योंकि चारों ओर व्यापार में मन्दी-ही-मन्दी नज़र आ रही है। यह व्यापारिक मन्दी की समस्या संसार-भर की भयङ्कर पराजय है, जो यकायक समाज एवं सरकार पर आ-गिरी है। यदि इसके लिए हम किसी सरकार या प्रेसीडेण्ट को दोष दें, तो व्यर्थ है। इसमें उनका क्या क़सूर है? राजनैतिक परिस्थिति की भयङ्करता एवं जटिलता इन प्रश्नों पर और भी गहरा एवं विषैला प्रभाव डाल रही है। आजकल व्यापार का पतन वास्तव में दुखान्त नाटक-सा है। विशेषतया उनके लिए, जो बेकार फिर रहे हैं, या हो गए हैं। ये बेकार सौ-दो-सौ की तादाद में नहीं; किन्तु लाखों की तादाद में हैं। इसके लिए बड़े धैर्य की आवश्यकता है। यदि हमें ज़रा भी आत्म-विश्वास है, तो हम दावे से कह सकते हैं कि यह व्यापा-

रिक पतन वास्तव में ईश्वरीय देन है, जो भविष्य में हमें फ़ायदेमन्द साबित होगी। तीन साल पूर्व एक प्रेमी, उदार एवं प्रसिद्ध अमेरिकावासी महाशय ने हिन्दुस्तान का दौरा किया था। वह ईसाई नेता गाँधीजी से भी मिले। इस नेता की बाहरी आकृति बिल्कुल अमेरिका-निवासियों जैसी थी। जब उससे पूछा गया कि भाई! गाँधीजी तुम्हें कैसे लगे? उसने उत्तर दिया कि जब मैंने उस अँगोछे को देखा तो मुझे सिवाय अपने उम्दा कपड़े के दूसरी बात ही याद नहीं आई। और जब मैंने उनके पवित्र और नंगे बदन को देखा तो मुझे अपना मोटा-तगड़ा बदन बिल्कुल ही फ़िज़ूल-सा नज़र आने लगा।

"पदार्थवाद या अनात्मवाद में क्या दोष है? हम अपनी उन्नति से डरते क्यों हैं, जब कि हम उसका उपयोग करते हैं? हम उसका तिरस्कार क्यों करते हैं, जब हम उसकी खोज में फिरते रहते हैं? क्या हमें इन प्रश्नों का उत्तर हमारे धन-द्वारा नष्ट की गई बुद्धिमानी एवं मानुषिक गुणों एवं शीलों के ह्रास में नहीं मिलता।

"यदि यहाँ गाँधीजी आजायँ तो वे हमें सभी कमज़ोरियाँ स्पष्ट ही बता दें; क्योंकि वे हमारी आत्मा की प्रत्येक हलचल को भली भाँति जानते हैं। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी बलवती है कि वे किसी बात को भूलते ही नहीं। जब वे आश्रम में रहते हैं, तब प्रत्येक दिन सूर्योदय के पूर्व अपने शिष्यों के साथ पास

ही नदी के तटवाली चट्टान पर बैठ जाते हैं। वहाँ वे भक्तों के भजनों-द्वारा ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। इसी तरह सन्ध्या को शिष्यों के साथ सन्ध्या का प्राकृतिक दृश्य एवं सूर्यास्त का मनोहर दृश्य देखते हैं, फिर उसी प्रकार ईश्वर-प्रार्थना करते हैं। सप्ताह में सिर्फ़ एक मर्तबा वे अपने काम से फ़ुर्सत लेते हैं। उस समय वे अपने चित्त की एकाग्रता में मस्त रहते हैं। वह दिन उनका मौन-दिन कहलाता है। उस दिन वे न तो किसी से मिलते हैं, न बोलते हैं। और उसी दिन एकान्त में रह, वे उस शक्ति को प्राप्त करते हैं, जो संसार और मनुष्य को एक कर रही है। चाहे भयङ्कर-से-भयङ्कर षड्यन्त्र रचे जायँ, चाहे राष्ट्र का कितना ही महत्वपूर्ण कार्य अड़ रहा हो, किन्तु गाँधीजी अपने मौन-दिवस को नहीं भूलते।

जब वह यह कहने लगते हैं कि बिना ईश्वर-प्रार्थना के मैं कुछ कर ही नहीं सकता, उस समय उनके मुख पर अलौकिक तेज-सा दृष्टिगोचर होता है। गाँधीजी ने अपने देश के लिए जो कुछ किया है, वह किसी से छिपा नहीं। जो कुछ वे यहाँ आकर हमारे लिए कर सकते हैं, वह भी स्पष्ट है। उन्होंने समस्त संसार की 'आत्मिक यथार्थता' (Spiritual Reality) का पता पा लिया है और उसे साबित भी कर दिया है।

मुझे विश्वास है कि उनके यहाँ आने से जागृति की अनेकों तीव्र धाराएँ फूट निकलेंगी। यदि हम महात्माजी से सिर्फ़ शान्ति, सुख एवं शक्ति चाहें तो वह सरलतापूर्वक प्रदान कर सकते हैं।

"इस महान् आत्मावाले महात्मा के साथ लॉर्ड इरविन की बातचीत हुई। वाइसराय भली भाँति समझ गया कि वह महान् सङ्कट में है। साथ-ही उसे यह भी विश्वास होगया कि महात्मा-जी का शरीर काफ़ी मज़बूत और हमेशा ताज़ा है। यद्यपि महात्माजी की ख़ुराक नहीं के बराबर है और हाल ही में उस जेल से निकलकर आए थे, जहाँ प्रचण्ड गर्मी होती है, तो भी वे वाइसराय से ज़्यादा प्रसन्न एवं स्वस्थ थे। गाँधीजी में ऐसी कौन-सी गुप्त शक्ति है, जिसके बल पर लाखों देश-निवासी उन-की अँगुली के इशारे पर नाच रहे हैं। भारत का वास्तविक भाग्य-विधाता वास्तव में वही है। पूछने पर गाँधीजी ने निम्न-लिखित उत्तर दिया, जो सचमुच ही दिव्य सन्देश है—

'स्वच्छ हृदय, स्वच्छ अन्तःकरण, ठण्डा दिमाग़, नियमित ईश्वर-साक्षात्कार, शराब, तमाखू और मसालों से परहेज़, विलास-वर्जन, शाकाहार और मनुष्य-मात्र से प्रेम।'

सर्वज्ञ महात्मा गाँधी

सच्चे नेतृत्व के लिए नेता का स्वभाव समयानुकूल होना परमावश्यक है। उसके स्वभाव और कार्य में सामञ्जस्य होना चाहिए और नम्रता नेता के लिए बहुत ही ज़रूरी है।

वे अपने विरोधी को दबाकर या डरा-धमकाकर विजय प्राप्त नहीं करते। उनके सहानुभूतिपूर्ण वर्ताव के द्वारा स्वतः ही ऐसा हो जाता है। अक्सर उनके मित्र उन्हें दोष देते रहते हैं कि उन्होंने वे महत्वपूर्ण बातें बिल्कुल ही छोड़ दीं, जिनकी विशेष अवसरों पर खास आवश्यकता थी। वे इसका कुछ भी उत्तर न देकर अनुपम मुस्कराहट से सभी के दिलों पर अपनी माया का जाल फैलाकर विमुग्ध कर देते हैं। अन्त में दोष देने-वाले स्वयं समझ जाते हैं कि गाँधीजी ने उस समय इसलिए ऐसा किया था। गाँधीजी के सिद्धान्त बहुत ही स्पष्ट और शुद्ध

हैं। इन सिद्धान्तों की असलियत हम तभी समझ पाते हैं, जब हम गाँधीजी के कार्यों का मनोयोग से अध्ययन करें। इस अध्ययन के लिए हमें गाँधीजी को एक ओर से ही नहीं, वरन् कई पहलुओं से देखना पड़ेगा। हम उन्हें विनोदी, व्यापारी, क्रान्तिकारी एवं शान्तिप्रिय गाँधी के रूप में देखना चाहते हैं और उपरोक्त शीर्षकों में ही उनकी जाँच करते हैं।

पूर्ण गाँधी

जब यह कहा जाय कि महान् आत्माएँ संसार को सुधारने के लिए अवतार लेती है, तो यह आवश्यक है कि हम उन महान् आत्माओं की कार्य-प्रणाली, जीवन की प्रतिज्ञाओं, स्वदेश की सेवाओं और तत्कालीन समाज की विचार-धाराओं का गम्भीर अध्ययन करें। हिन्दू-समाज का संगठन उन सिद्धान्तों पर स्थित हुआ था, जिन पर दृढ़ रहकर उसने समय और आक्रमणकारियों का विकट सामना किया। जब हम यह कहते हैं कि गाँधीजी हिन्दू-समाज को सुधारने के लिए अवतीर्ण हुए हैं, तब हमें यह समझ लेना आवश्यक है कि हमारा समाज किन-किन सिद्धान्तों पर निर्भर है। प्राचीन काल में ऋषियों ने मनुष्यों के कर्तव्य निर्धारित कर दिये थे। प्रत्येक कर्तव्य को सामाजिक दशा के अनुसार विभाजित कर दिया था। ब्राह्मण पृथ्वी के धर्म-विधायक बना दिए गए। उसकी रक्षा के लिए क्षत्रिय नियत किए गए। वैश्यों को धन-सम्बन्धी कार्य सौंपा गया। शूद्रों को सेवा करने का कार्य मिला। इस तरह प्रबन्ध कर देने से प्रत्येक

में भेद स्पष्ट होगया। सम्पति और विद्या-जनित उच्चता एवं निकृष्टता के भावों का सम्बन्ध निर्धनता एवं संस्कृति से है। समय अब बदल चुका है। अब हमें साफ़ ज़ाहिर होगया है कि प्राचीन परिपाटियाँ अब सामाजिक दशा-रूपी कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं। अतएव उनमें समयानुकूल परिवर्तन आवश्यक है। जाति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध है। जब क्षत्रियों ने रक्षा-भार अपने ऊपर से हटा दिया, उसी दिन से समाज की अवनति का सारा दोष ब्राह्मणों के माथे मढ़ा गया। सारा कार्य-भार अपने ऊपर आ पड़ने से ब्राह्मण उसे सम्भाल न सके। घबराकर उन्होंने सेवा-कार्य स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-समाज की सभ्यता ही नष्ट नहीं हुई, वरन् वे उच्चादर्श भी नष्ट होगये, जिन पर भारत-निवासी गर्व करते थे। और अन्य देशों की तरह ब्राह्मण-जाति भी अशक्ति, लालच, विलासादि दुर्गुणों का घर बन गई। उनके सामाजिक सिद्धान्त नष्ट होगए और समाज में क्रान्ति मच गई। यंत्रों-द्वारा बनी हुई वस्तुओं के व्यवहार से भारतीय कला नष्ट होगई। ये प्रसिद्ध जातियाँ केवल स्मृति-चिन्हवत् रह गईं।

अब, हिन्दू-समाज को सुधारने का समय फिर आगया। वही प्राचीनता अब हमें प्रत्येक कार्य में सुन्दर और उपयोगी प्रतीत होने लगी। सभ्यता में अब विद्या और कला-इत्यादि सभी के एकत्रीकरण की आवश्यकता है।

नागरिकता, पूर्ण एवं नियमित विचारों का नाम है। नाग-

रिक धर्म का ठेकेदार भी हो सकता है, संरक्षक भी। वह धनोपार्जन भी कर सकता है, उसे व्यय भी कर सकता है। संक्षेप में, वही नागरिक ब्राह्मण भी होजाता है, वही क्षत्रिय भी। सर्व-साधारण का अनुभव अब यही प्रकट रहा है कि सब शूद्र होगए हैं, किन्तु हमारा कर्तव्य यह है कि सब फिर ब्राह्मण हो-जायँ। वैसे ही नाम के ब्राह्मण नहीं; कर्मयोगी ब्राह्मण की आवश्यकता है।

ब्राह्मण होने से सम्पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता। प्राचीन परिपाटी के अनुसार ब्राह्मण सिर, क्षत्रिय कंधे, वैश्य जंघा और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक उस ईश्वरीय शक्ति का अंश है, जिससे इन्द्रियों का सम्बन्ध है—पूर्ण कोई भी नहीं। अतएव सब का ब्राह्मण होजाना सम्भव नहीं। हाँ, इससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ होता है। जाति में किसी भी प्रकार की उच्चता एवं नीचता नहीं, जैसी जंघा, सिर, हाथ एवं पाँव में है। एक-दूसरे से महत्वपूर्ण हो सकता है, किन्तु एक अंग के बिना शेष सब अपूर्ण हैं। इसीलिए हमारा कहना है कि सभी जातियों का ब्राह्मण होजाना नितान्त असम्भव है।

जाति का पुनः-निर्माण करने के लिए प्रत्येक को पूर्ण नागरिक बनाना आवश्यक है। एक ही कार्य के योग्य मनुष्य की अब आवश्यकता नहीं; सभी बातों के ज्ञाता की आवश्यकता है। ऐसे पुरुष केवल गाँधीजी हैं और वे अपने समान दूसरों को भी बनाना चाहते हैं।

जिस अवस्था में गाँधीजी अभी हैं, उस अवस्था में ब्राह्मणों एवं हिन्दू-धर्म के वे पूर्ण रक्षक हैं। धर्म एवं भारत की रक्षा के लिए वे मातृभूमि की वेदी पर अपने जीवन को समर्पित करने के लिए हमेशा तैयार हैं। उन्हें क्षत्रिय साबित करने के लिए आपको अब और कौन-से सुबूतों की आवश्यकता है! वह प्यारी मातृ-भूमि की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व ही तो न्यौछावर कर चुके हैं। वैश्य तो वह जन्म से ही हैं। दिन-प्रति-दिन वे पक्के बनिये बनते चले जारहे हैं। वे देश की सम्पत्ति के उपयोग के लिए लड़ते-झगड़ते रहते हैं, सभी को वस्त्रों से ढक देना चाहते हैं। वे सम्पत्ति को भी पैदा करनेवाले हैं। वह अन्न के पैदा करने के लिए निरन्तर यत्नशील हैं। जब अन्न और वस्त्र ही हम तैयार कर लेंगे तो अवश्य ही वैश्य और शूद्र अपने जीवन के राजनीतिक ध्येय पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेंगे।

एक ऐसा भी मनुष्य है, जो ब्राह्मणों में ब्राह्मण, निर्बलों में क्षत्रिय, जन्म से ही वैश्य एवं दैनिक जीवन में शूद्र है। वह केवल किसान और जुलाहा ही नहीं, जैसा वह अपने-आपको लिखा करता है, वरन् वह ऋषि एवं सुयोग्य सैनिक है। ऋषि होकर उसने अपना गृहस्थ-संसार त्याग दिया, सैनिक बनकर वह भारत का साकार विश्वास बन गया है और प्रत्येक पल में अपने जीवन को समर्पित करने को तैयार है। उसका कातना-बुनना, भोजन बनाना, उपज एवं सम्पत्ति-विभाग की अपरिमित शिक्षा इस बात को सिद्ध कर रही है कि वह एक ज़बर-

दस्त अर्थशास्त्री है। किसानी और व्यापार के कार्य में तो उसकी समानता करनेवाला संसार में कोई नहीं। यदि कोई पूछे कि उपरोक्त गुण सम्पन्न व्यक्ति कहाँ रहता है? तो हम स्पष्ट कहे देते हैं कि वह हमारे ही बीच में वर्तमान है।

प्राचीन काल में बहुत-से अवतारी पुरुष हो गए हैं। वे अपने काल में बहुत ही कम प्रसिद्ध हुए थे। आज यह अवतार हिन्दू-समाज की बुराइयों को जड़ से खोदने एवं नवीन समाज स्थापित करने के लिये अवतीर्ण हुआ है। आज उसका नाम भारत के गौरव का सूचक है।

अभी, हमने गाँधी को महान् आंदोलन का संचालक बताया है। उसने अखिल-भारतवर्षीय राष्ट्र-सभा-द्वारा भारत का पुनर्निर्माण किया है। जो मनुष्य पूर्ण होना चाहता है, उसें ऐसा नहीं चाहिये कि वह केवल स्वदेश-भक्ति में ही दत्त-चित्त एवं पटु हो, किन्तु प्रत्येक बात में उसका दख़ल होना परमावश्यक है। इस बात पर विश्वास करने में किसी को भी संदेह नहीं कि उसकी नागरिक योग्यता परिवर्तनशील है। भारतीय के लिए पश्चिम से ग्रहण करने योग्य कई गुण हैं। इसके विरुद्ध भी अनेकों बातें हैं। किन्तु यहाँ उन पर विचार करना असंगत है। पश्चिम का एक बड़ा भारी गुण समय की पाबंदी है। शुद्धता इसके लिए ज़्यादा उपयुक्त शब्द है। शुद्धता में सही अन्दाज़, विचारों की पवित्रता एवं चाल-चलन का सीधापन भी शामिल है।

गाँधीजी में यही गुण नहीं है कि वे केवल समय के ही पाबन्द हों, किन्तु वे चाल-चलन में भी आदर्श पुरुष हैं। सही मनुष्य कभी आजिज़ी और ख़ुशामद के वशीभूत नहीं होता। वह हमेशा सही बात कहता और अपना सिर हमेशा ऊँचा रखता है; किसी के आगे उसका सिर झुकता नहीं। वह कुत्सित शब्द कभी नहीं कहता। वह खुले दिल का मनुष्य होता है। वह स्पष्ट-वक्ता भी होता है। अपने हृदय की शुद्धता के कारण वह अपने हृदय में संदेह को कभी स्थान ही नहीं देता। न उसे कोई धोखा दे सकता है। उपरोक्त सभी बातें गाँधीजी में पूर्ण रूप से वर्तमान हैं। गाँधीजी किसी पर भी संदेह नहीं करते। किन्तु उनका सीधापन कभी-कभी उन्हें धोखा दे देता है। उनके सीधेपन से लाभ उठाकर लोग उन्हें धोखे में डाल देते हैं। इसमें उनका क्या दोष है? वे सब पर दिल खोलकर विश्वास करते हैं। इस बात को प्रकट करना व्यर्थ ही है कि वे चालाकियों से वाक़िफ़ नहीं। किन्तु वे स्वतः कभी धोखे की बात नहीं करते।

राजनीति भी एक प्रकार का उद्योग ही है, तभी राजनीति और व्यापार एकसाथ चल नहीं सकते। इसका कारण स्पष्ट ही है। हमारे देश में राजनीति में देशभक्ति की ज़बरदस्त पख लगी है, जिसका अन्तिम परिणाम बलिदान है। बलिदान जीवन की जागृति एवं शक्ति का एक ऐसा परिणाम है, जो प्रत्येक व्यापार की सफलता का रहस्य है। यदि किसी वकील ने

देश-हित के लिए अपनी वकालत छोड़ दी, यदि कौंसिल के उम्मेदवार ने अपनी इच्छा त्याग दी, यदि किसी व्यापारी ने देश-हित के निमित्त अपने स्वार्थ को धक्का मार दिया और व्यापार स्थगित कर दिया, यदि किसी शराबी ने शराब बेचना बन्द कर दिया, तो क्या देश को इससे कम लाभ होगा? अवश्य ही एक-दूसरे का अनुकरण करके देश का भला कर सकते हैं। प्रत्येक बात में व्यापार के अलावा भी एक ऐसी बात अवश्य है, जो लाभ और हानि के पैमाने की वृद्धि करती है और जो क़र्ज़ और लेन-देन के प्रश्न को भुला देती है। स्वतः शासन करनेवाले छोटे राज्यों के साथ राजनीति का चाहे जितना सम्बन्ध हो, किन्तु भारतवर्ष में तो लोग इसके बहाने अपने सब कार-बार छोड़कर मैदान मारना चाहते हैं। पूँजी और विश्वास राजनीति का मूल-मंत्र है। भारतीय क्रान्तिकारी राजनीति के लिए महात्मा गाँधी वास्तव में ठीक व्यापारी हैं। यह गुण उनमें इसलिए है कि उनमें सब गुणों का समावेश हो गया है, जो पूर्ण मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। गाँधीजी कोरे पण्डित ही नहीं, न उनमें उद्दण्डतापूर्ण सेनापतित्व ही है। वे न तो नवीन निम्न श्रेणी के व्यापारी हैं, न अशिक्षित कृषक ही। उन्होंने दया, विद्या और स्वदेश-सेवा के मर्म को समझकर ही पूर्णत्व प्राप्त किया है। गाँधीजी दीर्घ काल पर्यन्त चलते हुए बलिदान का मर्म दुःखों के बीच में भली प्रकार समझ चुके हैं। इन गुणों का सम्मेलन एक ही

व्यक्ति में इस प्रकार हो जाना वास्तव में अद्भुत बात है। और इसके परिणाम भी अद्भुत ही हो रहे हैं। इन ईश्वरीय गुणों के कारण उनकी विद्या-स्वतः अनुभूत हो गई और सैनिक उद्दण्डता नष्ट हो गई है। इससे उनमें व्यापारीपन भी आ गया है। आदर्शवाद के घनिष्ठ सम्बन्ध से उन्होंने अपनी शारीरिक दशा पर विशेष आघात पहुँचाया है, किन्तु इससे उन्हें महान् लाभ यह हुआ है कि वे सुसंस्कृत हो गये हैं। गाँधीजी, इस प्रकार भारतवर्ष के लिए वह प्रोग्राम बनाने में समर्थ हुए हैं, जो गणित्त की रीत्ति के अनुसार भले ही सही न हो, किन्तु व्याहारिक रीति से पूर्ण एवं अनुभूत है।

गाँधीजी ने देश को कार्य करने के लिए कई बार तैयार किया है। जिस समय बारदोली में उन्होंने क्रान्ति की आग सुलगाई थी, उस समय जेल में से लाला लाजपतराय, पण्डित मोतीलाल नेहरू, महादेव देसाई और जार्ज जोसेफ़ ने उन्हें ख़ूब बुरा-भला कहा, किन्तु वे अपने कार्य पर दृढ़ रहकर अहिंसा का पूर्ण पालन करते रहे। अन्यायियों ने उन पर काफ़ी ज़ोर लगाए। प्रत्येक क्रान्ति में सरकार की यही नीति है। गाँधीजी की इतनी ज़्यादा आलोचना हुई! इसका यही कारण है कि लोग उनकी राजनीति समझ नहीं पाते। गाँधीजी की सहनशीलता बहुत बढ़ी-चढ़ी है, उन्होंने भारतीय आलोचना की रंच-मात्र भी परवाह नहीं की। बहुत लोगों का यह कहना है कि गाँधीजी मानसिक उत्तेजना से ही कार्य में अग्रसर होते हैं।

भारतवर्ष के इन दस वर्षों के नेतृत्व में गाँधीजी को धन और जन दोनों का उपयोग करना पड़ा है। जो ग़लतफ़हमियाँ इन दस सालों में उनके प्रति बढ़ रही थीं, वे अब सब नष्ट हो चुकीं। लोग चिल्लाते रहे, किन्तु वे सदा शान्त रहे; अपने निश्चित रास्तों से तिल-मात्र भी फिसले नहीं। वे ग़लती करने पर कभी चिल्लाते नहीं। यही बात हमारे नवयुवकों में होना परमावश्यक है। गाँधीजी अपने तथा दूसरे के ऐब स्पष्ट ज़ाहिर कर देते हैं, किन्तु उनके कहने का ढङ्ग अनोखा है।

"यदि तुम राष्ट्रीयता के लिए संगठन की आवश्यकता समझते हो तो तुम्हें उसी रास्ते पर चलना चाहिए" इसका मतलब यह नहीं कि वे उपरोक्त विचार से अलग हैं। यह गाँधी-जी का कथन उन लोगों के लिए स्पष्ट है, जो स्वार्थ और लालच के बादलों से घिरे नहीं और जो संगठन की आवश्यकता समझते हैं।

"यदि तुम सविनय अवज्ञा के ज़माने की दिल्ली की हालत पर नज़र डालो तो तुम्हें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि तुम्हारी विजय अवश्य है। मैं तुम्हें सविनय अवज्ञा से कभी भी नहीं रोकूँगा, परमात्मा इसे दुगनी करे।" इसका यह मतलब नहीं कि आंध्र-देश ने सरकारी टैक्स के खिलाफ़ जो आन्दोलन किया था, वह भी इनका उकसाया हुआ था। गाँधीजी का प्रत्येक शब्द सार्थक होता है। उपरोक्त प्रथम वाक्य पर संशय हो सकता है, किन्तु अन्तिम वाक्य से यह स्पष्ट ही है कि गाँधीजी

उनकी लड़ाई से बिलकुल अलग हैं। वे युद्ध-प्रिय भी परले सिरे के हैं। इन बातों से प्रकट है कि गाँधीजी नीति और अधिकार पर पूर्ण रूप से आधिपत्य रखते हैं।

गाँधीजी जिस प्रकार आचरण में पवित्र हैं, उसी प्रकार अपनी बोली में भी पवित्र हैं। बहुधन्धी मनुष्य को ठण्डे मिज़ाज का होना परमावश्क है; क्योंकि संकटों को सहन करना बड़ा मुश्किल होता है। संकट, बहुधन्धी पर हमेशा मँडराया ही करते हैं। किन्तु जो लोग गाँधीजी को जानते हैं, वे कह सकते हैं कि वे कितने शान्त सहृदय एवं मिलनसार हैं। दूसरे के ऐबों को भुला देना तो उनका साधारण-सा कार्य हैं। लोग उनको बात-बात में अपमानित करते हैं, किन्तु वह अपनी सहनशीलता एवं दृढ़ता का कभी भी साथ नहीं छोड़ते। वे दूसरे के सभी ऐबों को भुला देते हैं और अपने ऐबों को समाचारपत्र में प्रकाशित कराते हैं। यही उनका सर्वोपरि सिद्धान्त है; वे निरभिमानी भी हैं इसलिए दूसरों में ऐब भी उन्हें दिखाई नहीं देते। वे अपने को स्वयं नेता नहीं कहते; लोग उन्हें ज़बरदस्ती नेता कहते हैं। जो वास्तविक नेता हैं, उनका यही धर्म भी है। वे दूसरों की इज़्ज़त करके ही नेता बने हैं। बड़ों की श्रद्धा-भक्ति, बराबरीवालों का सम्मान और छोटों से प्रेम करके उन्हें वशीभूत कर लेना यही उनका चरम-लक्ष्य है। डॉक्टर बीसेन्ट और पण्डित मालवीय के वे भक्त हैं। स्व० देशबन्धु एवं लाला लाजपतराय का वे सम्मान करते थे, वल्लभभाई और जवाहरलाल को वे प्रेम करते हैं।

विनोदी गाँधी

उस मनुष्य के समान अभागा कोई नहीं, जो न खुद हँसे न दूसरों को हँसावे। चेहरे की गम्भीरता केवल दस-पाँच मनुष्यों को ही सुखद हो सकती है, किन्तु उन नेताओं को नहीं, जिनका जीवन हमेशा संकटमय है। इससे यह न समझ लिया जाय कि हँसी-मज़ाक़ ही दुनियाँ में सब-कुछ है; प्रत्युत्पन्न मति होना विनोदी के लिए परमावश्यक है। गाँधीजी एक समय कह रहे थे—"ओफ़्! यदि मैं विनोदी न होता तो कभी का संसार से विदा होगया होता।" मज़ाक़ कभी मर्मस्पर्शी भी हो जाता है, किन्तु विनोद में यह बात नहीं। विनोद में केवल क्षणिक आनन्द की प्राप्ति होती है। मसखरा होना सरल है, किन्तु विनोदी होना नितान्त कठिन है। मसखरापन बुद्धि से सम्बन्ध रखता है किन्तु विनोद के लिए पवित्र और सुविस्तृत हृदय का होना परमावश्यक है। मसखरेपन में तीखापन भी शामिल है। विनोद में क्रोध को कोई स्थान नहीं। गाँधीजी कभी-कभी ऐसी अनोखी बात कह देते हैं कि लोग कई दिनों तक पेट भरकर हँसा करते हैं। उनका वय, पद, प्रतिष्ठा एवं असर का प्रत्येक पर ज़बरदस्त प्रभाव पड़ता है। किन्तु उनके मसखरेपन में दया और सहानुभूति की अदृश्य धारा बहा करती है। सन् १९२१ में अखिल-भारतवर्षीय राष्ट्रीय सभा की प्रबन्धकारिणी सभा के अमले को तोड़ते हुए गाँधीजी ने कहा था—"मैं विट्ठलभाई को प्रबन्धकारिणी से अलग कर सकता हूँ, किन्तु वे इससे अलग नहीं

हो सकते।" यह ऐसा तीर था, जिसका फल बहुत ही तीक्ष्ण था। प्रत्येक के हृदय में यह गहरा ज़ख्म डाल सकता था, किन्तु तीक्ष्ण होने पर भी यह तीर विष में बुझाया हुआ नहीं था। इसीलिए यह उपरोक्त वाक्य केवल भरती और खारजा के प्रश्न तक ही रहा। किन्तु विट्ठलभाई इसके मर्म तक पहुँच गए। उनके हृदय में यह वाक्य अङ्कित होगया। इससे भी ज़्यादा एक दिन मज़ाक़ हुआ—"दुनियाँ के किसी भी मुल्क में, अच्छी-से-अच्छी शासन-व्यवस्था पर विट्ठलभाई को प्रबन्धकर्त्ता नियत करदो या केवल कुछ दिन उसे मुल्क में रहने ही दो, वे उसे नष्ट भ्रष्ट कर डालेंगे।"

आन्ध्र-देश में दौरा करते समय गाँधीजी ने प्रश्न किया—'आज प्रभात में रवाना होने में दो मिनट की देर क्यों होगई?' बहुत ही धीमे और हिचकिचाहट से भरे हुए स्वर में उत्तर दिया गया—'हैण्डबेग खो गया था।' गाँधीजी ने तुरन्त ही उत्तर दिया—'आह! यहाँ कुछ मनुष्यों को अपने सिर भी खोने पड़ेंगे, केवल हैण्डबेग ही नहीं।' ऐसे विनोद कभी-कभी भयोत्पादक भी हो जाते हैं। कभी-कभी उत्साहवर्धक भी। विनोद दो प्रकार से हो सकता है—एक तो अपनी बुराई-ही-बुराई करते जाना, दूसरे व्यङ्ग में अपनी महत्ता बताना। गाँधीजी की प्रत्येक बात का अनुकरण करना एक प्रकार की तालीम है; क्योंकि उनकी प्रत्येक बात अनुभव एवं विनोद से खाली नहीं। वे विनोद किसी के दिल को दुखाने के लिए नहीं करते।

अभी-अभी वे अपनी 'महात्मा' उपाधि को भी स्वीकार कर चुके हैं। उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि यह बात सत्य से खाली नहीं कि लोग मुझे 'महात्मा' कहकर पुकारते हैं। यह बात जिस किसी ने पढ़ी और सुनी, वह इसी चक्कर में रहा कि इसका आशय क्या ऐसा स्वतः महात्माजी क्यों कहते हैं? उनके प्रत्येक विनोद के लिए हम दिल में बार-बार प्रश्न करते हैं और उसको नष्ट कर देते हैं, किन्तु वास्तविक उत्तर समझ में नहीं आता। ऐसे ही हैं विनोदी गाँधी।

युद्ध-विद्या-विशारद गाँधी

गाँधीजी की युद्ध-सम्बन्धी योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी है। जैसा भारतवर्ष का उपकार उन्होंने किया है, वैसा किसी ने भी नहीं। सोते हुए डरपोक भारतवासियों को मैदान में उतारना उन्हीं का काम है। इस कार्य के लिए उन्होंने रात और दिन एक कर डाले हैं। जहाँ वह भयङ्कर-से-भयङ्कर युद्ध करते हैं, वहीं वह सन्धि करने में भी पीछे नहीं हटते। जब सन् १६२६ में दिल्ली में नवम्बर महीने में सुलह हुई तो अपने अन्तिम वाक्य में निडर होकर उन्होंने लिख दिया कि यदि इस सुलहनामे का उपयोग आज से ही होनेवाला है तो सरकार को इसी क्षण से अपनी नीति बदल देनी चाहिये और इसके लिए पार्लियामेण्ट-एक्ट के उपयोग की सख्त ज़रूरत है।

जब गाँधी-इरविन-सम्मेलन हुआ तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि सब से पहले पुलिस की ज़्यादतियों की जाँच होना

आवश्यक है। यदि यह जाँच हो जाय तो मैं सन्धि के लिए तैयार हूँ। इस बात को सुनकर प्रायः सभी नेता क्रुद्ध होगये; क्योंकि उन्हें अधिकारियों की प्रतिज्ञाओं पर तनिक भी विश्वास नहीं रहा। किन्तु देश को क्रुद्ध देखकर उन्होंने समझाया कि लॉर्ड इरविन बहुत ही नेक हैं, उन्होंने देश को धोखा नहीं दिया है। लॉर्ड इरविन पुलिस की जाँच करने से इन्कार नहीं करते; वरन् यह कहते हैं, इस जाँच से पुलिस और जनता में भयङ्कर विद्रोह बढ़ जायगा और परिणाम देश के लिए अहित-कर होगा, इसलिए वे इस कार्य की जाँच करने से क्षमा चाहते हैं, और यह है भी सत्य। इससिए लॉर्ड इरविन ने जाँच कराने में खेद प्रकट करते हुए असमर्थता दिखाई।

जब लॉर्ड विलिंगडन और गाँधी का किसी प्रकार भी समझौता नहीं हुआ तो गाँधीजी ने काँग्रेस की प्रबन्धकारिणी-सभा के ठहराव के अनुसार वायसराय को तार दे दिया कि देश के माननीय व्यक्ति मुझे इँग्लैण्ड जाने से मना करते हैं। यदि इँग्लैण्ड और भारत शान्ति के साथ रहना चाहते हैं तो फैसला यहीं हो सकता है। मन-मुटाव को पहिले दूर करना आवश्यक है। मेरे माननीय नेता मेरे वहाँ जाने के बजाय मेरी तुच्छ सेवाएँ देश में ही चाहते हैं। इसलिए अपने इन सहयोगियों की आज्ञा-भंग कर, मैं इँग्लैण्ड जाने को तैयार नहीं। गाँधीजी ने यह ऐतिहासिक वाक्य लिखकर यह स्पष्ट दिखा दिया कि मैं देश-वासियों के हमेशा साथ हूँ; उनकी आज्ञा टालना नहीं चाहता

और साथ ही इससे यह भी स्पष्ट होगया कि वे दिल के कितने पवित्र और साफ़ हैं। राजनैतिक कूट-नीति उन्हें बहुत ही बुरी मालूम होती है।

'नेकियों से ही बुराइयों को जीतो; क्योंकि ईमान से पर्वत भी हिल उठते हैं।' शठ के प्रति शठता का सिद्धान्त उन्हें बहुत ही दुःखदायी प्रतीत होता है। 'जो तुम्हारी बुराई करे, उस पर सदा भलाई करो'—यही गाँधीजी के रात-दिन के उपदेश हैं और यही सत्याग्रह के मूल तत्व हैं। ये सिद्धान्त ही गाँधीवाद-रूपी ताले को खोलने की कुञ्जी के समान हैं। गाँधीजी का नेतृत्व कर्मयोग का है। उनका सिद्धान्त है—'आओ।' वे यह नहीं चाहते कि युद्ध से मुँह छिपाकर भाग चलो। वे हमेशा सेना से भी दस मील आगे रहकर लड़ने का उपदेश देते हैं। गाँधी-जी की आज्ञानुसार कार्य करना बड़ा ही कठिन है; क्योंकि उनकी आज्ञाओं को ठीक-ठीक समझने के लिए भी तो योग्यता की महान् आवश्यकता है। गाँधीजी सीधी-सादी आज्ञा कभी देते ही नहीं। वे कहते हैं, यदि तुम तीनों प्रकार का बायकाट करोगे तो स्वराज्य फलतः साल-भर में ही तुम्हारे पास आजायगा।

लोग अपने कर्तव्य को पहचानते ही नहीं। अधिकार-प्राप्ति के लिए कोलाहल मचाते हैं। गाँधीजी के साथ कार्य करना प्रसिद्धि पाने का बहुत ही सरल उपाय है। गाँधीजी महान् योद्धा हैं। इस योद्धा की ईमानदारी और सादगी पर संसार मुग्ध होरहा है। जब लॉर्ड इरविन ने तारीख २२ फ़रवरी सन्

१६३१ की सन्धिवाला मसौदा लौटा देने के लिए लिखा तो गाँधीजी ने इस मसौदे को लौटाने के पहले उसकी एक भी नक़ल नहीं रखी, न कांग्रेस की प्रबन्धकारिणी के पास ही कोई नक़ल है। इस घटना से चम्पारन की सुलह अनायास याद आ जाती है। उपर्युक्त दोनों घटनाएँ इस बात को स्पष्ट कर रही हैं, उनकी सच्चरित्रता और नीति जिस प्रकार सन् १६१७ में थी, उसी प्रकार आज भी सन् १६३१ में है। विजय की नीति तक में उन्होंने परिवर्तन नहीं किया। चम्पारन से प्रारम्भ करके उन्होंने दिल्ली की सन्धि में युद्ध का अस्थायी अन्त किया और बाद में इसी युद्ध के लिए लण्डन भी गये थे।

लोग चाहे चिल्लाया करें कि गाँधीजी में दादाभाई नौरोजी का व्यापक पाण्डित्य, गोखले की सूझ, लोकमान्य की कूट-नीति, सुरेन्द्रनाथ की वक्तृता और सर फ़ीरोज़शाह मेहता की युद्ध-निपुणता नहीं। इसके लिए हमारा इतना ही कहना बस है कि उन्होंने अभी गाँधीजी को पहचाना ही नहीं।

गाँधीजी का विश्व-व्यापी अनुभव उनको नेतृत्व में बड़ी सहायता प्रदान करता है। उनकी सूझ का आदमी आज दुनियाँ में नहीं। उनकी वक्तृता सत्य और पवित्रता से पूर्ण है। गाँधीजी वकीलों-जैसी कूट-नीति बिल्कुल पसन्द नहीं करते, किन्तु बहुधन्धी होने के कारण वास्तविक कूटनीति के वे घर हैं। उनकी युद्ध-निपुणता भारत को स्वराज्य की ओर अग्रसर करने में स्पष्ट ही नज़र आरही हैं।

गाँधीवाद के मूल सिद्धान्त

गाँधीजी के सर्वोच्च नियमों में से सर्व-प्रथम नियम है, 'सत्य की प्रतिज्ञा'। इस शब्द को हमें वैसा ही नहीं समझना चाहिए, जैसा हम इसे समझ रहे हैं। वह सत्य नहीं, जिसका अर्थ "Honesty is the best policy" है। इस 'सत्य की प्रतिज्ञा' से यह मतलब है कि हम अपने जीवन को सत्य के नियमानुसार किसी भी प्रकार परिचलित करें; किन्तु सत्य-मार्ग से डिगें कहीं। इसकी परिभाषा को समझाने के लिए महात्माजी प्रह्लाद का प्रसिद्ध उदाहरण दिया करते हैं। सत्य के लिए प्रह्लाद अपने पिता से अलग हो गया, उसने अपने पिता के अनेकों अत्याचार सहन किए, किन्तु अपने सत्य को उसने इतने महान् कष्टों के सहने के बाद भी बचाया। हमें इस बात पर यहाँ विचार नहीं करना है कि सत्य से प्रह्लाद का क्या आशय

था। वह पिता-द्वारा दिए गए दुखों का बदला लेने की अपेक्षा मरना पसन्द करता था; किन्तु अपने सत्य को छोड़ना नहीं चाहता था। 'इतना ही नहीं, प्रह्लाद ने पिता के अत्याचारों को प्रसन्न हो-होकर सहन किया और अन्त में उसे वही 'सत्य' प्राप्त हुआ, जिसके लिए उस बालक को सत्याग्रह करना पड़ा था। प्रह्लाद ने इतनी कठोर यातनाएँ इसलिए सहन नहीं की थीं कि उसे किसी दिन 'सत्य' की अचल एवं अपराजित शक्ति का अनुभव हो जाय। महात्माजी लिखते हैं कि सत्य की प्राप्ति के लिए कष्ट सहते-सहते प्रह्लाद परलोक को भले ही सिधार जाता, किन्तु उसे "सत्य" प्राप्त हो जाता। इतनी तीव्र यातनाएँ सहन करने के बाद वह सत्य से अलल कैसे रह सकता था ! गाँधीजी उसी सत्य का अनुकरण कर रहे हैं। साबरमती आश्रम में भी गाँधीजी का यही कहना था कि जब विवेक ही यह उत्तर देदे कि "नहीं" तभी इन्कार करो; चाहे परिणाम कितना भी भयंकर क्यों न हो।

अब हम "अहिंसा" के तत्व को समझने की चेष्टा करते हैं।

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है "किसी को सताना नहीं" किन्तु गाँधीजी के लिए यह शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। यह शब्द उन्हें किसी उन्नत साम्राज्य की ओर ले जाता है। इस शब्द का असली अर्थ यही है कि किसी को सताया न जाय; चाहे वह तुम्हारा कैसा भी भयङ्कर शत्रु क्यों न हो। तुम्हारे दिल में किसी के प्रति घृणा और ईर्ष्या के भाव नहीं होना चाहिएँ।

जो इस सिद्धान्त पर चलते हैं, उनके संसार में कोई भी शत्रु नहीं। हाँ, लोग ऐसे अवश्य निकल सकते हैं, जो उसे ही अपना शत्रु समझ बैठें। भले ही लोग अहिंसा के अनुयायी को परम शत्रु समझ लें, किन्तु उसके दिल में उन अनजानों के लिए वही श्रद्धा और भक्ति होती है। यदि हम लाठी का बदला लाठी से ही देना स्वीकार करलें तो कहना पड़ता है कि हम अहिंसा के तत्व को पहिचान ही नहीं सके। गाँधीजी इस सिद्धान्त के पालन में और भी आगे बढ़ गये हैं। उनका कहना है कि यदि हम अपने किसी मित्र से नाराज़ भी होगये कि हमारा अहिंसा का व्रत भङ्ग हुआ और हम पतित होगए। लेकिन यदि हम यह कहें कि हमारा वह क्रोध क्षणिक है तो इसके लिए गाँधीजी कहते हैं कि चाहे वह क्रोध क्षणिक ही क्यों न हो, किन्तु तुम्हारे दिल में उसके आक्रमण के कारण विकार तो उत्पन्न होगया। गाँधीजी कहते हैं कि मैं इसीलिए क्षणिक क्रोधी से भी सहमत नहीं। क्रोध शब्द में शत्रु से बदला लेने का भाव अवश्य ही छिपा हुआ है। यदि इतना नहीं तो इतना अवश्य ही है कि वह अपने शत्रु को अपने क्रोध-द्वारा अपने रास्तों से हटाने के लिए कुचल डालना चाहता है। दुश्मन को परास्त करने या नष्ट करने के भाव को चाहे वह स्वतः-कृत्यों द्वारा दिखाये, चाहे दूसरों की सहायता से करे या उसके क्रोधित होने के बाद परिणाम स्वतः होजाय, दोषी तो वही है। हमारे दिलों में यदि इतना भी भाव आगया कि चाहे शत्रु का बुरा ईश्वर की अदृश्य

शक्तियों-द्वारा ही क्यों न होजाय हम "अहिंसा"-व्रत से गिर गए। जो साबरमती आश्रम में रहते थे, वे अहिंसा के इतने सूक्ष्म अर्थों का ही पालन करते थे। गाँधीजी ने अहिंसा का जो सूक्ष्म विवेचन किया है, वही हमने यहाँ दिखाया है। यह वह आदर्श है, जिसे हमें प्राप्त करना है। यह ऐसा आदर्श है, जिसे प्राप्त कर, हम सुखी हो सकते हैं; यदि हम उस योग्य हैं।

यह सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि अमूल्य वस्तु की प्राप्ति के लिए हमें अपनी जान उस मनुष्य के हाथ में सौंप देनी चाहिए, जिसके क़ब्ज़े में हमारी इच्छित वस्तु फँस गई हो। तलवारों से भयंकर मार-काट करने के बजाय यह रास्ता अत्यन्त सुलभ है; एवं इसमें महान् साहस की आवश्यकता है। यदि तुम उससे बदला नहीं लोगे और अपने दुश्मन के क्रोध और अपनी शान्ति के मध्यवर्ती मार्ग को ग्रहण करोगे और बिना बदले की इच्छा के मार खाये चले जाओगे तो क्या होगा? इसका उत्तर गाँधीजी देते हैं "मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि शत्रु का सारा अत्याचार तुम पर ही खत्म होजायगा और तुम्हारी अमूल्य वस्तु बिना बदला लिए ही छुटकारा पा जाएगी। ऐसा करने के बाद हमें वे भयंकर समाचार नहीं सुनने पड़ेंगे, जिन्हें हम आजकल यूरोप में स्वतन्त्रता की आड़ में भयंकर लड़ाइयों के नाम से सुना करते हैं। इसके लिए हमें केवल जीवन के ध्येय ही इस तरह के बनाने पड़ेंगे।

जो मनुष्य राष्ट्र-सेवा और वास्तविक धार्मिक जीवन का

आनन्द लेना चाहता है, चाहे वह कुँआरा हो चाहे विवाहित हो, ब्रह्मचर्य्य से रहना उसके लिए परमावश्यक है। विवाह केवल स्त्री को पुरुष से मिलाने का कार्य करता है। उनको किसी अंश में मित्र भी बना देता है। विवाह का असली ध्येय तो यह है कि प्रेमिका और प्रेमी इस लोक और परलोक दोनों में अलग न हों। गाँधीजी कहते हैं कि यह समझ में नहीं आता कि विवाह-सम्बन्धी विचारों में सांसारिक भोग-विलासादि को क्यों स्थान दिया जाय? यह नियम चाहे जितना कठोर हो, किन्तु आश्रम में रहनेवालों को तो पालन करना ही पड़ता है।

वासनाओं को मारना भी अत्यन्त ही मुश्किल है। जो मनुष्य अपनी कुवासनाओं को वश में लाना चाहता है, यदि वह अपनी इच्छाओं और कल्पनाओं को वश में करले तो कोई बात ही न रह जाय। गाँधीजी लिखते हैं कि मुझे डर है कि यह प्रतिज्ञा पालने में महान् कठोर है। जब तक हम उत्तेजक, जोशीली और क्रान्तिकारी बातों से अपनी रुचि हटा न लेंगे, तब तक हम सचमुच ही अपनी वासनाओं को क़ाबू में नहीं ला सकते। यदि हम ऐसा नहीं करते तो सचमुच ही हम ईश्वर-प्रदत्त प्रतिज्ञाओं—पवित्र प्रतिज्ञाओं—पर पानी फेर रहे हैं और जंगली जानवरों तक से निकृष्ट गिने जा रहे हैं, जो खाने, पीने, लड़ने एवं भोग-विलासादि कृत्य करने के सिवाय दूसरी बात जानते ही नहीं। क्या कभी आपने घोड़े या गाय को कुवासनाओं में फँसते देखा है? तो क्या वे जानवर हम से, इस तरह श्रेष्ठ

माने जा सकते हैं? क्या कुवासनाओं में फँसकर बहादुरी और षड्यन्त्र रचते रहना सभ्यता की हद में शामिल है? या ये वास्तविक जीवन के चिन्ह हैं? हमने अपने विकारों को इतना बढ़ा लिया है कि हम यह भी नहीं जान सकते कि हम कौन हैं? कहाँ हैं? क्या हैं? हमें तो केवल सुन्दर और सुस्वादु पदार्थों की ही उत्कट चाह रहती है। उनके पीछे हम पागलों की तरह चक्कर काटते रहते हैं या अखबारों के विज्ञापनों के सफ़े उलट-पुलट करके घबरा जाते हैं, जिनमें हमारी इच्छित वस्तुओं के भड़कीले विज्ञापन रहते हैं।

अस्तेय महान् गुण है। यदि मैं ऐसी वस्तु लूँ, जिसकी मुझे बिल्कुल आवश्यकता नहीं और उसे सम्भालकर रखूँ तो कहना ही पड़ेगा कि मैंने दूसरों को उस वस्तु के उपयोग एवं लाभ से वञ्चित रखा। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रकृति प्रत्येक दिन हमारी आवश्यकताओं से भी ज़्यादा पदार्थ पैदा करती है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार ही प्रकृति की देन से लाभ ले तो संसार में अकाल पड़ने एवं पदार्थों के अभाव की कभी शिकायत ही नहीं रहे; न कभी कोई आदमी भूख से प्राण दे। गाँधीजी कहते हैं कि मैं ऐसा कट्टर समाजवादी नहीं कि दूसरों को उनके अधिकारों से वञ्चित कर दूँ। यदि मैं ऐसा करूँ तो अहिंसा के सिद्धान्तों से हट जाऊँगा—गिर जाऊँगा। यदि कोई ऐसा करता है तो उसे करने दो; उससे हमें क्या मतलब? आगे चलकर गाँधीजी कहते हैं कि यदि हमें अपने

जीवन को सुशासित बनाना है तो हमें उन वस्तुओं को कभी भी नहीं लेना चाहिए, जिनकी हमें आवश्यकता नहीं। भारतवर्ष में ऐसे लाखों मनुष्य हैं, जिन्हें २४ घण्टे में केवल एक बार ही भोजन मिलता है और उसी में उन्हें सन्तुष्ट होजाना पड़ता है। वह भोजन और कुछ नहीं, केवल एक सूखी रोटी और चुटकी-भर नमक होता है। जब तक उन लोगों को पेट-भर अन्न नहीं मिले, तब तक हमारे अधिकार की वस्तुएँ हमें अपनी नहीं समझना चाहिए। उन ग़रीबों के लिए हमारा यही कर्तव्य है कि अपनी आवश्यकताओं को कम करें। यदि तकलीफ़ हो तो सहन करें, जिससे वे अनाथ भली प्रकार अपना पेट भर सकें और कपड़े पहिन सकें।

त्याग भी गाँधीजी के सिद्धान्तों में से एक है। इस विषय के लिए ऊपर ही काफ़ी लिखा जा चुका है, और यह अन्य विषयों के अन्तर्गत ही है। इसीलिए इस पर यहाँ व्यर्थ प्रकाश डालना ठीक नहीं। त्याग के बाद हम स्वदेशी वस्तु की प्रतिज्ञा पर आते हैं। स्वदेशी वस्तु की प्रतिज्ञा एक परमावश्यक प्रतिज्ञा है। यदि हम अपने घर और पड़ोस को छोड़कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहर जाएँ तो कहना होगा कि हम अपने जीवन के पवित्र ध्येयों से गिर गए। यदि कोई आदमी बम्बई से आकर तुम्हें कुछ ऐसे पदार्थ खरीदकर भेंट में दे, जिन्हें तुम अपने ही शहर मद्रास में प्राप्त कर सकते थे तो वह भेंट तुम्हारे लिए महँगी होगी; क्योंकि यदि वह कपड़ा या भेंट की

वस्तु तुम्हारे ही शहर में खरीदी जाती तो ज़्यादा सस्ती और मज़बूत मिलती। बम्बई के व्यापारी को अपना पैसा देने के बजाय यदि वह पैसा अपने ही शहर के व्यापारी को दिया जाता तो कितने महत्व की बात होती। इस छोटे-से उदाहरण से इस देश और विदेश की कल्पना की जा सकती है।

गाँधीजी कहा करते हैं कि स्वदेशी शब्द से मेरा यही मतलब है कि मद्रास से आए हुए नाई से हजामत बनवाने के बजाय अपने क़स्बे के नाई का ही उदर-पोषण करना ज़्यादा श्रेष्ठ है। यदि तुम्हें यह मालूम होजाय कि यह नाई शिक्षित नहीं तो तुम उसे शिक्षा दिलवा सकते हो। उसे उसी देश में शिक्षा के लिए भेज सकते हो, जहाँ से मद्रासी नाई ने शिक्षा पाई है। ऐसा न करते हुए यदि तुम अन्य नाई के यहाँ जाकर हजामत बनवा लोगे और अपने क़स्बे के नाई का तिरस्कार कर दोगे तो यह तुम्हारी भयङ्कर एवं कष्टप्रद भूल है। यही स्वदेशी भाव है। जब हमें यह मालूम हो जाय कि हमारे यहाँ उपयोग में आनेवाली प्रत्येक वस्तु नहीं बनती तो हमें कोशिश करना चाहिए कि हम उसके बिना रह सकें।

* * *

महात्माजी के गाँधीवाद के मूल सिद्धान्त

निडरता की प्रतिज्ञा कोई मामूली बात नहीं है। गाँधीजी लिखते हैं कि मेरे भारत-भ्रमण में मैंने यह अनुभव ले लिया है कि भारतवासी नितान्त डरपोक हैं। हम जनता के सामने अपना मुँह खोलना पाप समझते हैं। हम अपने घरों में ही विचारों के क़िले ख़ूब ही बाँधा करते हैं। हम अपनी चहारदीवारियों में ही मनचाहे काम किया करते हैं, किन्तु जनता को हमारे उन उच्च विचारों से क्या लाभ होता है? यदि हम मौन की प्रतिज्ञा ले चुके हैं तो फिर हमें कुछ कहना ही नहीं है। गाँधीजी कहते हैं कि यदि डरना है तो केवल ईश्वर से डरो; दूसरे से डरने की आवश्यकता नहीं। यदि हम ईश्वर से डरने लगें तो फिर कभी भी किसी से डरने की आवश्यकता ही न पड़े। सत्य की प्रतिज्ञा के लिए निडरता की आवश्यकता है। भारत के भाग्य का

निबटारा करने के पहले निडर बन जाना अत्यन्त आवश्यक है। निडरता का दूसरा नाम ही सत्य है।

अछूतों के प्रश्न ने आज भारत में क्रान्ति मचा दी है। अछूतों की समस्या आज भारत के भारतीयत्व पर गहरा कलङ्क है। अछूतों का प्रश्न पुराना नहीं। यह अभागी और ग़ुलाम बनानेवाली प्रथा हमारे यहाँ उस समय आई, जब हमारा पतन-काल आरम्भ ही हुआ था। उसी समय से यह हमारे पीछे लगी है। आज तक यह हमारे साथ ही है। हमारे विचार में यह एक अभिशाप है, जो हमारे जीवन के साथ-साथ चल रहा है। जहाँ तक हम विचार करते हैं, अछूतों ने ईश्वर की समस्या शायद इसीलिए दी है कि इस पवित्र भूमि पर बढ़े हुए पापों का हमें प्रायश्चित्त भी मिले। और यही सज़ा ठीक भी है। गाँधीजी कहते हैं कि यदि कोई आदमी जूतों की दूकान लगाने लग जाय तो वह चमार नहीं हो सकता। जो लोग उसे चमार कहने के पक्ष में हैं, उनसे मेरा कहना है कि वे अभी शिक्षित नहीं हुए। अछूतों की समस्या के बाद हम देशी भाषाओं में शिक्षा देने के प्रश्न पर विचार करते हैं। यूरोप में प्रत्येक विचारशील पुरुष पढ़ता है। वह अपनी ही नहीं, किन्तु अन्यदेशीय भाषाओं को भी बड़ी ही लगन से सीखता है। महात्माजी के आश्रम में कई प्रकार की भाषाओं का ज्ञान दिया जाता है। इँगलिश भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद अन्य भाषा सीखने में विलम्ब बहुत ही कम लगता है। किन्तु अन्य भाषाओं की

अपेक्षा अँग्रेज़ी सीखना बहुत ही मुश्किल है। हम अपने बचपन के वे दुःखद दिन कैसे भूल सकते हैं, जिनमें हम अँग्रेज़ी के कठिन शब्दों को रटते-रटते रह जाते थे और थोड़ी देर के लिए अपने को बिल्कुल ही भूल जाते थे। इससे भी ज़्यादा कठिनता उन उच्च दर्जों में मालूम होती है, जिनमें विषय अपरिचित एवं भाषा विदेशी और क्लिष्ट रहती है। इससे बड़ी भयङ्कर अड़चन होती है। विद्यार्थी जी तोड़कर अभ्यास करते हैं, किन्तु सफल नहीं होते। वर्तमान शिक्षा से हम अपने दोष जान गए हैं, किन्तु समाज से डरने के कारण उन दोषों को हटाने का प्रयत्न नहीं करते।

खद्दर भारत की आत्मा है। बार-बार हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि हम हाथ-पैर क्यों हिलावें? प्रारम्भिक कार्य तो हमेशा अशिक्षितों-द्वारा ही सम्पन्न होना आवश्यक है। हमें तो केवल राजनैतिक एवं साहित्यिक कार्य ही करना चाहिए। इसके अलावा हमें दूसरे कोई कार्य करने नहीं चाहिएँ, किन्तु हमें परिश्रम की मर्यादा पर भी ध्यान देना परमावश्यक है। यदि कोई नाई या चमार कॉलेज में भरती होजाय तो उसे अपने धन्धे को छोड़ना नहीं चाहिये। हमें पूर्ण विश्वास है कि जिस तरह दवाइयों का व्यापार होता है, उसी तरह इन धन्धों से भी लाभ ही होता है। अन्त में हम सभी प्रतिज्ञाओं पर संक्षेप में विचार करके अब राजनीतिक एवं धार्मिक उपयोग पर आजाते हैं। धर्म-रहित राजनीति निरर्थक है। यदि सभी विद्यार्थी राजनीति का

पाठ पढ़ते रहें या मैदान में खड़े होकर राजनीति के ही लेक्चर झाड़ते रहें तो राष्ट्रीयता की वृद्धि कैसे हो सकती है ? इससे यह न समझ लिया जाय कि विद्यार्थी राजनीति पढ़ें ही नहीं। हमारे जीवन का एक अंग राजनीति भी है। उसके सहारे हमें अपने भारतीय समाजों का अध्ययन अवश्य ही कर लेना चाहिये। यह कार्य हम बचपन से ही कर सकते हैं। गाँधीजी के आश्रम में प्रत्येक बालक को भारतीय सभा और समाजों का अध्ययन करा दिया जाता है। उनके दिलों में राष्ट्रीयता एवं पवित्र भाव ठूँस-ठूँसकर भर दिए जाते हैं। हमें इतने पर ही सब्र नहीं कर लेना चाहिये। हमें धार्मिक विश्वास की बड़ी भारी आवश्यकता है। ऐसे धार्मिक विश्वास की नहीं, जो केवल हमारी बुद्धि को अपील करे, किन्तु हमें आवश्यकता है उस विश्वास की, जो हमारे दिलों में घर करके तदनुसार कार्य करने के लिए हमें उत्साहित करे। सब से पहले हमें अपनी धार्मिक बुद्धि को पहचानना चाहिये। यदि हम यह बात समझ लें तो समस्त जीवन की समस्याएँ हमारे सामने महल के फाटकों की तरह खुल जायेंगी और तब यह सभी का पवित्र अधिकार बन जाएगा। इससे यह होगा कि बच्चों के युवा हो जाने पर उन्हें जीवन-संग्राम में कोई कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा। आज-कल जो कुछ होरहा है, वह यह है कि राजनैतिक जीवन का बहुत कुछ भाग विद्यार्थियों तक ही सीमित है। ज्योंही विद्यार्थी गृहस्थ बने कि सब राजनीति भूल जाते हैं और नौकरी-नौकरी

की पुकार करते फिरते हैं। वे उन सिद्धान्तों को, जिनके सहारे भगवान् की याद रहती है, बिल्कुल ही भूल जाते हैं और इसी प्रकार चिल्लाते-चिल्लाते जीवन-प्रोग्राम खत्म करके दुनियाँ से कूच कर जाते हैं।

हरिजन-बन्धु गाँधी

आज महात्मा गाँधी के जीवन के ६५ वर्ष व्यतीत हो गए। इन्हीं वर्षों में से ११ साल से वे भारत का निर्द्वन्द्व नेतृत्व कर रहे हैं। वे इन्हीं ११ सालों में अमेरिका के महान् विचारकों-द्वारा संसार के महान् व्यक्ति ठहराए गये उनकी महात्मा बुद्ध, ईसा-आदि पैग़म्बरों से तुलना भी हुई। वह पॉल और सेण्ट फ्रैंसिस-जैसे सन्तों से श्रेष्ठ माने गए। लोगों का कथन है कि उन राज्यों में जहाँ बादशाह का शासन है, महात्मा गाँधी के समान आज तक किसी ने हलचल नहीं मचाई। और-तो-और विद्वानों ने यहाँ तक बताया है कि महात्माजी आज संसार का नेतृत्व करने में पूर्ण समर्थ हैं। आज, युद्ध-प्रिय और लड़ाके राज्य भी उनके अपूर्व शान्तिमय उपदेश को ग्रहण कर रहे हैं।

यह क्रान्ति का ज़माना है। महात्मा गाँधी संसार के सर्वश्रेष्ठ क्रान्तिकारी माने गये हैं। बहुत-से क्रान्तिकारियों ने संसार को रङ्गभूमि पर कई दृश्य ऐसे दिखाए हैं, जिन से संसार भी दाँतों-तले उँगली दबा गया; किन्तु महात्मा गाँधी की अद्भुत क्रान्ति ने मनुष्य के मानसिक जगत् में घोर क्रान्ति मचा रक्खी है। बहुत-से राजा क्रान्ति को देखने के लिए जङ्गली 'शक्ति' का

प्रयोग करते हैं; किन्तु दबाना तो दूर रहा, वे अपने-आपको जानवरों के बराबर साबित कर देते हैं। यह कार्य आत्मिक बल का ही है, जो हमें पशु और पक्षियों से भिन्न करता है। आज तक की क्रान्तियाँ शारीरिक बल-प्रयोग तक ही सीमित रहीं; किन्तु महात्माजी की क्रान्ति सत्याग्रह की क्रान्ति है। यह आध्यात्मिक क्रान्ति भी है। जो कुछ गाँधीजी ने किया है, वह केवल हमारे असली मानसिक तत्व को जागरित करने के लिए किया है। गाँधीजी के लिये 'अमेरिका सर्वस्व वार चुका। वहीं का एक प्रसिद्ध उपदेशक कितने सुन्दर और उपयुक्त शब्दों में गाँधीजी के तत्वों का दिग्दर्शन करता है:—

"गाँधीजी ने आध्यात्मिक सत्य को प्राप्त कर लिया और सावित भी कर दिया।"

महात्माजी ने अछूतों के लिए वह कार्य किया हैं, जिसे संसार में इन अनाथों के लिए कोई भी नहीं कर सकता। यदि यह कह दिया जाय कि वे अनाथों एवं अछूतों की बलिवेदी पर जीवित बलि के सदृश हैं, तो कोई अत्युक्ति और अमङ्गल-सूचक बात नहीं। जिस समय हम यह सोचते-समझते हैं कि अछूतों के हक़ दिलाने और उन्हें समाज के योग्य बनाने में महात्माजी का कितना हाथ है, उसी समय हमें अनायास और बरबस श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्दजी की याद आ जाती है। अँधेरे कुँए से उठाकर अछूतों को मैदान में प्रकाश दिखाना और ऐसा-वैसा मैदान नहीं, राजनैतिक अखाड़े की हवा खिलाना उस

रण-बाँकुरे संन्यासी का ही कार्य था। 'अमृतसर की कांग्रेस-कमेटी के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से उस महान् त्यागी संन्यासी ने राष्ट्रपति के इस अमर युद्ध में अछूतों के उद्धार का प्रश्न किस ख़ूबी से सुलझाया था, वह सुननेवाले ही जानते हैं। वह बात इस कान से उस कान तक ही नहीं रह गई, वरन् प्रत्येक सभासद और श्रोता के दिल को भेद गई। उसके कुछ महीने बाद ही असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने की आज्ञा महात्मा गाँधी के प्रयत्न से अछूतों को भी मिल गई। महात्माजी को यह ज्ञात हो गया कि हिंसा से परे असहयोग का वास्तविक अर्थ लोग अभी समझे नहीं। इसलिए इस समस्या को स्पष्ट करने के लिए महात्माजी एक साल तक क्रमशः लेख लिखते रहे। हिन्दुत्व का विचार करते हुए महात्माजी कहते हैं—

"अछूतपन हिन्दू-धर्म का कोई हिस्सा नहीं।" महात्माजी कट्टर सनातनी बनकर वैष्णव एवं सङ्कोची रूढ़ि-मार्गी हिन्दुओं से पूछते हैं कि भाई, यह तो बताओ कि अछूत-केवट राम को, जो अवतार थे, नाव में बैठाकर पार कैसे ले गया? सनातनी कट्टरवाद के नियमों से तो राम भ्रष्ट हो गए। यह प्रश्न महात्माजी उन्हीं लोगों से पूछते हैं, जो अछूतों के प्रश्न को धर्म का आवरण चढ़ाकर 'भ्रष्ट हो गए'-आदि की आवाज़ों को बुलन्द करते हैं। जब हम उसी केवट-द्वारा छुए गए राम की रात-दिन पूजा करते हैं और इसे भोग लगाकर सब उस भोग को ग्रहण करते हैं, तो फिर हिन्दू-धर्म में अछूत

कैसे हुए ? महात्माजी इस पर बहुत ज़ोर देते हैं कि हिन्दू, हिन्दू-धर्म में अछूतपन को मान देकर वड़ा भारी पाप कर रहे हैं और अपने ध्येयों से गिरकर घोर नरक की ओर जा रहे हैं। और-तो-और, जिन मुसलमानों ने दक्षिण-आफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका और कनाडा में इस प्रश्न का सम्मान किया, वे मुसलमान होते हुए भी वहाँ के निवासियों-द्वारा 'नरक के वादशाह' कहलाए। महामना स्वर्गीय गोखले ने लिखा है—"इन अनाथों से हम ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों को छीनकर नरक में गिरने का रास्ता ढूँढ रहे हैं। महात्माजी गोखले को अपना गुरु मानते हैं। यह वात उन्होंने अपने स्व-लिखित जीवन-चरित्र My Experiments with Truth या 'सत्य के अनुभव' में स्वीकार भी की है। गाँधीजी ने लिखा है कि गोखले के शब्द को मैं ज्यों-का-त्यों निभा रहा हूँ।

हम अछूतों को नारकीय कीड़े मानकर अपनी महान् मूर्खता का पूर्ण परिचय दे रहे हैं। उन्हें हम कुएँ पर नहीं आने देते। थाली की बची-खुची जूठन उन्हें देते हैं। उनकी छाया तक से हम भ्रष्ट होजाते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वे वेचारे हमारे अत्याचारों को निर्विवाद सहन करते रहते हैं। इसके लिए हम किसी को दोष नहीं देना चाहते। इन ज्वलन्त शब्दों-द्वारा महात्मा गाँधी उस पाप को खोलकर हिन्दुओं के समाने रखना चाहते हैं, जिन्हें पाप समझते हुए भी वे पाप नहीं मानते हैं। गाँधीजी अपने देशवासियों से कहते हैं कि आप लोग असहयोग

आन्दोलन में मेरा साथ नहीं देना चाहते तो शौक़ से न दीजिये, मैं भिन्न-भिन्न जातियों को एकत्रित करके तुम्हारे संगठन से भी दुगना संगठन कर लूँगा। महात्माजी डंके की चोट हिन्दुओं से कहा करते हैं कि यदि तुम्हें सरकार के खिलाफ असहयोग करना है तो अछूतों को अपने गले से लगाकर मैदान में उतारो; चाहे आज वे मुसलमानों के साथ हों।

असहयोग आन्दोलन जब हिंसा-रहित होता है, तब वह 'आत्म-शुद्धि' का मार्ग है। महात्माजी कहा करते हैं कि यदि अछूतों पर अत्याचार होते ही रहे तो मैं डंके की चोट कह देता हूँ कि यह दोष श्रीमान् और उच्च जाति के धर्मान्ध अधिकारियों का ही है। कट्टर धर्माधिकारी ही सब मामले उल्टा देते हैं। अमर शहीद महात्मा श्रद्धानन्द जी ने ऐसे कट्टरवादियों को उप-देश दिया है कि वे इस पाप का प्रायश्चित्त करें। यही बात महात्मा गाँधी ने भी सुझाई है। नागपुर काँग्रेस-कमेटी की प्रबन्धकारिणी सभा ने महात्मा गाँधी के इस प्रस्ताव को निर्वि-वाद स्वीकार कर लिया कि अहिंसात्मक सत्याग्रह-आन्दोलन में छुआछूत का विचार न रखा जाय। राष्ट्रीय महासभा ने भी यह प्रस्ताव पास कर दिया है कि छुआछूत का झगड़ा स्वराज्य में ज़बरदस्त रुकावट है। इसे शीघ्र ही त्याग दिया जाय। कई सभासदों ने इसके खिलाफ़ आवाज़ उठाई, किन्तु वे यह सिद्ध न कर सके कि छुआछूत को रखने से अमुक लाभ है। बहुतों ने महात्माजी को राय दी कि आपका प्रस्ताव साधारण प्रस्ताव की

तरह मानकर कार्य किया जाय, किन्तु महात्मा गाँधी ने इसके विरुद्ध "Young India" ३ नवम्बर सन् १६२१ में उत्तर दिया कि बिना आधार के इस प्रश्न को साधारण क़रार देना इस प्रश्न को अर्थ-हीन बना देना है। सत्याग्रहियों को सामाजिक बायकाट करना ही चाहिए। अपने कार्य में ज़ुल्म होता देख, उसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी ही चाहिए। स्वराज्य की प्राप्ति के मार्ग में छुआछूत को नष्ट कर ही डालना चाहिए। इसके बिना समस्या हल हो ही नहीं सकती। यह नहीं कहा जा सकता कि महात्मा गाँधी को दक्षिण-अफ्रिका में किए गए अत्याचारों को देखकर ही अछूतों पर दया आई। महात्मा गाँधी और स्वामी श्रद्धानन्द इस विषय में एक हैं। दोनों ने इस क्षेत्र में बराबर कार्य किया है; किसी ने भी न्यून नहीं।

पचास साल पहिले जब मोहनदास बालक थे, तभी उनके दिल में यह प्रश्न घर कर चुका था। ऊका-नामक भङ्गी, जो मोहनदास गाँधी के पाख़ाने को साफ़ किया करता था, बड़ा सीधा-सादा मनुष्य था। यदि मोहनदास उसे छू लेते तो उन्हें शुद्धि निमित्त शास्त्रीय कृत्य करने पड़ते थे। उस समय परवश होने के कारण माता की आज्ञा टाल तो नहीं सकते थे, किन्तु झगड़ते अवश्य रहते थे कि हमारे शास्त्रों में अछूतों से परहेज़ करना कहीं भी नहीं लिखा होगा। वे अपनी माता से पूछा करते थे कि ऊका को छूना क्यों मना है? उस समय भी माता की मर्यादा रखते हुए गाँधीजी कहा करते थे कि यह माता की ग़लती है, जो

वह ऊका के शरीर-स्पर्श को पाप मानती है। आज उस बात को व्यतीत हुए पचास साल हो चुके हैं और १४ साल कलकत्ते का राष्ट्रीय सभा की खास बैठक को होगए हैं, जिसमें अहिंसात्मक सत्याग्रह-आन्दोलन स्वीकार किया गया। इस विषय को लिखते हुए महात्माजी २७ अक्टूबर १६२० के 'Young India' में लिखते हैं—"जहाँ तक मेरी नज़र जाती है, मुझे हिन्दुओं में कोई भी ऐसा नेता नहीं मिलता, जो अछूतों का नेता कहलाये।"

महात्माजी लिखते हैं कि आज हमें यह जानकर हर्ष है कि डॉक्टर अम्बेडकर अपने को अछूतों का नेता स्वीकार करते हैं। जब डाक्टर अम्बेडकर ने नवम्बर १६३१ द्वितीय राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स में अछूतों की ओर से बोलते हुए कहा कि मैं अछूतों का प्रतिनिधि हूँ, तो महात्माजी ने प्रसन्न होकर उन्हें वहीं धन्यवाद दिया। किन्तु डॉक्टर साहब ने अछूतों की समस्या उक्त कान्फ्रेन्स में हल न करते हुए उलझा दी। जब ये समाचार भारत में अछूतों को मालूम हुए तो उन्होंने सभा में प्रस्ताव किया कि डॉक्टर अम्बेडकर हमारे प्रतिनिधि न हों, न हमें इनका फ़ैसला स्वीकार होगा। हम अछूतों के प्राण तो वही "महात्मा गाँधी" हैं। आज गाँधीजी को करोड़ों लोग अपना प्राण समझ रहे हैं। इसका कारण कुछ और नहीं। वे अछूतों को कोरी बातों का प्रेम नहीं दिखाते, वरन् उनके लिए मरने-मिटने को तैयार है। तारीख ६ नवम्बर

सन् १६३१ को सेन्ट जेम्स पैलेस लन्दन में राउन्ड-टेबल कान्फ्रेन्स के मौक़े पर देशी प्रतिनिधियों के मन-मुटाव से दुःखी होकर महात्मा गाँधी ने कहा था—

"अन्यान्य सम्प्रदायों के लिए जो दावे किये जाते हैं, उन्हें तो मैं समझ भी सकता हूँ, किन्तु अछूतों के लिए जो दावा किया जाता है वह तो अत्यन्त ही क्रूर है। उन्हें स्वतन्त्र निर्वाचन-क्षेत्र देने का मतलब यह है कि वें सभी साधारण समाज में मिल-जुल न सकें। भारत की स्वतन्त्रता के लिए भी अछूतों के मूल अधिकारों को बेचना स्वीकार न करूँगा। यहाँ मैं कांग्रेस की ही ओर से नहीं बोल रहा हूँ, अपनी भी ओर से बोल रहा हूँ। मेरा दावा है कि यदि अछूतों के वोट के लिए जायँ तो सब से ज़्यादा मुझे मिलेंगे। मैं भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फिरूँगा और अछूतों को बतलाऊँगा कि पृथक् निर्वाचन से उनका हित न होगा। —इससे वह बाधा दूर न होगी, जो उनके लिए ही हानिकारक नहीं, वरन् भारत-भर के लिए लज्जाजनक है। इस कमेटी और संसार को जानना चाहिए कि भारत में ऐसे सुधारकों का एक दल है, जिसने अछूतपन को मिटा देने का बीड़ा उठाया है। मैं नहीं चाहता कि अछूत सदा अछूत बने रहें। अछूतपन के सदा बने रहने की अपेक्षा हिन्दू-जाति का मिट जाना अच्छा है। श्री० अम्बेडकर की योग्यता तथा अछूतों की उन्नति के सम्बन्ध की उनकी इच्छा का आदर करते हुए मैं कहूँगा कि

अब तक उनके साथ जो अन्याय हुआ है, उससे उनका विवेक मन्द होगया है। यह कहते दुःख होता है, पर कहना मेरा धर्म है। सारे संसार के राज्य के लिए भी मैं अछूतों के सत्व को नष्ट न होने दूँगा। डॉक्टर अम्बेडकर ने जो दावा किया है, वह ठीक नहीं है। यदि उनका कहना मंजूर हो जाय तो हिन्दुओं में एक विभाग हो जायेगा, जिसे मैं शान्त हृदय से न देख सकूँगा। अछूत यदि मुसलमान या ईसाई हो जायँ तो मुझे इसकी परवाह नहीं। मैं इसे सहन कर सकता हूँ। पर मेरे लिए हिन्दू-जाति की यह अवस्था असह्य है कि उसके दो टुकड़े हो जायँ। जो अछूतों के राजनीतिक स्वत्वों की बातें करते हैं, वे भारत को नहीं जानते कि वहाँ समाज किस प्रकार बना है। अतः मैं अन्त में स्पष्ट शब्दों में कहता हूँ कि इस दावे का विरोध अगर अकेले मुझे ही करना पड़े तो आखिरी दम तक करता रहूँगा।'

इस सिंहनाद में अछूतों के प्राण महात्माजी दिखाई देते हैं या डॉक्टर अम्बेडकर ?

* * *

संसार क्या कहता है?

आज यह निर्विवाद सत्य है कि महात्मा गाँधी हिन्दू शास्त्रों के अनुसार अवतारी पुरुष हैं। महात्मा बुद्ध-आदि अवतारी पुरुषों ने भी अपने उपदेशों के प्रचार के लिए जीवन का बलिदान कर दिया था, किन्तु उनके जीवन-काल में लोग उनके विरोधी ही रहे। आज हम अपनी आँखों से देख रहे हैं कि महान्-से-महान् शक्ति भी उनकी सत्यता एवं अहिंसा के बल के आगे नत-मस्तक हो चुकी है। उन्हीं अवतारी महात्मा के लिए महान् महात्माओं की क्या राय है, वही इस लेख में दिखलाया गया है। इस लेख में प्रायः प्रत्येक महाद्वीप के विद्वान् महापुरुषों की ही सम्मति को ग्रहण किया है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि संसार आज महात्माजी को क्या समझ रहा है।

भारत-मन्त्री मिस्टर माण्टेग्यू लिखते हैं—"भारतीय जनता में महात्माजी का महत्व और प्रतिष्ठा सर्वाधिक है। उनके उद्देश्य अत्यन्त महान् और चरित्र निर्मल है। देश-सेवा में उनके निःस्वार्थ आत्म-त्याग की तुलना नहीं है। उनके कारण भारत-सरकार जितनी परेशान रहती है, उतनी वह कभी किसी के लिए नहीं रही। मुझे गौरव है कि महात्माजी का मैं भी एक मित्र हूँ...।"

इँग्लैण्ड के प्रमुख पादरी लॉर्ड-बिशप महात्माजी पर मुग्ध होकर लिखते हैं—"महात्मा गाँधी को जिन अधिकारियों ने कारागार में बन्द किया है, वे अपना परिचय ईसाई के नाम से दे देते हैं। मेरी दृष्टि में तो श्रीमान् गाँधी ही ईसा के योग्यतर प्रतिनिधि हैं। कारण कि वे न्याय और कृपा-लाभ के निमित्त धैर्य-बल-द्वारा शासकों के उत्पीड़नों को सह रहे हैं।"

सुप्रसिद्ध हेनरी एस० एल० पोलक साहब ने लिखा है—"जीवन की चिरस्थायी और सत्य वस्तु के लिए ही उनके जीवन का अस्तित्व है, अतएव वे सतत ज्योतिर्मय ध्रुव हैं।...गाँधीजी के जीवन में परमात्मा की विभूति का निवास है।"

महात्मा काउण्ट लियो टॉल्सटॉय महात्माजी के लिए एक प्रकार अमृत-वर्षा करते हैं—"वर्तमान काल में एक-मात्र गाँधी ही ईश्वर के सच्चे प्रतिनिधि हैं; क्योंकि उन्होंने दीन और दरिद्र व्यक्तियों के लिए ही अपना सर्वस्व त्यागकर परोपकार व्रत धारण किया है। आज से मैं उनका नामकरण 'श्रीमान्

गाँधी' के स्थान पर 'दीनबन्धु गाँधी' करता हूँ।"

मिस्टर एच० एस० हेनरी का कथन है—"उन्हें हम दूसरा 'रस्किन' कहते हैं। उनका हृदय परमोदार विचारों से परिपूर्ण है। महात्माजी प्रायः प्रत्येक जीव में परमात्मा का दर्शन करते हैं।...समस्त जीव भगवान् के अंश हैं, अतएव आत्मीय हैं।"

स्वर्गीय गोखले ने महात्माजी के कार्य्यों से प्रसन्न होकर मुक्त-कण्ठ से उनकी प्रशंसा की थी। वे लिखते हैं—"जिन सौभाग्य-शाली व्यक्तियों ने एक बार भी महात्मा गाँधी से साक्षात्कार या वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त किया है, वे जानते हैं कि महात्माजी का जीवन कैसी अलौकिक शक्तियों से परिपूर्ण है। संसार के इतिहास में जो महापुरुष देशवासियों के कल्याणार्थ आत्मोत्सर्ग कर, चिरस्मरणीय कीर्ति छोड़ गये हैं, महात्मा गाँधी भी उन्हीं के सदृश धातुओं से गठित हैं। और यदि यह भी कह दिया जाय कि उनका जीवन उक्त पुरुषों के जीवन से कितने ही अंशों में ऊँचा भी है, तो कोई अत्युक्ति भी नहीं होगी।...श्रीमान् गाँधीजी ने अफ्रीका के मामले में पड़कर अपूर्व आत्म-विसर्जन किया है। उन्होंने इसी मामले में ६० हज़ार रुपयों की वार्षिक आय पर ही पदाघात नहीं किया, वरन् महात्मा बुद्ध की भाँति सर्व-त्याग—नहीं, नहीं, महात्याग किया है। इस समय केवल देशवासियों की भलाई के लिए वे सपरिवार दरिद्र भिखारी के समान जीवन बिता रहे हैं।......उनके ऊपर अफ्रीका में सैकड़ों बार अँग्रेज़ों-द्वारा अत्याचार हुए, तथापि उन

में कभी अँग्रेज-द्वेष ने स्थान नहीं पाया। यही कारण है कि आज अँग्रेज़ भी उन पर अपार श्रद्धा रखते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में घोर विरोधी होते हुए भी अँग्रेज़ उन्हें एक सच्चा साधु और महापुरुष समझते हैं।'

श्रीमती सरोजिनी नायडू लिखती हैं—"मेरा विश्वास है कि राजनीतिक विप्लव के इन घोर दुर्दिनों में देश को सत्याग्रह का प्रकाश दिखाकर ठीक कल्याणकारी पथ पर ले जानेवाला सिवाय महात्मा गाँधी के और कोई भी व्यक्ति नहीं है।"

महात्यागी स्वर्गस्थ पण्डित मोतीलालजी लिखते हैं—"जिस समय मैं अँग्रेज़-शासक सम्प्रदाय का घोर पक्षपाती था, उस समय महात्मा गाँधी को एक विक्षिप्त व्यक्ति समझता था, किन्तु आज मैं देखता हूँ कि देश-भर पागल है, और इस पागलपन को दूर करनेवाले एक-मात्र चिकित्सक महात्मा गाँधी ही हैं।"

मिस्टर वेनस्यूर ने तो महात्मा गाँधी की प्रशंसा में हृदय निकालकर ही रख दिया है—"महात्मा गाँधी संसार के असाधारण व्यक्तियों में से हैं। उनका शत्रु भी उनके दोष नहीं पाता।...उनके परम विरोधी सर विलेण्टाइना शिरोल ने कह ही दिया है कि वे आध्यात्मिकता की मूर्ति हैं।...जन-साधारण ही उनका नेतृत्व नहीं मानते, वरन् वे पढ़े-लिखे लोगों के भी वैसे ही महात्मा हैं। उनकी वास्तविक शक्ति का लोहा अनेकों सरकारी अफ़सर भी मानते हैं।...जर्मन-युद्ध समुद्र-मन्थन से कितने ही रत्न निकले, उनमें आज दो रत्नों का प्रकाश संसार

के नेत्रों को झँपाए देता है। पश्चिम ने लेनिन को और पूर्व ने गाँधी को पैदा किया है। दोनों रत्नों में महान् भेद है; क्योंकि पहले का विश्वास अधिभौतिक बल पर है और दूसरे का आध्यात्मिक बल पर। एक तलवार को ही अपना सहारा समझ रहा है, दूसरा अहिंसा को।···ये दोनों व्यक्ति परस्पर-विरोधिनी शक्तियों के अवतार प्रतीत होते हैं।······उद्देश्य भी दोनों के भिन्न-भिन्न हैं, लेनिन की शक्ति संसार में साम्य की प्रतिष्ठा करना चाहती है और महात्मा गाँधी की शक्ति विलास-मूलक पश्चिमी सभ्यता का सिंहासन धूल में मिला देना चाहती है।"

आयरिश देश-भक्त डी० वेलरा लिखते हैं—"मैं उसमें (गाँधी) सदाचार की विशेष मात्रा पाता हूँ। अँग्रेज़ों को यदि किसी बात का डर है, तो वह महात्माजी की निश्चयात्मक बुद्धि का ही है।"

मिस्र के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री और वर्तमान वफ़्द-पार्टी के प्रेसीडेण्ट मुस्तफ़ा नहसपाशा लिखते हैं—"वह मिस्र, जो स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के लिये इतना युद्ध कर रहा है, गाँधी-जी का सम्मान करता है। सम्मान भी उतना ही, जितना अमर वीर जुगलुल पाशा का किया गया है।···यदि हम गाँधीजी के सिद्धान्तों पर ही चलेंगे, तो निश्चय जयश्री हमारे ही अधिकार में आजायगी···।"

अखिल-भारतीय काँग्रेस के सभापति वल्लभभाई पटेल लिखते हैं—"हमारे महान् नेता को संसार आज जिस नज़र से

देख रहा है, उस बात को समझना हमारा भी फ़र्ज़ है। आज एक साल के थोड़े-से समय के प्रमुख नेतृत्व में उन्होंने भारत को क्या, संसार को अचम्भे में डाल दिया है।"

डॉक्टर अन्सारी लिखते हैं—"महात्माजी, बिना सन्देह के महान्—संसार के महान्—व्यक्ति हैं। सारा संसार आज उन्हें वैसा ही मान भी रहा है..."

रेजीनल्ड रेनॉल्डस लिखते हैं—"चाहे स्वराज्य सेण्ट-जेम्स के महलों में मिले, चाहे धरसाना, शोलापुर और पेशावर में मिले, किन्तु महात्माजी के सफल सिद्धान्त अवश्य ही स्वराज्य दिलायेंगे......।"

बाल्डविन लिखते हैं—"ईश्वर ने भारतवर्ष को महात्मा गाँधी के सदृश सच्चा सुपात्र दिया है। ईश्वर भारत को महात्मा गाँधी के योग्य बनाए।"

'Ten great men of the world' (संसार के दस श्रेष्ठ महापुरुष')-नामक लेख में, जो कैरो से निकलनेवाले पत्र 'अलहिलाल' में प्रकाशित हुआ है, उस्ताद सुलेमान मूसा लिखते हैं—"महात्मा गाँधी ही संसार के इतिहास में ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जो प्रेम-द्वारा देश को स्वतन्त्र करना चाहते हैं।...... अपनी सादगी और महान् चरित्र-बल के सहारे आज वे संसार के शिरोमणि हैं...।"

सर प्रभाशङ्कर पट्टनी लिखते हैं—"भारतवर्ष का भाग्य महात्माजी पर विश्वास करने की शक्ति के प्रमाण पर निर्भर है।"

महात्मा गाँधी का धर्म

साड़े पैंतीस करोड़ मनुष्यों का भाग्य-निर्णय एक ही मनुष्य के हाथ में है। भारत की संकटावस्था में, भारतीय, सुनहरी गुम्बदोंवाले महाराजाओं की ओर नहीं देखते। वे चर्चिल के अर्धनग्न फ़क़ीर की तरफ़ परम उत्सुकता के साथ देखते हैं क्योंकि इस फ़क़ीर ने भारतीयों के दिल में, न-जाने कैसे घर कर लिया है। लोग कहते हैं कि यह फ़क़ीर तो हमारे प्राचीन धर्म और सभ्यता का साक्षात् अवतार है। ऐसा मालूम होता है कि हमारे भारतीय आदर्शों के स्वप्न इस फ़कीर के द्वारा सच्चे हो जायेंगे। इस महापुरुष के हाथ में आज कितना यश और बल है, यह बात या तो ईमान्दार और सच्चे अंग्रेज़ ही बता सकते हैं, या भारतीय और अमेरिका-निवासी ही। परमात्मा हमेशा उसके साथ है। उसके चरखे की गुञ्जार में अनहद नाद

का भास होता है। यह दुनिया किसी अदृश्य शक्ति-द्वारा संचालित होती है और क्या मालूम उसी शक्ति ने मोहन को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा हो ? शायद हम यह सोचें कि बनिया-बुद्धि के मनुष्य से भला राजनीतिक क्षेत्र में क्या हो सकता ? वह समस्त भारत का नेतृत्व भला कैसे कर सकता है ? पर हमें इसमें आश्चर्य करने की कोई बात ही नज़र नहीं आती। इस हिन्दुस्थान में तो महान् दरिद्री और ग़रीब मनुष्यों ने ही विजय प्राप्त की है। गाँधीजी दरिद्रता में ही दरिद्रनारायण के दर्शन किया करते हैं। वे बनिये हैं। इसी दरिद्रता के सौदे को लेकर वे पूर्व और पश्चिम के बाज़ार में बेचने निकले हैं। अपने माल की क़ीमत वे समस्त दुनियाँ की खानों के सोने से भी ज़्यादा बता रहे हैं। यह बनिया स्वतन्त्र है। इसका माल ईश्वरीय कम्पनी का टकसाली माल है। यह मनुष्य मनुष्यता की प्रतिमा है। कोई कुछ भी कहे, हम तो कहेंगे कि यह तो द्रव्य-हीन परिव्राजक है। रात-दिन समस्त भारत के कोने-कोने में चक्कर काटता रहता है। शायद इन्हीं भ्रमणों में भारतीयों को जागरित करने की शक्ति है।

गाँधी का रहस्य उसके धर्म में है। लेखक लिखा करते हैं कि वह हिन्दू है, जिसने अपने महान् त्याग के बल पर महात्मा की सर्वोच्च पदवी प्राप्त कर ली है। सत्य तो यह है कि वर्तमान हिन्दू धर्म और महात्मा गाँधी के धर्म में महान् भेद है। अन्य धर्मों की तरह महात्मा गाँधी का धर्म भी उन्नति पर है। मनुष्य उस

धर्म में सत्य के दर्शन चाहते हैं। उसने अपने धर्म में से प्राचीन धार्मिक ढोंग निकाल दिए हैं और इसीलिए आज वह संसार में नवीन धर्म का प्रचारक एवं सर्वमान्य ईश्वरीय दूत कहाता है।

महात्मा गाँधी कभी-कभी अपने गृहस्थ-जीवन का भी वर्णन् बड़े ही अनोखे ढङ्ग से किया करते हैं। उनके पिता राजकोट के प्रधान मन्त्री थे, किन्तु धार्मिक विश्वास का बीज बोनेवाली उनकी माता ही थीं। वे हमेशा प्रसन्न-बदन रहतीं। सदाचार ही उनके जीवन का परम लक्ष्य था। उपवास और कड़े-से-कड़े व्रत पालन करने में उन्होंने नाम कमा लिया था। महात्मा गाँधी को बचपन में धर्म की अक्षरीय शिक्षा नहीं मिली। उनकी माता उन्हें प्रति-दिन मन्दिर में लेजाती थीं, किन्तु गाँधीजी को मन्दिर में जाकर निराश ही होना पड़ता था। गाँधीजी को मन्दिर के देवता पत्थर की मूर्ति ही दिखाई देते थे।

बचपन में गाँधीजी अँधेरे में बहुत डरते थे। उनकी दाई ने भी उन्हें यही शिक्षा दी थी। दाई ने उन्हें यह भी कहा था कि भूतों का डर राम-नाम लेने से भाग जाता है। गाँधीजी अभी तक कहते हैं कि मुझे अँधेरे से डर लगता है, किन्तु आज के अँधेरे शब्द में और बचपनवाले शब्द में आकाश-पाताल का अन्तर है। गाँधीजी का उपनयन-संस्कार सातवें वर्ष और विवाह तेरहवें वर्ष में हुआ। वे कहा करते हैं कि युवावस्था में मैंने चार पाप ऐसे भयंकर किये हैं कि वे पाप आज भी मेरे पीछे छाया की तरह लगे हैं। पहिला पाप तो वे इसी को मानते हैं

कि उनकी हस्त-लिपि खराब है। अन्जान अवस्था में दूसरा पाप उन्होंने गोश्त खाने का किया था। वे कहा करते हैं कि जब मैं सोने जाया करता हूँ,तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि कोई जीवित उद्दण्ड बकरा मुझ से बदला लेने के लिए मेरे हृदय को चीरे डालता है। इससे मेरे हृदय में भारी वेदना होती है। अत्यन्त लज्जित होकर गाँधीजी यह भी कहा करते हैं कि मैं पहिले सिगरेट के पैकेट-के-पैकेट फूँक दिया करता था। जब मेरे पास सिगरेट खरीदने के लिये पैसा नहीं रहता तो मेरे दिल में यह आया करता था कि इससे तो आत्महत्या कर लेना श्रेष्ठ है। वे सब से बड़ा पाप यह बताते हैं कि उन्होंने चुपके से अपने बड़े भाई के बाजूबन्द का सोना चुरा लिया था। आज भी महात्माजी इस घटना का वर्णन् जिस घृणा के साथ करने बैठ जाते हैं, दर्शकों के दिल पर उस घृणात्मक कार्य की वर्णन्-शैली का प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता।

किन्तु इन ऐबों से छुटकारा भी पास ही था। उन्हें जन-साधारण के धर्म में शङ्काएँ थीं। उन्होंने जातीय समस्या पर धार्मिक ग्रन्थ पढ़े, किन्तु चित्त में शान्ति नहीं हुई। वे अपनी शङ्काएँ बुज़ुर्गों के सन्मुख रखते, किन्तु वे कह दिया करते थे कि उम्र आने पर स्वतः सब-कुछ समझ जाओगे। महात्माजी कहा करते हैं कि उस समय भी एक बात ने मेरे हृदय में गहरी नींव जमा ली थी, वह यह कि संसार में सच्चरित्रता ही सर्वोपरि है और सच्चरित्रता का तत्व ही सत्य है। इसलिए सत्य

ही मेरा अब एक-मात्र लक्ष्य होगया। सत्य का भूत मुझ पर उत्तरोत्तर चढ़ता और बढ़ता ही गया। गाँधीजी का वर्तमान हिन्दू-धर्म से विश्वास उठता गया; यद्यपि आज तक वे पूज्य ग्रन्थों का पाठ किया ही करते हैं। वे सत्य के सिवाय किसी में महत्व मानते ही नहीं। यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि उनका सत्य काल्पनिक सत्य नहीं, वरन् उपयोग में आनेवाला एवं असलियत को बतानेवाला सत्य है। उनके सत्य में हार्दिक सत्यता के साथ-ही-साथ ब्रह्मानन्द का सुवर्ण सम्मिलन है। इसके उदाहरण के लिए उनका स्व-रचित आत्म-चरित्र ही काफ़ी है। जब गाँधीजी बैरिस्टरी पास करने के लिये लन्दन जाने लगे तो लोगों ने कहा कि यह ठीक नहीं। भारतवर्ष से बाहर जाने पर धर्म और जाति दोनों से च्युत होना पड़ेगा। लन्दन में ईसाई धर्म है। उस समय वहाँ उस धर्म के महान् प्रचारक स्परजन और पारकर आदि मौजूद ही थे। वे उपदेश देने में अद्वितीय थे। लन्दन में पहुँचकर गाँधीजी ईसाई मित्रों से मिले। इन मित्रों ने गाँधीजी पर काफ़ी असर डाला। उन्होंने सारी बायबिल भी पढ़ी। ईसाई होने के लिए कई मित्रों ने आग्रह किया। कई लोगों ने मजबूर भी किया। गाँधीजी ने ईसाई धर्म के महत्वपूर्ण और बड़े-बड़े सिद्धान्तों को तो मान लिया, किन्तु सम्पूर्णतया दीक्षित होने के लिए वे तैयार नहीं हुए। उन्हें योरोपीय अनात्मवाद (Materialism) से घृणा हो गई; क्योंकि उसमें सत्य की आड़ में दिखावा बहुत है।

गाँधीजी के धर्म की खोज के लिए कहीं बाहर चक्कर काटने की आवश्यकता नहीं, वह तो उनके जीवन से सम्बन्धित ही है। गाँधीजी को लोग महात्मा व्यर्थ ही कहते हैं। उनका जीवन पवित्र है। दम्पति के जीवन में जो आनन्द का अनुभव होता है, उसे वे कभी का छोड़ चुके। अब तो वे भोजन में केवल पाँच पदार्थ खाते हैं। शराब और तम्बाकू वे पीते ही नहीं, न मांस ही खाते हैं। अपने पवित्र आश्रम में, समय मिलने पर वे शिष्यों को सत्य के सिद्धान्त सिखाया करते हैं। गाँधीजी सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के परम भक्त हैं और यही उनका धर्म है। वे कहा करते हैं कि लोग मुझे सन्त कहकर सन्त शब्द की मर्यादा और प्रतिष्ठा कम कर रहे हैं। गाँधीजी ने अपने पापों का स्पष्ट दिग्दर्शन दुनियाँ के सम्मुख कर ही दिया है। वे कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का दूत है। गाँधीजी लिखते हैं कि ईश्वर में मेरा परम विश्वास है। ईश्वरीय शक्ति प्रत्येक के अन्दर मौजूद है, उसकी मृदु ध्वनि प्रत्येक के अन्तर में गूँजती रहती है किन्तु हम उस पर ध्यान ही नहीं देते।

महात्माजी में कुछ ऐसी विशेषता हैं, जिनसे उनके आदर्श में विचित्रता एवं अनोखापन आ गया है। वे छुआछूत के झगड़े से दूर भागते हैं। वे अपने साथ भंगी को भी बैठा लेते हैं, क्योंकि उनके दिल में प्राणियों के प्रति सहानुभूति है। वे अछूतों को "हरिजन" कहा करते हैं। वे इस यंत्र-युग की भी बुराइयाँ बताया करते हैं। गाँधीजी यंत्रों से घृणा करते हैं। अब

कहते हैं कि यंत्र मनुष्यों को आलसी बना रहे हैं। यह कथन सत्य भी है। उनका ख्याल है कि पश्चिमीय सभ्यता जिस मशीन के उद्देश्य को पूर्ण करने में लवलीन है, वह ग़लत रास्ते पर है। वे चरखे को ही यंत्रों में सर्वश्रेष्ठ आविष्कार मानते हैं। वे भारत की दुरवस्था और दुर्भाग्य का निर्णय इसी महान् आविष्कार—चरखे-द्वारा ही किया चाहते हैं। इसीलिए वे चरखे का प्रचार भारतवर्ष के कोने-कोने में करना चाहते हैं।

गाँधीजी की शक्ति का अन्तिम रहस्य खोलना फिर भी रह ही गया। वह रहस्य और कुछ भी नहीं, केवल उनके दुःख सहने की शक्ति है। भारतवासी उन्हें इसी लिए पूजते हैं कि वे उनके लिए मर-मिटने को तैयार हैं। एक समय गाँधीजी के पवित्र आश्रम में एक युवक ने पाप किया। महात्माजी ने अपने शरीर को इसलिए दण्ड दिया कि उनमें इतनी भी शक्ति नहीं कि उस युवक को सुधार दें। अन्त में उन्होंने जब तक उस युवक के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं करली, तब तक अपने को कष्ट देते ही रहे। लोग चाहे जितनी उद्दण्डता पर कमर कसे हों, किन्तु इस सूखे पेटवाले अस्थि-पञ्जर के देखते ही गाय-से होजाते हैं। जिस प्रेम के लिए ईसा को क्रॉस-सूली का मुँह देखना पड़ा, वह प्रेम, सत्य और बलिदान गाँधीजी ने जीविता-वस्था में ही प्राप्त कर लिया।

जगत् के महान् साहित्य-महारथी रोम्याँ रोलाँ ने गाँधीजी को बिना क्रॉस (चिन्ह-विशेष) का ख्रीस्ट (ईसा मसीह) बताया है।

सन् १८६६ की दूसरी अक्टूबर को पोरबन्दर में पुतलीबाई को एक अमूल्य पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उस दिन पूज्य पुतलीबाई यह न जान सकी थी कि यही नवजात शिशु इस मातृ-भूमि का दया का अवतार, अपूर्व दार्शनिक, परम सन्त, संसार के इतिहास का अधिपति, अहिंसा का पैग़म्बर, सत्य और प्रेम का अवतार, अनाथों का नाथ निकलेगा। वे क्या जानती थीं कि यह कोमल अनजान शिशु अपना नाम मोहन उसी मोहन के साथ मिला देगा, जिसने संसार के कल्याण के लिए ही अवतार लिया था। गाँधीजी के पिता को क्या मालूम था कि यही मोहन अपने अनोखे अहिंसा-व्रत और चरखे-द्वारा नया ही आविष्कार करेगा। Y. M. C. A. के विदेशी सेक्रेटरी डॉक्टर एडी ने टोकियो (जापान) में भाषण देते हुए कहा था—

"मेरी समझ में कन्फ्यूसियस, बुद्ध और यीसूमसीह से भी ज्यादा गाँधीजी के अनुयायी हैं। किसी भी महान् आत्मा को अपने जीवन-काल में इतने अनुयायी नहीं मिले। गाँधीजी के दिव्य मुख-मण्डल पर ऐसी अनोखी ज्योति दृष्टिगोचर होती है, जो पृथ्वी और सागर में कहीं देखने को नहीं मिली। मैंने तो वास्तव में ऐसे मनुष्य को देख लिया, जो स्वयं ईश्वर में वास करता है।"

पश्चिम ने सभ्यता और दर्शन-शास्त्र पूर्व से ही सीखे हैं। इस अधनंगे फ़क़ीर गाँधी ने इस बीसवीं सदी में पुनः पश्चिम को महात्मा टॉल्सटॉय और भगवान् यीसू के दर्शन करा दिए।

गाँधीजी की नीति ही इस बात को स्पष्ट प्रकट कर रही है कि अधिकार और सत्य में 'सत्य' की ही विजय होती है।

गाँधीजी साधुता, अहिंसा और सत्य के मैदान में राजनीति से बहुत आगे बढ़ गये हैं। विदेशी कुछ दिन पूर्व उन्हें 'बाग़ी' कहा करते थे। गाँधीजी को स्वतन्त्रता का पुजारी कहने की अपेक्षा यदि अहिंसा एवं सत्यावतार ही कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। जीवों पर दया और प्रेम करने का उपदेश देना ही उनका एक-मात्र ध्येय है। पश्चिम के विद्वानों ने गाँधीजी की समता यीसू मसीह से की है। उन्होंने उनके जीवन का पूर्ण अध्ययन किया है। कैण्टरबरी के आर्च बिशप ने विगत सत्याग्रह-संग्राम (१९३०) में महात्माजी की अहिंसा की स्तुति की। अमेरिका के पादरी होम्स ने लिखा है कि महात्मा गाँधी संसार की महान् शक्ति हैं। वे लिखते हैं—

"यदि हम ऐतिहासिक महान् पुरुषों की गाँधी के साथ तुलना करें तो हमें हमारे पूर्वज धर्मावतार बुद्ध, रूसो, जोरोस्टर और मुहम्मद साहब की श्रेणी में ही गाँधीजी को बैठाना पड़ेगा। ऐतिहासिक सत्य के सम्मान के लिये, मैं, इस महापुरुष गाँधी को यीशू के मुक़ाबले का मानता हूँ। प्लूटार्क ने जिस प्रकार ग्रीस और रोम देश के वीरों के जीवन-चरित्र लिखे, इसी प्रकार यदि कोई महापुरुष सत्यता के अवलम्बन लेकर यीशू और गाँधी का साथ-ही-साथ जीवन-वृत्त लिखे तो आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि एक दूसरे से किसी भी बात में कम नहीं।"

आगे चलकर पादरी होम्स ने यहाँ तक लिख डाला है—"महात्मा गाँधी ऐसे प्रतीत होते है, जैसे साक्षात् ईसा पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हों। महात्मा गाँधी की आत्मा ईसा की आत्मा है।"

महात्मा गाँधी के आदर्श

यदि हम महात्मा गाँधी की महत्ता का परिचय प्राप्त करना चाहें तो उसके सदृश महान् व्यक्ति का अध्ययन कष्ट-साध्य है। किन्तु हमारी भारत-भूमि में हज़ारों ऐसे महात्मा होगये हैं, जिनके आदर्शों के सहारे हम महात्माजी के जीवन का अध्ययन कर सकते हैं। उन महात्माओं की जीवनी इन महात्मा की जीवनी का हमें मर्म समझा देगी। वहिर्जगत् और अन्तर्जगत् में साम्य-भाव स्थापित करने की ओर प्रयत्नशील होना जीवन की प्रथम सफलता का द्योतक है। प्लेटो के "रिपब्लिक" नामक ग्रन्थ में वर्णित सोफ़िस्ट लोगों का चरित्र एकांगी तथा अधकचरी उन्नति का अच्छा उदाहरण है। महात्मा के जीवन को समझने के लिए आवश्यक है कि उनके हृदयगत विचारों की उनके वाह्य आचरणों के साथ तुलना की जाय। बचपन की ओर देखिए; शासन या निग्रह-बन्धन को तोड़ने में उस उम्र में एक

विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। जिस दिन कोई बुरा कार्य किया जाय और अपने बुज़ुर्गों को मालूम न पड़े, तो फिर क्या कहना है! वह दिन जीवन का चिरस्मरणीय दिन है। गाँधीजी भी बचपन में उपरोक्त बातों के अपवाद-स्वरूप नहीं थे। ये भी माता-पिता से चुराकर कई कार्य करते थे। नियम भङ्ग करने का चस्का बुरा होता है। यहाँ तक बढ़े कि माता-पिता से छिपाकर मांस भक्षण करने लगे। धीरे-धीरे माँ को खबर लगी। उनको बहुत दुःख हुआ। इस घटना ने गाँधीजी के जीवन को दूसरी ओर मोड़ दिया। माता के स्नेह, कर्तव्याकर्तव्य बुद्धि के जागरण और संयमित जीवन बनाने की इच्छा ने उनके जीवन को महानता की ओर झुका दिया। महात्माओं का कुसंस्कार और कुसंगति ज़रा-सी बात से हट जाती है। अण्डे में प्राण आजाने पर छिल्के को टूटते कितनी-सी देर लगती है? बुद्ध की तन्द्रा को टूटते कितनी देर लगी थी? एक बार कर्तव्य-च्युत हो जाने के संताप ने महात्मा के जीवन में घोर आन्दोलन मचा दिया। वह हनुमान की तरह सूर्य को पकड़ने के लिए ऊँचा चढ़ने लगे। गरमी के कारण दुःख भी कम न हुआ, किन्तु अन्त में विजयी ही हुए। लुढ़कते हुए लोगों ने देखा वे खूब हँसे धूप और छाँह, सर्दी और गर्मी, दिन और रात सदा सब कालों में वह अपने ध्येयों का निर्माण और पुष्टि करते ही गए। लोगों ने पागल भी कहा, किन्तु एकांगी और ध्रुवव्रती पुरुष इन बातों की परवाह नहीं करते।

महात्मा कबीर ने लिखा है—"अनहद बाजत ढोलरी, तोहि पीउ मिलेंगे, घूँघट के पट खोल री।" कितनों ने उपरोक्त अनहद नाद को सुना ? कितनों ने घूँघट का पट खोला ? कितनों ने यह प्रयास किया कि इस अनहद नाद का लाभ अन्य भी उठावें। महात्मा गाँधी के जीवन की इस गहनता का परिचय पाने की उत्कट इच्छा रखनेवाले यह समझ सकते हैं कि अनहद ढोल के घोर रव को सुन लेना कठिन अवश्य है, पर उससे भी कठिन यह है कि उस ढोल के सुमधुर या गम्भीर घोष को भी सुनावें, उस रव को सतत सुनते रहें, पर स्वार्थवश उसमें इतने तन्मय न होजाएँ कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मनुष्यता के एक विशाल भाग को विस्मृति के अङ्क में डाल दें। इसी सुनने और सुनाने में, आत्म-साधना की लालसा में तन्मय होने और न होने में अतीव विशाल अन्तर छिपा हुआ है। इसी ज़रा-सी बात में निवृत्ति और प्रकृति का रहस्य छिपा हुआ है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

लोगों का खयाल है कि महात्माजी की आध्यात्मिक उठान से स्वामी रामतीर्थ की उठान बढ़ी-चढ़ी थी। हमें लोगों की यह बात खटके बिना नहीं रहती। हमारे इस "खटकने" शब्द के उपयोग से कोई यह अर्थ न लगा ले कि हम दोनों महापुरुषों में ऊँच-नीच का भेद बता रहे हैं। हम खुले हृदय से कहते हैं कि स्वामी रामतीर्थ की आत्मिक अवस्था बहुत ही उच्च श्रेणी की थी।

जिस हृदय में वेदना के ये भाव घर कर चुके हों, जिसने साक्षात्कार करने के लिए यह बाना बनाया हो, जिस अद्वितीय पुरुष ने इसीलिए लँगोटी लगा ली हो कि वह कङ्काल बनकर ही अपने मालिक को पा सकेगा भला ऐसे पुरुष को हिमालय के शून्य कक्ष में आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? भारतवर्ष का इतिहास देख डालिए; क्या भगवान् बुद्ध के बाद आपको कोई ऐसा महात्मा नज़र आता है।

महात्माजी का मार्ग तो निस्सन्देह कृष्ण, राम और विदेह-राज जनक का मार्ग है। पूज्यपाद स्वामी रामतीर्थ और महात्माजी में (प्रवृति और निवृत्ति में) यही अन्तर है। प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी निष्काम कर्मयोग के ध्रुव-पांथ होकर अपना आत्म-निमज्जन, अपना तादात्म्य उनमें करते हैं, जो अपूर्ण हैं। किन्तु जो पूर्णता प्राप्त करने के अधिकारी हैं, मूर्ख जन-समूह को पूर्णत्व की ओर ले जाने, उनकी ग़लतियों पर दुःख और उसकी सफलताओं पर सन्तोष प्रकट करने में वे अपना पतन नहीं समझते, वरन् इसी में वे अपने कर्तव्य की इति-श्री समझते हैं। निवृत्ति-मार्गी अपना आत्म-निमज्जन सच्चिदानन्द में कर देते हैं; वे उसी में मग्न हो जाते हैं, वे कर्म के लिए नहीं रह जाते, चाहे कर्म उनके लिए भले ही रह जाए। भगवान् कृष्ण की परम कर्मयोगिता की श्रेणी में बैठनेवाले लोग यदा कदा ही अवतीर्ण होते हैं। अवतारों और महापुरुषों से महात्माजी की समानता करना हमारी नज़र में अटल सत्य है, चाहे कोई कुछ

भी समझे। हम ही क्या, आज संसार ने उन्हें अवतारी माना है।

महात्मा का तत्व-ज्ञान

महात्माजी का तत्व-ज्ञान हिन्दू-आचार्यों के तत्व-ज्ञान से कई अंशों में भिन्न है। जीव और ब्रह्म के विषय में तथा प्रकृति और उसके स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में महात्माजी ने कभी अपने व्यवस्थित विचार प्रकट नहीं किये हैं। हिन्दू-धर्म-शास्त्रों और दर्शनों में जो-कुछ इन विषयों पर लिखा गया है, वह महात्मा-जी को किस हद तक मान्य है, यह कहना साहस का कार्य है। यह निश्चित ही है कि महात्माजी के जीवन के साथ जिन सिद्धान्तों का सम्बन्ध रहा है, वे सिद्धान्त उनकी ही उपज हैं। उन पर कोई धर्म या विचार अपनी छाप नहीं जमा सकता। उनके जीव और ईश्वर-सम्बन्धी विचारों के देखने से पता चलता है कि वे द्वैतवादी हैं- किन्तु उनके प्रायश्चित्त और हृदय-मन्थन पर विचार किया जाता है, तो स्पष्ट होजाता है कि वे तो कट्टर अद्वैतवादी हैं। महात्माजी प्रार्थना में पूर्ण विश्वास करते हैं, ईश्वर के सच्चे उपासक हैं। उनके विचारों से यह प्रकट होता है कि वे अपने को ईश्वर से भिन्न वस्तु समझते हैं। वे मन्सूर की तरह "अनहलक्क" और स्वामी रामतीर्थ की तरह "तत्वमसि" या "सोऽहं" की आवाज़ बुलन्द नहीं करते। जब उनके हृदय में भयंकर वेदना उठती है तो वे सांई के दरबार में निर्मल हृदय से पुकार मचा देते हैं। उनकी यह याचना मालिक की

दया में अचल विश्वासादि भावनाएँ उनके द्वैत-भाव की द्योतक हैं। अपने मालिक को अपने से अलग और ऊँचा समझते हुए, सेवक-सेव्य भाव के रहते हुए भी, वे उसका सुन्दर मुख देखने के लिए तरसा करते हैं। यह कपाट कैसे खुले ? यह वाह्यावरण कैसे दूर हो, इस चिन्ता में व्यास यह द्वैत का उपासक, उसका घूँघट खोलने का जब प्रयत्न करता है, तब अद्वैत के पथ पर अग्रसर होजाता है। क्या कभी किसी ने उसे वहिर्जगत् के साथ, एक-रूप होजाने की शक्ल में देखा है ? कभी किसी ने उसकी मुस्कराहट के साथ-साथ सत्य प्रेम का परिचय पाया है ? क्या किसी ने उससे धधकते हुए यज्ञ-कुण्ड का, जहाँ "तेरे" और "मेरे" की, अहंमन्यता की, अपने और पराये की निकृष्ट भावनाएँ भस्मीभूत होकर, उसके भाल-प्रदेश का चन्दन बन गई हैं, दर्शन किया है ? मानव-समाज के पतित-से-पतित और घृणित-से-घृणित और दलित-से-दलित अङ्ग के साथ भी उसका कितना सुन्दर तादात्म्य है !

दुनियाँ के पागल और बहके हुए मनुष्यों के साथ, भारत के अछूतों के साथ, घृणोत्पादक कुष्ट रोग से पीड़ित नर कंकालों के साथ, अकाल से पीड़ित अस्थि-पंजरों के साथ प्रेम, करते उसे कभी किसी ने देखा है ? वह मूर्ति-पूजक भी है और मूर्ति-नाशक भी, वह द्वैत-उपासक भी है, और द्वैत और अद्वैत-उपासक भी। मनुष्य-समाज को, द्वैत और अद्वैत सिद्धान्तों के सम्मिश्रण से जो फल प्राप्त हुआ है वह है, प्रेम और अहिंसा

और उनका दैनिक जीवन में प्रयोग! एक बार नहीं, कई बार, उसने अपने-आपको अनुताप की ज्वाला में झुलसाया है। यदि दूसरे पाप करते हैं तो वह उसे भी अपना पाप समझा करता है। कोहाट के पाप को, चौरीचौरा के पाप को, फ़ीनिक्स-आश्रम के विद्यार्थी के पाप को उसने अपना पाप समझा। ऐसा क्यों! अद्वैत का उपासक है। जीवगत को वह अपना ही प्रति-बिम्ब समझता है, फिर वह दूसरों के पाप-पुण्य से अलग कैसे रहे!

महात्माजी का समाज-शास्त्र

"हिन्द-स्वराज्य"-नामक पुस्तक जिन्होंने पढ़ी है वे भली भाँति गाँधीजी के विचारों को समझ चुके हैं। वे जल्दबाज़ी से बड़े घबराते हैं। महात्माजी के अनुसार मनुष्य को बुद्धि सृष्टि-तत्व और ब्रह्म-तत्व के चिंतन के लिए मिली है, किन्तु वह बुद्धि से यह कार्य न लेकर 'सभ्यता' के विकास करने में लग गये। महात्माजी वर्तमान सभ्यता को संक्रामक बीमारी मानते हैं। एडवर्ड कारपेन्टर ने वर्तमान सभ्यता की संक्रामक महामारी से तुलना की है। अतएव समाजोन्नति में बाधा पहुँचानेवाली उसकी छाया पड़े तो आश्चर्य ही कैसे किया जा सकता है! इस समय हमारे साहित्य में एक आँधी चल रही है। इस आँधी में वासनाएँ प्रबल होती जाती हैं, इन्द्रिय-सुख की ममता रह-रहकर अट्टहास कर उठती है। युवक नशे में पागल होरहे हैं। उनसे कोई गम्भीर बात कही जाय तो कहनेवाले का अट्टहास की बौछार से स्वागत किया जायगा।

ऐसा जान पड़ता है कि वर्तमान युग ने अपने यान्त्रिक साधनों से हृदय-तत्व को भी सस्ता कर दिया है। यात्रायें सरल होगई हैं, पत्र-व्यवहारों के साधन सस्ते होगये हैं। प्रेम भी, व्यवधान और कठिनाइयाँ नष्ट होजाने के कारण, मानों सस्ता होगया है। वर्तमान समय के शोर-ग़ुल में जीवन-तत्त्व को पूछता कौन है? मनुष्य व्यावहारिक होना सीख रहा है। वह आदर्शों की ओर से अश्रद्धालु होता जाता है, और उन पर व्यंग करने से भी चूकता नहीं। उसे व्यवहार-जगत्, शारीरिक आवश्यकताओं का संसार ही सच्चा और एक-मात्र संसार प्रतीत होता है। बाक़ी स्वप्न देखनेवालों के लिए छोड़ दिया जाता है। सौन्दर्य और जीवन की महानता से श्रद्धा का लोप होता जाता है।

लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ने अपने ग्रन्थ "गीता-रहस्य" में एक स्थान पर तत्वज्ञान और सदाचार-शास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया है। आपने अत्यन्त सूक्ष्म निदर्शन करके यह सिद्धांत स्थिर कर दिया है कि किसी भी जाति के नीति-सिद्धांतों पर उसके तत्व-ज्ञान-विषयक सिद्धांतों का आघात-प्रतिघात हुए बिना नहीं रहता। जॉन स्टुअर्ट मिल के पिता जेम्स मिल अपने लड़के से कहा करते थे कि "ईश्वर कोई वस्तु नहीं, केवल घरेलू बातें हैं"। ऐसे उपदेश का प्रभाव मिल पर अवश्य पड़ा। इसी प्रकार महात्माजी के तत्वज्ञान के अन्तर्गत ही प्रजनन-प्रतिबन्धी और विवाह-सम्बन्धी चारित्र

है। महात्मा ईश्वर के उपासक हैं और वे ईश्वर से साक्षात्-कार पाने के उत्सुक भी हैं। साक्षात्कार करने के लिए इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रह परमावश्यक है। मनोनिग्रह के लिए विवाह-सम्बन्ध एक मार्ग का काँटा है। इसलिए मुमुक्षु होने के लिए वे सभी को ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करने की सलाह देते हैं। अब सवाल यह होता है कि सभी यदि ब्रह्मचारी बन जाँय तो सृष्टि का लोप हो जायगा। तो क्या सृष्टि को चलाने का ठेका आपने लिया है? मान लीजिये कि जब कभी ऐसी दशा होगी, यह भारत देवभूमि देवलोक हो जायगा। उस समय यहाँ मनुष्य नहीं, महापुरुषों का निवास होगा।

कृत्रिम उपायों-द्वारा प्रजनन का प्रतिबन्ध करना महात्मा-जी की दृष्टि में व्यभिचार के तुल्य है। यह अनीतिमय एवं निन्दनीय प्रथा है। इससे मनुष्य-समाज को अपने जंगलीपन में अधिकाधिक निमज्जित होने का अवसर प्राप्त होता है। इन्द्रिय निग्रह में बाधा पैदा होती है और मानव-समाज अपने निर्धारित लक्ष्य से च्युत हो जाता है। कृत्रिम उपायों-द्वारा प्रजनन बन्द करने के महात्माजी बहुत खिलाफ़ हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिये आत्म-नियन्त्रण और आत्म-शासन को वे परमावश्यक समझते हैं। समाज शास्त्र और राजनीति दोनों में ही महात्मा जी के विचार अनोखे हैं। उनके उपरोक्त विषयों के विचारों से पूर्णतया परिचित होने के लिये पहिले उनके मूल सिद्धांतों पर मनन करना अत्यन्त आवश्यक है।

महात्माजी का राजनीति-शास्त्र

महात्माजी की राजनीति धर्म से अलग की ही नहीं जा सकती। राजनैतिक सिद्धांतों के महात्माजी क़ायल नहीं रहते। इसका एक-मात्र कारण यही है कि उनके राजनैतिक सिद्धांत अपूर्व हैं। कुलीन-सत्तात्मक शासन, धन-सत्तात्मक शासन, अल्प-सत्तात्मक शासन या जन-सत्तात्मक शासन-इत्यादि ही शासन के मोटे विभाग हैं। अब सोचना यह है कि महात्मा जी की राजनीति उपरोक्त किस विभाग में रखी जाय? आज-कल की वैध राज्य-व्यवस्था, जनतन्त्र शासन, प्रजातन्त्र शासन, साम्यवादीय शासन-आदि जितनी राज्यव्यवस्थाएँ हैं, महात्मा गाँधी के शासन-सम्बन्धी विचार इन सब से पृथक् हैं। हमारी समझ में महात्माजी की राजनैतिक शासन-धारणा को हम अहिंसात्मक अराजकता कह सकते हैं। महात्माजी बाह्य शासन के विरुद्ध हैं। वे आत्म-शासन के पक्षपाती हैं। वे समाज को उस दरजे पर पहुँचाना चाहते हैं, जहाँ किसी प्रकार का नियत्रंण होता ही नहीं; वहाँ स्व-शासन ही रह जाता है। अन्य किसी प्रकार के शासन की वहाँ आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। इस संसार में अनेकों राजनीतिज्ञ हो गये हैं। किसी ने भी ऐसी सर्वोत्कृष्ट राजनीति का आविष्कार नहीं किया था।

महात्मा और नीति-धर्म

वास्तव में देखा जाय तो महात्मा गाँधी बड़े कठोरव्रती हैं। ऐसा कठोर जीवन व्यतीत करनेवाले पुरुष के नीति-धर्म

सम्बन्धी विचार भी महाकठोर होना ही चाहिए। महात्माजी का धर्म अपनेपन को प्राप्त कराने वाला धर्म है। समस्त मानव-समाज का हित करना ही सर्वोत्कृष्ट नीति है। यही महात्मा का धर्म है और यही उनकी नीति है। बैन्थम और मिल के सदृश व्यक्ति धर्म के उपयोगितामूलक सिद्धांत को ही सदाचार-शास्त्र का सार बताते हैं। महात्माजी के सिद्धांत इन आचार्यों के सिद्धान्तों के समान ही हैं, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु बारीक दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक नज़र नहीं आती। सुखवाद के अध्ययन से पता लगता है कि सुखवादी विद्वान् अपनी नीति के निदर्शन में मानव-हृदयों की प्रेरणाओं को कोई स्थान नहीं देते। यदि कोई अधिकारी किसी ग़रीब की पोटली उठाकर उसके सिर पर धर दे तो सुखवादी उसे नीति आचार के विरुद्ध बता देंगे। वे यही चाहते हैं कि प्रधान मंत्री अपने पद पर बैठा केवल शासन-व्यवस्था करता है। अपनी योग्यता के खिलाफ़ प्रधान मन्त्री का गठरी उठाना अपमान-जनक है। सुखवादी आचार्यों का यही मत है। अब इस कसौटी पर कसने से महात्मा गाँधी ऊँचे ही जँचते हैं। वे प्रेरणाओं और सद्भावनाओं को मारते नहीं। उनकी नज़र में जो मनुष्य सदाशय से प्रेरित होकर लोक-कल्याण में प्रवृत्त होता है, वह चाहे ग़लती भी करे, किन्तु आदर और प्रेम का पात्र अवश्य है। लोगों का कल्याण चाहे कम हो या ज़्यादा, उनको परवाह नहीं; वे कल्याण के प्रेमी हैं। ये प्रश्न वे ही

लोग करते हैं, जिनकी बुद्धि अशक्त है, मन बलहीन है। मनुष्य को एक कार्य के पकड़ लेने पर फिर अपने कर्तव्य से गिरना नहीं चाहिए। उसके करते रहने में ही इति-कर्तव्यता है। सुखवादियों की तरह महात्माजी फलाफल पर विचार करते ही नहीं। महात्माजी की नीति-विषयक धारणा का मूलाधार प्रेम और अहिंसा है। चाहे कोई कार्य समस्त जन-समूह को कल्याणप्रद है, किन्तु हिंसात्मक है तो भी महात्माजी उसे त्याज्य समझते हैं। उनके प्रत्येक कार्य—जैसे धर्म, उपासना, प्रार्थना, सेवा-आदि सभी अहिंसामूलक हैं। प्रेम ही उनकी भित्ति हैं। उनकी राजनीति भी अहिंसा-मार्ग से ही विचरण करती है। वे मनुष्य के मनुष्यत्व के बड़े ज़बरदस्त रक्षक हैं। मनुष्य के गौरव को नष्ट होता देख, वे चुप रह नहीं सकते। उनका सिद्धान्त है कि मनुष्य-जाति की मनुष्यता को पूर्ण रूप से विकसित होने का मौक़ा दिया जाय। मनुष्य-जाति का भला करना ही उनकी एक-मात्र नीति है। पूँजीवाद की धींगाधींगी से मानव-समाज के गौरव को पद-पद पर कुचला हुआ देखकर ही महात्मा की नीति, धर्मादि ने उन्हें पूँजीवाद और यंत्रवाद के विरुद्ध खड़ा कर दिया है।

महात्माजी का शान्ति-धर्म

आज से क्या, भारतवर्ष अनादि काल से अन्य देशों का धर्म-गुरु रहा है। और तो और, भारतवर्ष से कई उपयोगी विषयों को सीखकर प्रत्येक राष्ट्र उसका चिर-ऋणी है। एक समय

भगवान् बुद्ध ने अवतीर्ण होकर शान्ति और अहिंसा, दया और प्रेम एवं सहानुभूति और करुणा का झण्डा फहराया था। आज चीन, जापान, ब्रह्म-देश, अनाम, स्याम, कम्बोडिया, तिब्बत और लङ्का में 'बुद्धं शरणम् गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' की मृदु ध्वनि करोड़ों कण्ठों से निकलकर इस भारतीय सन्देश-वाहक की महत्ता का परिचय दे रही है। इस युग में, मार-काट का भीषण नृत्य देख, मनुष्यता भी पनाह माँगने लगी है। भारत ने ही ऐसे समय में पूर्वानुसार सन्देश-वाहक का कार्य करके सांत्वना पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया है। और उस सांत्वना पहुँचाने के प्रवर्त्तक आचार्य गाँधी ही हैं। यूरोप के सुप्रसिद्ध तत्व-वेत्ता स्वर्गीय शोपेनहार निराशवादिता के अनन्य उपासक थे। उनकी समझ में मनुष्यता के कल्याण का कोई मार्ग ही नहीं आया था। वे कहा करते थे कि मनुष्य ने राजनैतिक, यांत्रिक, वैज्ञानिक एवं बौद्धिक उन्नति तो बहुत-सी करली, किन्तु उसने अभी तक सदाचरण-सम्बन्धी उन्नति बिल्कुल नहीं की। जिस प्रकार प्राचीन काल के असभ्य कहलानेवाले मनुष्य घृणा और अन्य वासनाओं के वशीभूत थे, उसी प्रकार वर्तमान समय के मनुष्य मानसिक दौर्बल्य के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं। वे कहा करते थे कि जो मनुष्य अपने को उन्नति के पथ की ओर अग्रसर होने का अधिकारी कह रहे हैं, वे ग़लती पर हैं। उन्नति किधर हुई? मनुष्य तो वैसा ही बना हुआ है, जैसा पहिले था। उसका कुछ भी तो नैतिक सुधार नहीं हुआ। शोपेनहार महा-

शय ने जो-कुछ लिखा है, सत्य है। किन्तु एक बात अवश्य है। यद्यपि मनुष्यता ने नैतिक सुधार नहीं किया; तथापि उसने अच्छे-बुरे, पाप और पुण्य, सदाचार और दुराचार इनका अन्तर तो अवश्य ही समझ लिया है।

मनुष्य चाहे सदाचरण के पालन में असमर्थ भले ही सिद्ध हो जाय, किन्तु उसने अपनी बौद्धिक और हार्दिक उन्नति इतनी अधिक कर ली है कि वह सद्गुण, सदाचार और सत्पथ के आलोक को भली प्रकार देख सकता है, उसे समझ सकता है और उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम प्रकट कर सक्ता है। शोपेनहार इस बात को मानते हैं कि मनुष्य-समाज की एक अवस्था वह थी, जिसे नीति के परे की अवस्था कह सकते हैं। वह काल मनुष्यता का बाल्य-काल था, आज का समाज उस अवस्था से निकलकर किशोर अवस्था में पदार्पण कर चुका है। यही उसकी उन्नति की सूचना है। मनुष्य-समाज ने इस युग में अपनी भावनाओं का विकास कर लिया है। यही भावना उसकी मुक्ति की सूचक हो सकती है। मनुष्य-समाज का एक ही जगह खड़े रह-कर फ़ौजियों की तरह March Time करना श्रेष्ठ नहीं। मनुष्यता तो हमेशा नवीन भावनाओं और नवीन कल्पनाओं की उन्नति करती ही रहती है। आज ख़ून-खच्चर और हाय-हाय के उपरान्त सारी-की-सारी मनुष्यता उन्मादी की भाँति इधर-उधर दौड़ रही है। गाँधी बाबा उसके सामने शान्ति, अहिंसा और प्रेम का जल लेकर खड़े हैं। परन्तु जिस प्रकार पागल कुत्ते का

काटा हुआ मनुष्य जल-पान से झिझकता है, उसी प्रकार यह उन्मादिनी सभ्यता-व्याधि, महात्माजी के जल-दान से भयभीत होकर कभी काटने दौड़ती है और कभी-कभी माता-माता कह-कर उसे प्यार करने दौड़ती है। यह मनुष्यता भविष्य की पुत्री है। पता नहीं, इसका अन्त कहाँ है; या यह स्वयं अनन्त है। इस मनुष्यता में महान् आदर्शों की छाप विद्यमान है। यह ठीक ही है कि मनुष्यता ने अभी महात्मा के अहिंसा और शान्ति के उद्योग को, उसके आदर्श के तत्व को और उसकी महान् प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पूर्णतया समझा नहीं है। उनके सत्-सिद्धान्तों का दुरुपयोग होरहा है। किन्तु दुनिया-भर की सभ्यता की जाँच करने के बाद फिर महात्माजी की सभ्यता, उच्चता, महत्ता की जाँच कीजिये, उनकी अहिंसा और सत्यता का मनन कीजिये। मनन के उपरान्त यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्यों का उद्धार गाँधी के सिद्धान्तों से ही हो सकता है। यह दूसरी बात है कि उनके सिद्धान्तों का सदुपयोग होरहा है। इससे होता क्या है! यह बात तो स्वयं महात्मा गाँधी अनुभव कर रहे हैं। वे कहते हैं—

"मैं ऐसी विकट अवस्था में हूँ कि मैं ही जानता हूँ। मैं एक ज्वालामुखी पर्वत पर खड़ा हूँ और उसे कभी भी न भड़-कानेवाली चट्टान बना देने के प्रयत्न में हूँ। मेरे ऐसा करने के पहिले, क्या आश्चर्य कि वह ज्वालामुखी फट जाय! सुधारक को तो, दुर्भाग्य से, हमेशा तकलीफ़ों का सामना करना ही

पड़ता है। यदि मानव-समाज आज अहिंसा और शान्ति को नहीं समझ सका तो क्या हुआ? जब कभी उसके दिल में सद्भावना उत्पन्न होगी तो वह एकदम चिल्ला उठेगा—'गाँधी सच कहता था।'"

महात्मा का पश्चात्ताप-सिद्धान्त

मनुष्य की वास्तविक क़ीमत करनेवाला यह 'पश्चात्ताप'-शब्द कितना सुन्दर है। आत्माभिमान को हमेशा के लिए नष्ट कर देने का यह कितना जीवनदायक साधन है! अपनी की हुई ग़लतियों को सुधार लेना, अपनी भावनाओं-द्वारा किये गये कुकृत्यों पर सिहर उठना, अपनी पापमय भावनाओं का पश्चात्ताप करना कितना मधुमय है? ईसाई-धर्म में पश्चात्ताप की महान् महिमा है। रोमन कैथोलिक धर्म की तो नीति यही है। आध्यात्मिक मनोविज्ञानवादियों का कथन है कि हम बाल्य-काल से ही कुछ संस्कारों एवं अवस्थाओं में लालित-पालित होते हैं। उन्हीं संस्कारों के प्रभाव से हमारी आत्मा पर विशेष प्रकार के भावों का अंकुर जम जाता है। यदि हम सदाचार के पूर्ण वातावरण में पले हैं तो हमारी आत्मा उन संस्कारों के विपरीत कार्य करने में हिचकेगी। मनोवैज्ञानिक चाहे कुछ कहा करें, किन्तु महात्मा गाँधी की फिलॉसफ़ी में, पश्चात्ताप मानव-हृदय को उत्तरोत्तर उन्नत करनेवाली शक्ति बताई गई है। 'स्वीकार करना और पश्चात्ताप करना' ये दोनों वस्तुएँ हृदय को बलवान करनेवाली हैं। यदि हमसे कोई भूल हो जाय

और उसे हम स्वीकार कर लें, यदि हमसे कोई पापाचार होजाय और उस पर हम दो आँसू सच्चे हृदय से बहा दें और उस कार्य से मुँह मोड़ लें, साथ ही हमारे हृदय में यह धड़कन उत्पन्न न हो कि अपने दोष स्वीकार कर लेने से हम अन्य लोगों की दृष्टि में गिर जायेंगे—तो उस दिन हम समझेंगे कि आज हमारी विजय का दिवस है। महात्मा गाँधी सदा-सर्वदा इस बात को अपने सामने रखते हैं कि कभी मनसा, वाचा, कर्मणा कोई बात ऐसी न हो जाय, जो अनुचित हो। इतनी सावधानी के उपरान्त भी यदि कोई ग़लती हो जाय तो उसे तुरन्त स्वीकार कर लेना वे अपना आद्य-कर्तव्य समझते हैं। महात्मा गाँधी ने हमेशा से ही इसकी आराधना की है और अपने कुसंस्कारों को इस अग्नि में भस्मीभूत कर दिया है। कठोर-से-कठोर सङ्कट-परीक्षा भी उन्होंने इसी के बल पर दे डाली है और सफल हुए हैं। झूठी बड़ाई और गौरव (अभिमान) को नाश करने में यह सिद्धान्त अपना सानी नहीं रखता।

महात्मा और ललित कला

क्या ललित कला और सदाचार-शास्त्र दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, या एक ही? प्राचीन ग्रीक तत्वदर्शी दोनों को एक समझते हैं। वे सुन्दर को सत् कहते हैं। महात्मा सुकरात भी कहते थे कि सुन्दर ही सत् रूप है—("The beautiful is true") गाँधीजी का सिद्धान्त इसके बिल्कुल विपरीत है। महात्माजी कहते हैं कि सत्य ही सुन्दर है—("The true is

beautiful") महात्मा गाँधी वाह्य सौन्दर्य को, या उस सौन्दर्य को, जो सत् से विमुख है, अनुचित और अग्राह्य समझते हैं। गाँधीजी की नज़र में कोई भी वस्तु, जो सत् से विमुख है, हितकर नहीं। यदि ग्रीक तत्त्वदर्शी सुकरात का 'सुन्दर' ऐसा ही है कि वह सत् के सिवा कुछ हो ही नहीं सकता, तब तो महात्मा गाँधी और तत्त्वदर्शी साक्रेटीज़ के सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यदि ग्रीकवासी 'सुन्दर' का अर्थ वाह्य सौन्दर्य से ही लेते हों और उसी पर आकर्षित होते हों तो कहना पड़ता है कि उनके और गाँधीजी के सिद्धान्तों में ज़मीन और आस्मान का फ़र्क़ है। ऐतिहासिक अध्ययन से पता चलता है कि ग्रीक-निवासी वाह्य सौन्दर्य को ही 'सुन्दर' मानते हैं। यदि यह बात न होती तो जगत्गुरु अरिस्टॉटल ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध अपनी आवाज़ कभी उठाई ही न होती। उन्होंने सदाचार-शास्त्र में प्रेरणात्मक भावों का प्राधान्य बतलाकर और ललित कला-शास्त्र में उक्त प्रेरणात्मक भाव का अप्रधान्य सिद्ध कर, दोनों शास्त्रों की विभिन्नता सिद्ध कर दी। आजकल ललित कला का जो अर्थ लगाया जाता है, उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि किसी चतुर चितेरे की सुन्दर कृति या किसी कवि-श्रेष्ठ की सुन्दर रचना अथवा किसी निपुण शिल्पकार का मूर्ति-निर्माण उसके नैतिक जीवन का परिचय देगा। स्मरण रखना चाहिए कि कवि का जीवन भाव-प्रधान जीवन होता है। नीतिवान् पुरुष का जीवन कर्म-प्रधान होता है। कवि

में भावों (Feelings) का प्राधान्य होता है। नीतिवान् में कर्म-क्रिया का प्राधान्य रहता है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु पर प्रतिक्रिया कर सकती है, किन्तु एक दूसरे को बिना गम्भीर प्रतिक्रिया के परिवर्तन नहीं कर सकती। नवजीवन में सञ्चारात्मक आन्दोलन के बाद यूरोप में ललित कला के बहुत-से पुजारी होगये हैं। उन्होंने ललित कला को ही अपना आराध्य-देव बनाया। रॉबर्ट लुई स्टीवेन्सन ने एक जगह लिखा है—"कला कला के लिये ही है; मैं उसे प्रणाम करता हूँ।" इस प्रकार की मनोवृत्ति का फल यह हुआ कि कला के उपासक कला ही को सर्वस्व मानने लगे और कला का स्थान मानव-जीवन के हिताहित के परे निर्धारित हुआ। गाँधीजी इस विचार के कट्टर विरोधी हैं। वे कला को लोक-कल्याण का एक साधन मानते हैं। हमारे पूज्यपाद महर्षियों ने भी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कहा है। सुन्दरम् शब्द को अन्त में रखकर उन्होंने इस बात की चेतावनी दी है कि जो सत्य होगा और साथ-ही कल्याणकारी होगा, वही 'सुन्दर' होगा। ललित कला का प्रचार केवल लालित्य के लिये ही करना उसके प्रति असीम प्रेम का परिचायक भले ही हो, किन्तु इसके उपासक मानव-अस्तित्व के विगूढ़ तत्वों को समझ ही नहीं सकते। महात्मा गाँधी ने एक बार शान्तिनिकेतन में एक विद्यार्थी श्रीयुत् राम-चन्द्र से बातें करते हुए कला की उपयोगिता को मापदण्ड लोक-संग्रह बताया है। इसी लोक-संग्रह की भावना से उनके

सब कार्य प्रेरित होते हैं। कला की अन्तिम शुद्ध अवस्था तो सत्यमय एवं कल्याणमय है ही, परन्तु 'सुन्दरता' की अन्तिम शुद्धता को 'सत्यं' और 'शिवं' के पूर्व स्थान देने में लोक-संग्रह में बाधा उपस्थित होती है। उदाहरण के लिये फ़ारसी-साहित्य और फ़ारसी-जीवन और व्रज भाषा का साहित्य ले लीजिये। इन पर पूर्ण रीति से विचार करने पर आपको महात्मा गाँधी की बात का अवश्य ही क़ायल होना पड़ेगा। यदि महात्माजी का कला-विषयक मापदण्ड स्वीकार कर लिया जाय और यदि कला की उपासना मनसा-वाचा-कर्मणा से साम्य-भाव प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे तो हमारी उपरोक्त बात स्वीकार की जायगी। इस अवस्था में यदि कोई पूछे कि क्या कवि की रचना या शिल्पी की मूर्ति उसकी चरित्रोज्ज्वलता की द्योतक है तो हम निस्सङ्कोच कह सकते हैं कि अवश्य।

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के सिद्धान्त से हम कहते हैं कि गाँधीजी बड़े ऊँचे दरजे के कवीश्वर हैं। उनकी एक-एक लाइन में सत्य एवं शिव के साथ सौन्दर्य है। उनका एक-एक शब्द हृदय पर कैसे वार करता है, कैसा सीधा जाकर मर्म-स्थान को ही भेदता है, कैसा मृदु कम्पन पैदा करता है, किस तरह उठाकर कार्य में लगा देता है? यह हम क्या कहें, प्रत्येक जानता है। क्या किसी अन्य कवि के काव्य में भी आपने यह बात पाई है—जो राष्ट्र का निर्माण कर सके, जो मानवता का नवीन सन्देश दे सके, जो करोड़ों को सोते से उठा सके। ऐसा महाकवि

भला और कहाँ मिलेगा ! 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के साथ-ही-साथ सदाचार-शास्त्र का ऐसा निर्मल एवं सुन्दर एकीकरण करनेवाला भला और किस देश को मिला है ! महात्माजी तो प्रत्येक दिशा में विप्लव चाहते हैं। वे राष्ट्र-निर्माता हैं, वे धर्मावतार हैं, धर्म के विरुद्ध धारणाओं के वे विरोधी हैं। धर्म-विरोधी भावनाओं का उन्मूलन करके उनके स्थान पर नवीन धारणाओं की प्राण-प्रतिष्ठा करना ही उनके जीवन का एक-मात्र लक्ष्य है।

गाँधीजी क्या हैं ?

संसार के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और परम सन्त रोम्याँ रोलाँ ने महात्मा गाँधी का इतना सुन्दर चित्र खींचा है, कि पढ़ते ही बनता है। वे लिखते हैं—"गाँधीजी की श्यामल आँखें बहुत ही कोमल हैं। उनका मुँह पतला और बदन छोटा एवं अशक्त है। उनका सिर छोटी-सी श्वेत टोपी (यह चित्र पुराना है) से और शरीर श्वेत मोटे कपड़े से ढका रहता है। वे हमेशा नंगे पैर रहते हैं। वे ज़मीन पर ही सोते हैं। नींद उन्हें बहुत कम आती है। कार्य तो वे मशीन की तरह करते हैं। उनका शरीर कुछ-नहीं के तुल्य है। उनमें कोई आकर्षक बात भी नहीं। हाँ, है तो केवल यही कि उनका शरीर अस्थि-रक्तमय नहीं, किन्तु अनन्त धैर्य और अनन्त प्रेम से मिलकर बना है।"

डब्ल्यू० पीयरसन और गाँधीजी की अफ्रीकावाली भेंट का ज़िक्र करते हुए रोम्याँ रोलाँ लिखते हैं—"पीयरसन ने ज्योंही

महात्माजी को देखा कि उनको एकदम एसीसी के सन्त फ्रेंसिस की याद आगई।"

देशबन्धु सी० एफ़० एण्ड्रूज़ ने लिखा है कि वे बच्चों की तरह भोलापन और सरलता लिए हुए खिलखिला उठते हैं।

जोसेफ़ जे० डाक महाशय लिखते हैं—"उनके व्यक्तित्व के सौन्दर्य से कौन आकर्षित नहीं होता ? उनके कठोर-से-कठोर दुश्मन भी, उनके सम्मुख आते ही पानी-पानी हो जाते हैं।"

मिस्टर वेन्स्पूर ने एक जगह लिखा है—"जो लोग गाँधी से मिलकर बातें करते हैं, बड़ी और छोटी सभाओं में उन्हें देख चुके हैं, एकान्त या भीड़ में उसके पास रह चुके हैं, एकदम समझ जायेंगे और स्वीकार करेंगे कि जैसी अपूर्व और अलौकिक शक्ति ईश्वर ने उन्हें दी है, वैसी संसार में अवतारी पुरुषों के सिवाय किसी के पास देखने में नहीं आई। आप चाहे इसे पागल का उन्माद कहिए या प्रलाप कहिये। मैं तो आपसे सत्य कहता हूँ कि वह तो राजनीति की कूट-से-कूट चाल को भी एक क्षण-भर में नष्ट कर देता है। उसकी सूरत क्या, उसका नाम सुनते ही बड़े-बड़े धुरन्धर राजनीतिज्ञों के छक्के छूट जाते हैं। मामूली जनता ही उसकी पूजा नहीं कर रही है, महान्-से-महान् आत्माओं का भी वह 'महात्मा' ही है, और सरकार के बड़े-से-बड़े अधिकारी भी उसके चरित्र-बल के आगे चुप हैं। पश्चिम ने एक लेनिन पैदा किया है, जो तर्क और विधि दोनों में दृढ़, पटु और अदम्य है। पूर्व ने ऐसा गाँधी पैदा किया है,

जो वैसा ही दृढ़, पटु और अदम्य है। लेनिन तलवार पर विश्वास करता है, गाँधी अहिंसा पर।"

गाँधी असन्तुष्ट आदर्शवादी है। वह सनकी भी है। जब हँसने लगता है, तो हँसता ही रहता है और दिल खोलकर हँसता है। एक औरत गत सत्याग्रह-संग्राम में त्रस्त हो, गाँधीजी के पास गई और कहने लगी कि आप स्त्रियों के लिए अवसर को साधती हुई स्पीच या सन्देश दीजिये। उस समय वे ज़ोर से खिलखिलाये और कहने लगे—"बाई, धैर्य धरो! मैं अपनी बहनों को ख़ूब जानता हूँ।" एक समय एक त्रस्त स्त्री उनके पास जाकर पूछने लगी कि क्या मेरा कर्तव्य मैदान में उतरना है, या घर की व्यवस्था करना! वे उसकी आवाज़ सुनकर इतने ज़ोर से हँसे कि स्त्री भी दङ्ग रह गई।

साबरमती सत्याग्रह-आश्रम

गाँधीजी अक्सर कहा करते हैं कि मेरी ज़िन्दगी की असफलताएँ और सफलताएँ मेरी संस्था 'सत्याग्रह-आश्रम' से ही नापी जा सकती हैं। यदि मनुष्य उस आश्रम के नियमों को अपने हृदय में पूर्ण रूप से स्थान दे दे तो उसे अपना जीवन निराशामय कभी भी मालूम नहीं होगा। यदि उसे अपने किसी कार्य में असफलता मिले, तो उसे यह निश्चयपूर्वक समझ लेना चाहिये कि उसके कार्यों का आरम्भिक सिद्धान्त ही ग़लत भित्ति पर स्थित था, या उस कार्य के सम्पादन में उसकी लग्न कमज़ोर थी। महात्मा गाँधी की क़ीमत उनके उसी सत्याग्रह-आश्रम में

है। दुःख की बात है कि गाँधीजी ने इस आश्रम को बन्द कर दिया।

आश्रम कई रीति से अनोखा था। यह आश्रम सर्व-प्रथम धार्मिक संस्था था, जहाँ ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा सर्व-प्रथम ध्येय समझी जाती थी। किन्तु अन्य धार्मिक संस्थाओं की तरह यहाँ केवल धार्मिक जागृति को ही स्थान नहीं, बल्कि औद्योगिक धन्धों, सामाजिक सेवाओं और राजनैतिक जागृतियों को भी प्रमुख स्थान दिया जाता था। भक्ति और ध्यान में लीनता से ज़्यादा यहाँ पैरों पर खड़े होना सिखाया जाता था—वहाँ केवल मालाओं से जपनेवाले बगुला-भक्तों की गुज़र नहीं थी। वह आश्रम तो राष्ट्रीय सेवा के लिये एक सभा था, जिसके प्रवर्त्तक स्वयं महात्माजी थे।

यद्यपि ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा एक ऐसी बात है, जो राजनीति और समाज-नीति किसी से भी सम्बन्ध नहीं रखती, तो भी महात्माजी का इस पर विशेष ध्यान है; क्योंकि वे कहा करते हैं कि धार्मिक सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से पालन करने के लिए ब्रह्मचर्य की बड़ी भारी आवश्यकता है। ऐसी संस्थाएँ तो भारतवर्ष में बहुत-सी हैं, जहाँ सन्त और स्त्रियाँ रहती हैं। सैंकड़ों सालों तक उपरोक्त स्थानों में ब्रह्मचर्य का पालन हुआ और फिर वे सांसारिक सुखादि में लवलीन होगये और गिर गये। प्रत्येक सुधारक ने सब से पहले अपनी प्राचीन ग़लती के संशोधन की सलाह दी है, बाद में ही उसने अपनी इच्छा के अनुसार संस्था

का निर्माण किया है। प्रत्येक नवीन सुधारक का चाहे जो सिद्धान्त रहे, इससे हमें मतलब नहीं, वह स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में कैसे भी विचार रक्खे, किन्तु जहाँ स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध का विचार आया कि वहाँ सभी प्राचीन और नवीन सुधारकों के सिद्धान्त आपस में टकरा जाते हैं। आग के सम्मुख मक्खन आया कि वह पिघला। इन्हीं बातों को सोचकर ही प्राचीन और नवीन धार्मिक संस्थाओं के प्रवर्त्तकों ने कहा है कि पहले अपने-को सुरक्षित करो। स्त्री के पास कभी मत जाओ। इसी प्रकार स्त्री को भी पुरुष के पास न जाना चाहिये।

महात्माजी इन सिद्धान्तों के क़ायल नहीं। वे इतनी सख्ती नहीं चाहते। किन्तु कुछ संरक्षण के नियम तो पालने ही पड़ते हैं।

बच्चों को नैतिक शिक्षा देने के लिए यह बात आवश्यक है कि उनमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धी ज्ञान पैदा कर दिया जाय। लड़के को जानना चाहिए कि वह लड़का है और इसी प्रकार लड़की समझे कि वह लड़की है। उनको यह सिखाना चाहिए कि एक-दूसरे के साथ वर्ताव कैसे किया जाता है।

बड़े होने पर यह शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह अपनी माता, बहिन और लड़कियों से अलग रहे, यदि वे जवान हैं। खास-खास न टालने योग्य मौक़ों पर वह मिल भी सकता है। यही नियम जवान स्त्री के लिए लागू है। ब्याह के पहले जहाँ तक हो सके, स्त्री-जाति को पुरुष-जाति के जवान व्यक्तियों से

मिलने न दिया जाय। वे कहते हैं कि सफल ब्रह्मचर्य के लिए हमारा यही ध्येय होना चाहिए कि हम स्त्री की ओर कुदृष्टि से देखें ही नहीं; इसी प्रकार स्त्री भी करे। यद्यपि गाँधीजी स्वीकार करते हैं कि एक समय मैं भी इस भयंकर तूफ़ान में विचलित होगया था, किन्तु उन्होंने अपना मन अब बहुत क़ाबू में कर लिया है। इसके लिए उनका कहना है कि लड़कों और लड़कियों को एक-सी ही शिक्षा और एक-सी ही पोशाक चाहिए। इससे कहना पड़ता है कि स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की ओर आश्रम नहीं जाना चाहता।

यह कोई बात नहीं कि महात्माजी प्राचीन संस्थाओं के कट्टर सिद्धान्तों से अपने सिद्धान्त मिलाते नहीं। कट्टर सिद्धान्तों का पालन मनुष्य को हमेशा के लिए उन सिद्धान्तों से हटा देता है। महात्माजी के आश्रम में कसरत और भोजन ब्रह्मचारियों के लिए भिन्न प्रकार के हैं। ये नियम उनको इसलिए बनाने पड़े हैं कि उससे ब्रह्मचारियों में कुप्रवृत्ति की ओर लेजानेवाली उत्तेजना न फैले।

भोजन के सिवाय गाँधीजी ने पवित्र जीवन व्यतीत करने के और कोई कड़े नियम नहीं रखे। यहाँ के रहनेवाले नवयुवकों और नवयुवतियों के जीवन गुजरात के मध्यम श्रेणी के पुरुषों-जैसे ही हैं। वे उच्च संगीत गाते हैं, स्त्रियाँ और लड़कियाँ नाचती भी हैं। वे नाटक भी करते हैं और कसरती खेल भी खेलते हैं, कपड़ों को भी ढङ्ग से पहनते हैं।

भोजन के सम्बन्ध में गाँधीजी का सिद्धान्त निराला ही है। यह सिद्धान्त सभी भोजनालयों के सिद्धान्तों से भिन्न है। शराब और मांस की तरह वे मिरची मसालों से घृणा करते हैं। उनका कथन है कि ये ही वस्तुएँ मनुष्य की उत्तेजना को जागृत करनेवाली हैं। आश्रम के भोजन में मसाले और मिरची का नाम नहीं रहता। यह सिद्धान्त वहाँ तो माना जा सकता है, किन्तु बाहर उनके अनुयायी कैसे मानें?

गाँधीजी के आश्रम में यदि कोई बुरी बात होजाती थी तो उसके लिए वे बड़े-बड़े उपवास भी कर डालते थे।

गाँधीजी आश्रम को प्रयोगशाला कहा करते थे, जहाँ पर 'सत्य' के प्रयोग किये जाते थे। कठिन-से-कठिन प्रयोग भी वे इसी के कारण या बल पर किया करते थे। आश्रमवासी प्रयोग-शाला की नली और यन्त्र के सदृश थे। कभी-कभी उनके कठिन प्रयोगों के मारे आश्रम-निवासी काँप उठते थे, तो भी वह साबरमती का विधाता अपना विधान किये ही चला जाता था।

मोहन का सुदर्शन-चक्र

जिस प्रकार श्रीकृष्ण के सुदर्शन ने दुष्टों का संहार और भक्तों का पालन किया था, उसी प्रकार हमारे मोहनदास गाँधी का सुदर्शन-चर्खा भारतवासियों का एक-मात्र आधार है। गृह-उद्योग को भली प्रकार से समझने के लिए या गृहौद्योगिक आन्दोलन का तत्व समझने के लिये हमें पहले यह जानना परमावश्यक है कि गृह-उद्योग में कौन-सी बात शामिल नहीं।

उदाहरण के लिए हाथ से कातने के उद्योग को लीजिये। आजकल के किसी भी क़िस्म के उद्योग से उसका मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। इससे तन्दुरुस्त आदमी को भी कभी ज़्यादा आमदनी होने की ही नहीं। मुक़ाबले के लिए, जितनी आमदनी हम किसी अन्य धन्धे में कर लेते हैं, यदि हम उस आमदनी की आर्थिक क़ीमत पर विचार करें तो हमें मालूम होजायगा कि हम ग़लत रास्ते पर बढ़ रहे हैं। सारांश यह कि 'हाथ की कताई और बुनाई' कभी भी हमें अपने आर्थिक सिद्धान्तों के अनुकूल धनिक होने से रोकती है। हम उससे धनवान नहीं हो सकते।

इसके विषय में यही कहा जा सकता है कि यह धन्धा हमें बेकारी और उपयोगहीनता-आदि दुर्गुणों से हटाकर धन्धे से लगा देता है। यह धन्धा भारत की उलझनों की स्थायी सुलझन के समान है। भारत में लोग छः महीने धन्धा करते हैं, छः महीने सुस्ती से घर में ही बैठे रहते हैं। भारत की आबादी ज़्यादा होने से लोग कृषि के उद्योग के सिवाय बेकार-से बैठे रहते हैं, उनको यह धन्धा सहायक धन्धे की तरह हो जाता है और उस बेकारी से उत्पन्न 'अर्धपेट-अन्न' की तृप्ति के लिए भी यह बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है।

भारतवर्ष के सभी प्राचीन उद्योग-धन्धे प्रायः नष्ट हो चुके हैं। उन व्यवसाइयों ने अपने-को नवीन रूप नहीं दिया। भारत का दिन-दिन उजाड़ के रूप में परिणत होते जाना, चौपायों की

सम्पत्ति का खाद्य बिना भूखों मरना, बार-बार अकालों के कारण वस्तुओं का अभाव रहना और कृषिकारों का अधिकाधिक दुःख सहना-इत्यादि बातों ने भारत को उन्नत होने या परिवर्तन होने से क़तई रोक रक्खा है। यदि भारतवासी अमेरिका, यूरोप-आदि के कृषि-सम्बन्धी नवीन आविष्कारों-द्वारा खेती करके लाभ उठाना चाहें तो उनके पास विद्या और पैसा कहाँ है ? वे तो सारे दिन और रात पचते रहते हैं, उन्हें नई बातें सूझें कहाँ से ? यही कारण नहीं, और भी कई कारण हैं, जिनसे भारत में प्रति दिन बेकारी बढ़ती ही चली जारही है। १६वीं शताब्दी से प्रथम पच्चीस वर्ष में भारत की सुन्दर अवस्था की जाँच करने के लिए डॉक्टर बूचान्न और माएटगोमरी मार्टिन-नामक दो व्यक्तियों ने उत्तरी-भारत को नापा था। उस समय की स्थिति वे लिखते हैं कि गाँववाले अन्न के पहाड़ के समान ढेर लगाकर प्रसन्न होते थे, हज़ारों लोग सूत कातते, कपड़े बुनते थे। हज़ारों रँगरेज़ बहुत ही सुन्दर रंग देते थे। सुनार, बढ़ई, लोहार-आदि कई औद्योगिक पुरुष अपने-अपने धन्धों में अनाप-शनाप कमाते थे। इसके ज़रिये वे बहुत रुपया कमाते थे। यदि आपको इसके लिए सरकारी सुबूत की आवश्यकता हो और आप यदि वर्तमान भारत और अर्वाचीन भारत का मुक़ाबला करेंगे तो आपको सेन्सस रिपोर्टों में काफ़ी लिखा हुआ मिलेगा। बड़े प्रान्तों में यदि किसानों की ज़मीन की औसत लगाई जाय तो बम्बई, सीमा-प्रान्त और पञ्जाब को छोड़कर प्रायः तीन एकड़ से ज़्यादा

किसी के पास नहीं। इन्हीं साधनों पर, जो सब आबादी के १२ प्रति सैकड़े के बराबर हैं, जीवन-निर्वाह करना पड़ता है। एक सेन्सस रिपोर्ट में लिखा है कि भारतवासी वर्तमान समय में न तो उत्साहपूर्वक कार्य करते हैं, न उनकी आत्माओं में उपजाऊ-पन है। बङ्गाल सेन्सस के वक्त मिस्टर टॉमसन ने लिखा है—"ब्रिटिश-भारत में सच्चे काम करनेवालों की संख्या कुल ११०६०६२६ है। इसके माने एक काम करनेवाले के पीछे २.२ एकड़ पृथ्वी हुई।" यही कारण है कि भारतवर्ष भूखों मर रहा है। सवा दो एकड़ ज़मीन के लिए एक मनुष्य सारे साल-भर उद्योग में नहीं लगा रहता। किसान कुछ दिन सख्त मेह-नत करते हैं, फिर वे खेत जोतकर उसमें बीज डाल देते हैं, फिर उसे काटते वक्त सँभालते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि साल में भारतीय किसान बहुत समय आलसी की तरह काटा करते हैं। मिस्टर लायड यू० पी० (संयुक्त-प्रान्त) की सेन्सस रिपोर्ट में लिखते हैं—"कुछ दिनों तक भारतीय किसान जी तोड़कर काम करते हैं और फिर पूर्ण आलस्य का साम्राज्य फैल जाता है।" इसी प्रकार सी० पी० (मध्य-भारत) के सेन्सस रिपोर्ट में मि० हॉटन लिखते हैं कि भारत में खरीफ़ की फ़सल बरसात खत्म होते ही काट ली जाती है। यही फ़सल मह-त्वपूर्ण है। इसके काट डालने पर किसानों को आते मॉनसून तक कुछ भी काम नहीं रहता। 'The wealth and wel-fare of Punjab' नाम की पुस्तक के लेखक मि० कलवर्ट

महाशय लिखते हैं—"यदि भारतीय किसान के कार्य का हिसाब लगाया जाय तो कहना पड़ता है कि वह १२ महीनों में पूर्ण रूप से १५० दिन कार्य करता है। उस प्रान्त में, जहाँ प्रत्येक किसान की ज़मीन की औसत ६.१२ एकड़ है, जब यह हाल है तो दूसरे प्रान्त तो अवश्य ही भूखों मरते होंगे। पञ्जाब तो हिंदुस्थान में दूसरे नम्बर का उपजाऊ प्रान्त है।"

उपरोक्त सरकारी गवाहियों से स्पष्ट होगया कि भारतीय किसान छः महीने घर पर पड़े सोते रहते हैं। यही कारण है कि वे दरिद्री हैं। लङ्काशायर के किसान को साल में सर्दी के मौसम पर यदि कोई दूसरे धन्धे के लिए वक्त मिल जाय तो उसे बड़ा स्वर्ण-संयोग समझा जाता है। इटली में बुनने का कार्य महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता। पर जहाँ शहतूत के वृक्ष बहुतायत से हैं, वहाँ की औरतें बुनने के और कातने के कार्य में निमग्न रहती है। खेती के साथ-साथ सहायक धन्धे की तरह गृह-उद्योग को महत्व देना भारत के सीखने के लिए यह अच्छा उदाहरण है। अभी तक यह प्रश्न बड़े ज़ोरों पर है कि सहायक धन्धा कौन-सा होना चाहिये। आज तक लोग घर में सूत कातना ही एक-मात्र उद्योग जानते आये हैं। इसी से हम शीघ्र कल्पना कर सकते हैं कि चरखे का ही प्रताप था, जिसने हमें यह बात सुझाई।

चरखे के सिवाय दूसरा कोई भी धन्धा इतना उपयोगी और महत्वपूर्ण नहीं है। उद्योग वैसे बहुत हैं। हम दूध-दही का

घन्धा (Dairy Industry) क्यों नहीं करते ? इसके लिए हमारा यही कहना है कि भारतवर्ष डेनमार्क नहीं, जो इँग्लैण्ड के ४० प्रतिशत दही-दूध के व्यापार को दबाये बैठा है। सन् १६०० ईस्वी में डेनमार्क ने इँग्लैण्ड से केवल मक्खन के २ लाख पौण्ड लिए थे और तीन लाख पौण्ड दूध-दही के। किन्तु भारतवर्ष इस उद्योग के लिए विशाल नहीं और हिन्दुओं और मुसलमानों का इस व्यापार में ध्यान ही नहीं जाता। जानवर पालना और शहद की मक्खियों से शहद निकालना भी धर्म-बाधा के कारण भारतवासी नहीं कर सकते। भारतवर्ष आज प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से १ एकड़ भी ज़मीन नहीं बढ़ा सकता, उसकी उन्नति में यह भारी रुकावट है। आयरलैण्ड का कृषि-विभाग बहुत उन्नत है। वहाँ कई कॉलेज और स्कूल इसी शिक्षा के देने के लिए बने हैं और सभाओं में इस विषय के सुन्दर और सुगठित अनुभवी विद्वानों-द्वारा भाषण दिलवाये जाते हैं। भारतवासियों को टोकरी बनाना, बेंत का काम करना-इत्यादि धन्धों की भी सुध नहीं। कारण प्रायः स्पष्ट ही है कि सूत कातने के धन्धे के आगे यह भी कुछ नहीं। बाज़ार में इसकी वह भी क़ीमत नहीं, जो सूत कातने की है। एक जूट के प्रमुख व्यापारी ने निराश होकर लिखा है कि अफ़सोस है कि जूट के घर बंगाल में जूट-मिलों की कमी है! यही हाल कॉटन-मिलों का है। जहाँ आवश्यकता है, वहाँ नहीं हैं; जहाँ नहीं चाहिए, वहाँ दस-दस मौजूद हैं। यह अवश्य है कि उपरोक्त

व्यापारी भूल रहा है कि जूट-मिलों में १५०००० आदमियों से ज़्यादा काम नहीं रहता। जूट-मिलों के मालिक भी पूँजीपति हैं। यदि हम साधारण-सा ही अन्दाज़ लगायें तो कह सकते हैं कि ७० के पीछे पचास करोड़ रुपया लगाने पर हम डेढ़ लाख मनुष्यों को कार्य में लगा सकते हैं, जिसमें ३७००० परिवार मज़दूरों के और सैकड़ों क्लर्क-चपरासी अलहदा हैं।

यह लोगों की बहस का विषय होगया है कि आर्थिक दृष्टि से कातने के व्यवसाय में भूखों ही मरना पड़ता है। लोग यह भूल गए हैं कि कातने का धन्धा कभी खास धन्धे की तरह नहीं समझा गया। आज तक यह उन लोगों का ही धन्धा रहा है, जो सुस्ती या बेकारी में बैठे हुए अपना समय बिता रहे हैं। कातनेवाले दो आने रोज़ के हिसाब से २४) साल कमा लेते हैं। यह बड़ी ही हृदय-विदारक बात है। इसी से भारत की आमदनी की यह दशा है। भारतीय अर्थशास्त्रीय जाँच कमेटी ने भी भिन्न-भिन्न १५ अधिकारियों-द्वारा उपरोक्त बात स्वीकार की है। दादाभाई नौरोज़ी ने भी इस धन्धे को ज़ोर देना चाहा था।

अन्य धन्धों को देखते हुए कहना पड़ता है कि भारत के दुर्भाग्य को निवारण करने के लिए हाथ से कातना आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ है और यही दरिद्रता की रामबाण दवा है। इस-लिए चरखे का प्रचार घर-घर होना चाहिए; क्योंकि इसके लिए पूँजी या क़ीमती यन्त्रों की आवश्यकता नहीं। चरखे के अंग

सभी सस्ते और घर में बन सकते हैं। इसके लिए कलों की तरह किसी अनुभवी या सीखे हुए विशेषज्ञ की आवश्यकता नहीं। भोले भारतीयों की बुद्धि जितनी है, उतनी ही इस चरखे के लिए काफ़ी है। इसके चलाने में इतना परिश्रम नहीं पड़ता, जितना कलों में। इसे बच्चा और बूढ़ा भी चला सकता है और अपने घर में पैसा जोड़ सकता है। इसके बनवाने के लिए विदेशों से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि यह धन्धा अभी भी भारतीयों में वर्तमान है। यह धन्धा सार्वजनिक और स्थायी है। जुलाहे का कार्य ऐसा है कि लोग या व्यापारी घर पर भी आकर धरना देते हैं और कपड़ा लेजाते हैं। व्यापार में आजकल स्वदेशी कपड़ा ही मान्य है। इसमें मौसमी हवा का झगड़ा नहीं। इसलिए यह बारहों महीने और अकाल में भी काम आता रहता है। इसमें धार्मिक रुकावट कोई नहीं, जैसी कलों में चर्बी-आदि की है। यह अकाल से भिड़ने का सर्वोत्तम साधन है। यह झोंपड़े से लेकर महाराजाओं के यहाँ तक चल सकता है। इसलिए इससे आर्थिक व्यवस्था भी सुधर सकती है। इससे भारत उन बातों को भी पुनः प्राप्त कर सकता है, जिन्हें वह बिल्कुल ही भूल गया है। यह जुलाहे की ही सम्पत्ति नहीं, बल्कि किसानों की भी है। आज भारतवर्ष के कपड़े से लाखों-करोड़ों आदमी ढँक रहे हैं, किन्तु यह कपड़ा मिल के सूत का रहता है। यदि यही कपड़ा भारतीय सूत (चरखे के सूत) से बने तो भारतवर्ष किस उन्नति पर पहुँचे, यह हमारी

कल्पना से बाहर की बात है। यह देहातों को बहुत ही जल्दी उठा सकता है। सूत कातने के सम्बन्ध में हम केवल यही कह सकते हैं कि यह उद्योग भारतवासियों का आधार है। वे लोग, जो नौकरी की तलाश में चक्कर काट रहे हैं, यदि घर बैठकर चर्खा ही चलायें तो भूखे नहीं रह सकते।

महात्माजी का पूर्व को सन्देश

'अल मुसावारा'-नामक मिश्र के सचित्र साप्ताहिक-पत्र के सुयोग्य प्रतिनिधि ने 'राजपूताना' जहाज़ के ऊपर ही स्वेज़ नहर के पास गाँधीजी से भेंट की थी। उसने अपना निम्न-लिखित वक्तव्य प्रकाशित कराया है। उसी का सारांश यह है—

"गाँधीजी मध्यम क़द के दुबले-पतले मनुष्य हैं। रंग भूरा है, चेहरा छोटा, आँखें तेज़ हैं, कान लम्बे हैं। ऐसा ही गाँधी भारत का प्राण है।

"गाँधीजी का चेहरा हँसमुख है। जब वे हँसते हैं, उनके समस्त दाँत दिखाई देते हैं। नक़ली दाँत लगाने के बदले में उन्होंने कठोर खाना ही छोड़ दिया है। जब वे हँसते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि यह ईमानदार आदमी स्वाभाविक हास्य कर रहा है। वे बड़े खिलाड़ी हैं। कई वक्त बच्चों में मिलकर ख़ूब खेलते हैं और दिल खोलकर हँसते हैं और मज़ाक़ भी ख़ूब ही करते हैं। 'राजपूताना जहाज़' में अँग्रेज़-बच्चों के साथ उन्होंने ऐसा ही किया था। गाँधीजी को देखते ही दो भाव दिल में घर कर लेते हैं। पहला तो धैर्य्य और दूसरा दृढ़ता। उनके देखते ही

हमें एकदम यह स्मरण हो आता है कि हमारे बीच में एक ऐसा भी कट्टर आशावादी है, जो यह कहता है कि हमारी माँगें एक साल में पूरी न कर दी गईं तो हमारे पास दस, बीस, पचीस और सौ साल आगे और पड़े हैं, कभी-न-कभी तो हमें हमारे अधिकार मिलेंगे ही! देखते हैं, कहाँ तक अब हमें इन्तज़ार करना है। गाँधीजी के धैर्य्य और दृढ़ता—ये दोनों ही सिद्धांत प्रत्येक पुरुष के लिए परमावश्यक हैं और निश्चय ही इनसे सफलता प्राप्त होती है।

"जब कभी किसी को गाँधीजी से बोलने का सुअवसर प्राप्त हो तो उनकी विद्वत्ता और वाणी का माधुर्य्य—दोनों का असर हुए बिना रहता नहीं। वे बहुत ही नम्र हैं और दुश्मनों और विरोधियों तक से बहुत ही मधुर भाषण करते हैं। उनके शब्दों में विश्वास और दृढ़ता है। ऐसा मालूम होता है कि उनके व्यथित हृदय से व्यथा ही साकार होकर बोल रही है। संसार के प्रत्येक महान् नेता में कुछ-न-कुछ आकर्षण होता ही है। गाँधीजी का सच्चा आकर्षण उनकी सादगी है, जिसने संसार-भर को अपनी ओर खींच लिया है। गाँधीजी पूर्ण शान्ति के साथ शब्दों को सोच-समझकर बोला करते हैं। वह बोलने में कभी हाथ नहीं हिलाते। न प्रसिद्ध वक्ताओं की तरह उनमें कोई खास इशारे हैं। वे कभी-कभी बोलने में अपनी उँगली अवश्य दिखा देते हैं।

"जब वे जहाज़ पर चढ़े तो एक कुर्सी पर बैठ गए। उन-

की बाँयी ओर श्रीमती सरोजिनी नायडू थीं, जो महिला-आन्दोलन की प्रधान कार्यकर्त्री और प्रधान नेत्री हैं। उनके सीधे हाथ की ओर मिस स्लेड थीं, जो अँग्रेज़ महिला हैं। ज्योंही हम गाँधीजी के पास पहुँचे, गाँधीजी खड़े होगये और हमारा स्वागत करने के लिए हाथ फैला दिये। हमारा सौभाग्य है कि हमने ऐसे व्यक्ति से हाथ मिलाये, जिसने संसार में अनोखी अहिंसात्मक क्रान्ति मचा रखी है और जो संसार का एक महान् अवतार है। हमने फिर श्रीमती नायडू को नमस्कार किया। हुदा हनूम शास्त्री ने, जो १६२६ ईस्वी में बर्लिन में अखिल विश्व महिला-सम्मेलन के अवसर पर श्रीमती नायडू से मिली थीं, श्रीमतीजी का हमें परिचय कराया।

"हमेशा के अनुसार गाँधीजी बिल्कुल नंगे सिर थे। उनकी कमर और वक्षःस्थल खुले थे। वे कमर पर सिर्फ़ खद्दर का एक टुकड़ा लपेटे हुए थे और पाँवों में चमड़े की चप्पलें थीं, जो छोटे-से मोज़े की तरह प्रतीत होरही थीं। उनकी कमर में एक निकल की घड़ी बँधी थी। वह घड़ी राजा-महाराजाओं के योग्य नहीं, राज-मज़दूरों के बर्तने योग्य थी। गाँधीजी की आँखों पर चश्मा लगा था, यही एक भारी वज़न था, जिसे गाँधीजी अपने शरीर पर उठाकर ले गये थे। उनके चश्मे के काँच डबल लेन्स के हैं। एक से पढ़ सकते हैं और दूसरे से दूर के पदार्थों का अवलोकन कर सकते हैं।

"गाँधीजी भारतीयों के अलावा अपने अन्य मित्रों से हाथ

मिलाते हैं। अपने देशवासियों से हमेशा वे घुटने तक हाथ जोड़कर ही प्रार्थना करते हुए प्रणाम करते हैं।

"सब से पहले वर्तमान लेख की लेखिका हुदा हनूम शाम्री और 'डेली टेलीग्राफ़' के मिस्टर मार्टिन गाँधीजी से स्वेज़ नहर पर मिले थे। ज्योंही उन्हें यह मालूम हुआ कि यहाँ उनसे मिलने झुण्ड-का-झुण्ड आएगा तो शीघ्र ही हमने अपनी नोटबुक उनके सामने सन्देश लिख देने को सरका दी। साथ ही हमने गाँधीजी से कहा कि कृपया अपने इस स्वेज़ नहर की यात्रा-विषयक स्मृति के लिए कुछ लिख दीजिये, हम उसे अपने पत्र 'अल मुसावारा' में छापेंगे। गाँधीजी हँस दिये और हमारी नोटबुक लेकर लिखने लगे—'मेरी हार्दिक सहानुभूति है।' इतना ही लिखकर उन्होंने अपने दस्तखत कर दिये।

"हमने फिर उनसे पूछा कि आपको अपने सफ़र में कुछ कष्ट तो नहीं हुआ? बोले—'कुछ भी नहीं, समुद्र शान्त था।'

"हमने पूछा—'आपके इन थोड़े-से वस्त्रों को देखते हुए हम जानते हैं कि आपको ठण्ड तो बहुत लगती होगी?'

"इस पर तो वह त्यागी फ़क़ीर हँस पड़ा; रोके नहीं रुका। वे कहने लगे—'यह सब बातें आदत पर निर्भर हैं। मैं तो केवल एक ही कम्बल रखता हूँ। जहाँ आवश्यकता पड़ती है, वहाँ इसी से काम लेता हूँ।' हमने भी वह कम्बल देखा। वास्तव में एक सफ़ेद ऊनी शॉल (दुशाला) था। गाँधीजी से पूछा—'कहिये महाराज! आप की तन्दुरुस्ती इतनी अच्छी क्यों है?' हमारे इस

प्रश्न का उत्तर उन्होंने दिया—'इसका कारण मेरा मीलों तक का रात-दिन का सफ़र है। साथ ही मेरा शराब और मांस से बचना भी इसी में शामिल है। जैसा मैं जवानी में कसरत पसन्द करता था, यदि वही मज़ा मुझे कसरत में आज भी आता तो अवश्य ही मेरी तन्दुरुस्ती और भी अच्छी होती। जवानी में भी मैं केवल कसरत का नाम ही पसन्द करता था, कसरत करता नहीं था। अब मैं अनुभव करता हूँ कि जिस प्रकार जवानी में मानसिक शिक्षण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उस अवस्था में शारीरिक शिक्षण की भी होनी चाहिए।' इतना कह-कर थोड़ी देर के लिए वह चुप होगये और फिर बोले—'तो भी मेरी उम्र को देखते हुए मेरी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी है।' इस समय महात्माजी को ६२ वाँ साल खत्म होरहा है। उपरोक्त बात को सुनकर समस्त श्रोताओं का हास्य-प्रवाह फूट पड़ा। दिल खोलकर सभी हँसे। हँसने के बाद सभी ने ईश्वर से उनके स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना की। जब हमने गाँधीजी से पूछा—'स्वराज्य के लिए भारतीय हलचल के साफल्य का रहस्य क्या है?' तो वे बोले—'जब कभी कोई जाति विजय प्राप्त करना चाहती है तो उसका प्रथम कर्तव्य यही है कि अपनी भित्ति—सत्य—पर क़ायम करे और न्याय का पक्ष लेकर अपने प्रयत्नों की विजय पर प्रसन्न होकर विश्वास रक्खे। यदि विश्वास न्याय के साथ है तो विजय आवश्यक है; चाहे एक साल में हो, चाहे दस साल में। हमारी सभी माँगें न्याय्य हैं।'

महात्मा गाँधी की गोल-मेज़-यात्रा

महात्माजी के द्वितीय-राउण्ड-टेबुल कॉन्फरेन्स जाने के समय भारतवर्ष ने जिस शुभ कामना से महात्मा की विदाई की थी, वह किसी से छिपी नहीं। अदन-प्रवासी भारतीय गाँधीजी और राउण्ड-टेबल-कॉनफ़रेन्स के अन्य प्रतिनिधियों का स्वागत करना चाहते थे किन्तु अदन के रेज़ीडेन्ट ने उन्हें इसलिए आज्ञा नहीं दी कि वे राष्ट्रीय पताका फहरायेंगे। वे उस समय तक कुछ भी निश्चय नहीं कर सके, जब तक कि महात्मा गाँधी ने स्वागत-समिति के प्रेसीडेन्ट मि० फ्रामरोज़ कोवासजी डिनशा को यह न सुझाया कि आप रेज़ीडेन्ट को ऐसा फ़ोन कर दीजिये कि भारतीय काँग्रेस कमेटी और भारत-सरकार में समझौता होगया है, इसलिए सरकार अब राष्ट्रीय झण्डा फहराने के खिलाफ़ नहीं है।

फ़ोन करते ही मामला तय होगया।

महात्माजी ने उचित समझा कि लोगों को काँग्रेस का सन्देश सुना ही देना उपयोगी है। अरबी और गुजराती लोगों ने मिलकर ही महात्माजी को मानपत्र दिया था। मानपत्र अरबी गुजराती दोनों में पढ़ा गया था। इसलिए महात्माजी ने अरबी लोगों को भी काँग्रेस का सन्देश सुनाया। वहाँ गाँधीजी को ३२८ गिन्नी की एक थैली भी दी गई। उस पर धन्यवाद देते हुए मानपत्र के उत्तर में गाँधीजी ने निम्न-लिखित भाषण दिया—

"मैं आपकी इस कृपा का बड़ा आभारी हूँ। मैं जानता हूँ कि यह प्रतिष्ठा मेरे या मेरे किसी मित्र की व्यक्तिगत रूप से नहीं है। यह इज्ज़त तो आपने काँग्रेस की की है, जो अपनी वास्तविक दशा का दिग्दर्शन करने राउण्ड-टेबल-कॉन्फ़रेन्स जा रही है। मुझे मालूम हुआ है कि राष्ट्रीय झण्डे के कारण आपके कार्य में रुकावट उपस्थित की गई थी। आज यह मेरी कल्पना से बाहर का विषय होगया है कि जहाँ हिन्दुस्थान का कोई नेता पहुँचे या निमंत्रित किया गया हो, और वहाँ राष्ट्रीय झण्डा न फहराया जाये। आजसरकार और काँग्रेस में फिर सुलह होगई है। सरकार यह मान चुकी है कि काँग्रेस शत्रु-दल नहीं, बल्कि मित्र-दल ही है। अतएव जहाँ काँग्रेस-कार्यकर्त्ता निमंत्रित किये जायँ, वहाँ राष्ट्रीय झण्डे की पूर्ण आवश्यकता रहती है; और उस जगह उसे सम्मान का स्थान प्राप्त होना ही चाहिए। काँग्रेस की ओर से मैं आप से यह कह देना श्रेष्ठ समझता हूँ

कि वह अब दुनिया के सम्मुख अपनी हँसी नहीं कराना चाहती।

आज आप लोगों के संगठन से मैं अतीव प्रसन्न हुआ; क्योंकि जो शान्ति-स्थापन करना चाहते हैं—वे चाहे अरबवाले हों या भारतीय, शान्ति-स्थापन के लिये सब एक ही हैं। यह मोहम्मद साहब की जन्म-भूमि और इस्लाम-धर्म की एक-मात्र वर्तिका यहीं है। यही भूमि ऐसी है, जो हिन्दू-मुस्लिम तनाज़ों को निबटा सकेगी। यह मेरे लिए शर्म की बात है कि घर में शान्ति स्थापित नहीं कर सका। हम डरपोकपन और बुज़दिली के कारण एक-दूसरे के गले के ग्राहक हो रहे हैं। अज्ञानतावश हिन्दू मुसलमानों का अविश्वास करते हैं, और इसी तरह मुसलमान भाई भी। सम्पूर्ण इतिहास में इस्लाम-धर्म बहादुरी और शान्ति के लिए प्रसिद्ध ही है। यह इस्लामियों के लिए गौरव की बात है कि वे हिन्दुओं को निभा लेते हैं, हिन्दुओं की यह गौरव की बात नहीं कि वे मुसलमान भाइयों से डरते हैं, जब कि संसार-भर के मुसलमाम इनकी मदद को तैयार बैठे हैं। क्या सचमुच ही हम इतने डरपोक होगए हैं कि अपनी परछाहीं से ही डर रहे हैं? आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि पठान हमारे साथ पूर्ण प्रेम रखते हैं। वे गत संग्राम में हमारे साथ कन्धा-से-कन्धा लगाकर लड़े हैं। आप जो पैग़म्बर साहब के मुल्क के कहलाते हैं, यही करिये, जिससे हिन्दू और मुसलमानों में व्यर्थ की रंजिश मिट जाय। मैं आप से यह प्रार्थना करता हूँ। मैं आप से यह नहीं कह सकता कि आप इस कार्य को

किस प्रकार करेंगे, किन्तु यह कह। देता हूँ कि जहाँ इच्छा है, वहाँ रास्ता भी मौजूद ही है। मैं यह भी देखना चाहता हूँ कि भारतीय मुसल्मान स्वराज्य को उनके देश का ही संग्राम समझें। उसमें भाग लेना हमारा नहीं, बल्कि उनका ही कर्तव्य है। मैं आपको घर के बने हुए कपड़ों को पहिनने की सलाह देता हूँ। आपके कई खलीफ़ों का जीवन सादगी का आदर्श रहा है। आप भी उसी प्रकार घरू कपड़ा पहिनकर उनके आदर्शों का पालन कर सकते हैं। मेरी समझ में इस्लामियों के लिए कोई कार्य कठिन नहीं। मुझे एक बात यह और कहनी है कि आपके धर्म में शराब अत्यन्त ही घृणित मानी गई है। अतएव मैं चाहता हूँ कि अदन में शराब का नाम ही न रहे। मुझे विश्वास है कि आपका और हमारा सम्बन्ध आज से सुदृढ़ हो जायगा।"

जहाज़ पर महात्माजी के साथियों में वैसे तो सभी हमेशा उनसे बात-चीत करते ही रहते थे, किन्तु घर लौटनेवाले अँग्रेज़ों के बच्चों से वे बहुत ही मन-बहलाव किया करते थे। बच्चे न रंग और न व्यक्तित्व की ही परवाह करते हैं। गाँधीजी का एक यह साधारण-सा मज़ाक़ होगया था कि वे जहाज़ पर अँग्रेज़ बच्चों के कान पकड़कर उठा देते थे, उनकी पीठ पर चपत लगाते और बच्चे सपाटे से उनके केबिन में उसी प्रकार घुस जाते, जैसे पक्षियों के बच्चे घोंसले में मुँह डालते हैं। बच्चे ख़ूब मस्ती करते और वे खिलखिलाते। यह दृश्य भी भाग्यवानों को ही देखने

को मिल सकते हैं। जब गाँधीजी कलेवा करने बैठते तो बच्चे सपाटे से सब अँगूर और खजूर खा जाते और तश्तरियाँ साफ़ करके महात्माजी को दे देते! "और दो—और दो" के मारे नाक में दम हो जाता। बच्चे उन्हें चरखा तक नहीं चलाने देते, किन्तु वे हँसते ही रहते।

चरखा शब्द बड़ा ही आश्चर्यजनक है। उस समय बड़ा ही मज़ा आता था, जब डेक पर मीरा बहन और गाँधीजी चरखा चलाने बैठते और भारतीय नवयुवक उस जहाज़ पर चरखे के अर्थशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्न उनसे करते थे। वे नवयुवक उच्च शिक्षा के लिये विलायत जा रहे थे। आश्चर्य की बात है कि वे लड़के, जो भारतीय अभ्यास से असन्तुष्ट हो या उसे अपूर्ण समझ विलायत पढ़ने जा रहे थे, इतना भी नहीं समझते कि आज कई सालों से चरखे का भारतवर्ष में कौन-सा स्थान है। महात्माजी को उस समय यह बड़ा दुख हुआ कि वह मि० ग्रेग की "Economics of Khaddar" नामक पुस्तक नहीं लाये, नहीं तो इन भारतीय नवयुवकों को पढ़ने को दे देते और फिर वे खादी का पूर्ण महत्व समझ जाते। महात्माजी ने पश-मीने के शाल को, जिसकी क़ीमत ७०० रुपये थी, ७००० रुपये में बेच दिया। इस बात को जानकर इन युवकों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इससे भी ज़्यादा महात्माजी की प्रभात-कालीन एवं सायंकालीन संध्या से लोगों को आश्चर्य होता था। सायंकालीन प्रार्थना में लगभग ४० मुसलमान, ईसाई, यूरो-

पियन-आदि भी एकत्र होते थे। कुछ मित्रों की सलाह से महात्माजी ने प्रार्थना और भोजन के पश्चात् १५ मिनट बात-चीत के लिये नियत कर दिये थे। वहाँ गाँधीजी से प्रश्न किये जाते थे और वे उसका उत्तर देते थे। एक भारतीय मुसाफ़िर ने, जो मुसलमान था, गाँधीजी से पूछा कि प्रार्थना का क्या प्रभाव पड़ता है। वह यह नहीं चाहता था कि उसे शास्त्रों का लिखा हुआ महत्व सुना दिया जाय। गाँधीजी से उनकी ही "प्रार्थना करने का अनुभव" पूछना चाहता था। इस प्रश्न से गाँधीजी की कली-कली खिल गई। उन्होंने दिल खोलकर इसका उत्तर देना आरम्भ किया। वे कहने लगे कि प्रार्थना मेरी ज़िन्दगी की रक्षा करनेवाली है। इसके बिना मैं बहुत पहिले ही पागल क़रार दे दिया गया होता। मेरे स्व-रचित चरित से आप को मालूम हो गया होगा कि इस जीवन में मुझे सामाजिक एवं गार्हस्थ्य कार्यों में कितने दुख का सामना करना पड़ा है। उन दुखों से मुझे अस्थायी निराशा हो जाती थी। उस समय प्रार्थना से ही मेरे उस दुख का निबटारा हुआ करता था। मैं आप से यह और कह देना चाहता हूँ कि सत्य की अपेक्षा मैं प्रार्थना को कम महत्व देता हूँ। यह प्रार्थना तो मेरे दुखों का परिणाम-स्वरूप है। जब मुझे दुखों ने सताया तो मुझे प्रार्थना करनी पड़ी; क्योंकि मैं उसके बिना सुखी हो ही नहीं सकता था। ज्यों-ज्यों प्रार्थना में मेरा विश्वास बढ़ता गया, त्यों-त्यों मैं प्रार्थना को महत्व देता चला गया। अब मुझे प्रार्थना-

बिना जीवन निरर्थक और निस्सार प्रतीत होता है। दक्षिणी अफ्रीका में मैंने ईसाइयों की प्रार्थना में भाग लिया था। किन्तु मुझ पर उसका असर नहीं हुआ। फिर मैंने वहाँ जाना छोड़ दिया। वे ईश्वर से कुछ माँगते थे। यह मुझे पसन्द नहीं था। वहाँ से वापिस आने पर मुझे प्रार्थना और ईश्वर में अविश्वास हो गया और बड़ी उम्र तक मैं इससे दूर रहा। किन्तु जब कार्यों के साथ निराशा बढ़ने लगी तो मालूम हुआ कि जीवन में प्रार्थना भोजन की तरह आवश्यक है।

यदि मेरा यह आधार न होता तो ईश्वर ही जाने, मेरी कौन-सी स्थिति होती? राजनीति में क्षेत्र के भी मैंने इसी के बल पर धैर्य नहीं छोड़ा। यह सत्य है कि लोग मेरी शान्ति पर कृपा करते हैं, किन्तु वह शान्ति प्रार्थना से ही प्राप्त हुई है। मैं कोई विद्वान् नहीं, किन्तु भक्त होने का दावा करता हूँ। मैं मान और गर्व से परे रहना ठीक समझता हूँ। प्रत्येक मनुष्य स्वतः न्याय और क़ानून दोनों है। जाने के या जीवन व्यतीत करने के कई रास्ते हैं, किन्तु हमें चलते हुए रास्ते से जाना ही श्रेष्ठ है; क्योंकि वह पद-दलित रास्ते प्राचीन महर्षियों की सम्पत्ति हैं, उनके अनुभूत है। प्रति दिन प्रार्थना करने पर हमें मालूम हो जाता है कि हम कुछ-न-कुछ अपने जीवन में सञ्चय कर रहे हैं। वह सञ्चित वस्तु ऐसी नहीं, जिसे हम किसी की समानता के लिए बाहर लायें। वह अनुपमेय है।

पहले दिन यहीं तक क़िस्सा रहा। दूसरे दिन एक विद्यार्थी

ने पूछा—"आप ईश्वर के विश्वास से प्रारम्भ कीजिए, हम अविश्वास से प्रारम्भ करते हैं। अब आप कहिए, हम प्रार्थना किस प्रकार करें!" गाँधीजी ने उत्तर दिया—"अच्छा! ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न कराना, यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। दुनियाँ में कई वस्तुएँ ऐसी हैं, जो स्वतः-सिद्ध हैं और कुछ ऐसी भी हैं, जो बिल्कुल साबित नहीं हो सकतीं। ईश्वर का अस्तित्व एक रेखा-गणित के साध्यवत् है, यह हमारी ग्राह्य शक्तियों के परे का विषय है। मैं यहाँ बौद्धिक ग्रहण के विषय में बातचीत नहीं करता। बौद्धिक ग्रहण की कोशिशें ज़्यादातर असफल ही होती हैं, उसी प्रकार जैसे कि व्यर्थ के वाद-विवाद में ईश्वरत्व का पता ही नहीं चल सकता। ईश्वर को जानना शक्ति के परे की बात है। वह बुद्धि को पार कर गई है। दुनियाँ में ऐसी कई बातें हैं, जिनसे ईश्वर के अस्तित्व पर विचार हो सकता है, किन्तु यहाँ मैं कोई बौद्धिक बात समझा-कर आपके दिमाग़ को परेशान नहीं करना चाहता। मैं उन्नत उदाहरणों को पेश करने के बजाय आपके सम्मुख साधारण-से-साधारण बच्चों के योग्य उदाहरण पेश करता हूँ। यदि मेरा अस्तित्व है तो ईश्वर का अस्तित्व होना ही चाहिये। मेरे होने की मुझे आवश्यकता है, उसी प्रकार लाखों को है। मनुष्य अस्तित्व के बारे में बोलने के योग्य नहीं, किन्तु उसके जीवन से यह स्पष्ट है कि यह उसके जीवन का एक भाग ही है। आप अपने दिल में विश्वास क़ायम कीजिए। इसके लिए आप

को सब से पहले यह करना चाहिए कि जितनी विद्या आपने अब तक पढ़ी है, उसने आपकी बुद्धि को कुत्सित और भ्रमात्मक बना दिया है, उसे आप भूल जाइये। वह आपको अपने सद्विचारों से हटा रही है। आप सब से पहले विश्वास करना सीखिये, यह भी मनुष्यता का चिन्ह है। दुनियाँ में हम कण-सदृश हैं। बल्कि कण से भी कम हमारा अस्तित्व है।

"हम कण से भी कम इसलिए हैं कि कण तो उसकी वस्तु का हुक्म मानते हैं, उसके अनुसार ही अपना अस्तित्व क़ायम रखते हैं। किन्तु हम बेवकूफ़ी के कारण प्रकृति के नियमों को हमेशा जोड़ते रहते हैं। अन्त में मैं कह देना चाहता हूँ कि जिनमें विश्वास नहीं, उनके लिए मेरे पास बहस की गुञ्जाइश नहीं। ईश्वर की प्रार्थना छूट नहीं सकती। वह जीवन का आवश्यकीय अंग है। हाँ, हमें उसे ही जीवन का भार नहीं बना लेना चाहिए और यह समझना चाहिए कि प्रार्थना ही जीवन है, इसलिए किसी खास घण्टे में प्रार्थना की आवश्यकता नहीं। वे जो हमेशा अनहद का संगीत सुनाते हैं, कभी भी इस बात का दावा नहीं कर सकते कि प्रार्थना ही उनका जीवन नहीं है। प्रार्थना ही उनका जीवन है। हम अपनी समझ के अनुसार कहते हैं कि वे नियत समय पर प्रार्थना करते थे और प्रति दिन भक्ति की शपथ खाते थे। परमात्मा कभी क़सम नहीं चाहता। वह बन्धन में रहनेवाला नहीं। किन्तु हमारा कर्तव्य है कि उसके बन्धन में हम बँध जाएँ और उससे प्रार्थना करते

रहें, तभी मुझे विश्वास है कि हम जीवन के समस्त सङ्कटों से पार हो जाएँगे।"

इन बातों के बाद जहाज़ स्वेज़ नहर के पास पहुँच गया। इतने में ही वफ़दपार्टी के प्रेसीडेण्ट नहसपाशा का तार आया। यह वफ़दपार्टी वही पार्टी है, जो मिश्र की स्वाधीनता के लिए झगड़ रही है और जिस लड़ाई में लड़ते-लड़ते जुग़लुल-पाशा मर गये। तार का यह मज़मून था—

"महान् नेता महात्मा गाँधी, 'राजपूताना'—

"मैं मिश्र की ओर से भारतवर्ष के उस सर्वश्रेष्ठ नेता का स्वागत करता हूँ, जो हमारी तरह ही स्वतन्त्रता पाने के लिए अपने देश में युद्ध कर रहा है। मैं आपकी सफल यात्रा के लिए हृदय से ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ। मैं ईश्वर से यह भी प्रार्थना करता हूँ कि वह आपके सच्चे ध्येय की प्राप्ति में पूर्ण सहायक हो। मुझे ख़ुशी होगी, यदि आप लौटते समय भी दर्शन देंगे, और इस भूमि को आकर पवित्र करेंगे। मैं आशा करता हूँ कि आप हमारी वफ़दपार्टी और मिश्र राष्ट्र को अपने प्रयासों का सम्पूर्ण दिग्दर्शन करा देंगे और अब हमारे लिए उचित क्या है, यह भी हमें सुझायेंगे। परमात्मा आपको सफलता दे और भारत को स्वतन्त्र देखने के लिए आपको चिरञ्जीवी रखे। हमारे स्वेज़ और सईद बन्दरवाले प्रतिनिधियों-द्वारा ही आपको यह सन्देश सुनाया जायगा। —मुस्तफ़ा अलनहसपाशा।"

भारत के इस अर्धनग्न फ़क़ीर ने जब लन्दन में पैर रखा,

तो सारा संसार चकित होगया। फ्रान्स, इटली, अमेरिका देश के प्रतिनिधियों ने उनका स्वागत किया। महात्माजी के साथ ही महामना मालवीयजी एवं श्रीमती सरोजिनी नायडू भी बुलाई गई थीं। गोल मेज़ सम्मेलन के इस द्वितीय अधिवेशन में शासन-योजना, अल्प-संख्यक समुदाय का प्रश्न, सेना पर अधिकार और व्यापारिक समस्या-आदि विषयों पर विचार होना था। सेण्ट जेम्स पैलेस में ७ सितम्बर १९३१ से सभा प्रारम्भ होगई थी और शासन-योजना-समिति का कार्य चालू होगया था। आरम्भ में लॉर्ड सैंके, जो द्वितीय कॉन्फ़्रेन्स के सभापति थे, बोले—"भारत में सुख और शान्ति-स्थापना का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसमें हमें महान् त्याग से भी पीछे नहीं हटना चाहिए। हमारी यही मनोकामना है कि भारत राष्ट्र-पद प्राप्त कर, संसार के विचारों में अपना योग देने में समर्थ हो सके।" इसके साथ ही प्रधान मंत्री रेमज़े मेकडॉनल्ड ने कहा कि मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ कि हमारी चाहे जो स्थिति हो जाय, किन्तु व्यक्तिगत मित्रता और सार्वजनिक उद्देशों में कोई हेर-फेर न होगा, न परिवर्तन होगा। १३ वीं सितम्बर को महात्माजी ने कॉन्फ़रेन्स में भाग तो लिया, किन्तु मौन-दिवस होने से बोले नहीं। सभी सोच रहे थे कि ये क्या बोलेंगे। १४ सितम्बर को आपका भाषण हुआ। उसमें आपने कहा कि मैं यहाँ जो कह रहा हूँ, न तो वह धमकी है, न मेरा अन्तिम निर्णय ही है। प्रधान मंत्री की घोषणा कांग्रेस की माँग से बहुत कम है। संघ-योजना-

समिति की बातें हमारे किसी काम की नहीं। सरकार स्पष्ट ही क्यों नहीं कह देती कि वह कितना देना चाहती है? योजना-समिति में देशी रियासत के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। लार्ड सैंके ने व्यवस्थापिका-सभा और फ़िडरल फ़ायनेन्स पर एक मसौदा तैयार कर, गोल मेज़ परिषद् के सदस्यों में वितरित किया। उसमें उन्होंने भारतीय व्यवस्थापिका सभा के लिए दो हाउसों की आवश्यकता बताई। उनके नाम रक्खे गए—अपर हाउस और लोअर हाउस। अधिकारों के सम्बन्ध में लार्ड सैंके ने बजट और बिल के सम्बन्ध में दोनों हाउसों को समान अधिकार देने की सलाह दी। शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रान्तीय उत्तरदायित्व का प्रश्न उठा। महात्माजी भी प्रान्तीय स्वतन्त्रता के पक्ष में थे, किन्तु उनका कहना यह था कि प्रान्त अपने शासन में केवल स्थानीय मामलों में स्वतन्त्र रहें। मालवीयजी ने प्रान्तीय स्वतन्त्रता का घोर विरोध किया। महात्माजी ने कहा कि मैं समझता हूँ कि प्रान्तीय स्व-शासन की जो कल्पना मैं करता हूँ, यदि उसी के अनुसार प्रान्तीय स्वशासन रहे तो उसे ले लेने, जाँचने और यह देखने में कि उससे मेरा उद्देश्य वस्तुतः सिद्ध होता है कि नहीं, मुझे कुछ आपत्ति न होगी। पर बहस करते ही मुझे पता चला कि मैं प्रान्तीय स्वशासन का जो मतलब समझता हूँ, सरकार उसका वह मतलब नहीं समझती। कटघरों में बन्द केन्द्रीय उत्तरदायित्व से मुझे सन्तोष न होगा। मैं ऐसा उत्तरदायित्व चाहता हूँ, जिससे सेना और अर्थ-प्रबन्ध

का निर्णय अपने हाथ में रहे। विदेशियों-द्वारा रक्षित केन्द्रीय सरकार और मज़बूत स्वायत्त-शासन दोनों परस्पर विरोधी शब्द हैं। मैं समझता हूँ कि प्रान्तीय स्वशासन और केन्द्रीय उत्तर-दायित्व साथ-साथ रहने चाहिएँ। परन्तु यदि कोई मुझे यह समझा सके कि मेरे विचार का प्रान्तीय स्वशासन वास्तविक शासन है तो मैं उसे ले लूँगा। मैं क़ानून की किताब में से १८१८ का तीसरा रेग्यूलेशन निकाल दूँगा। मुझे विश्वास है कि सरकार हमें ऐसा ही प्रान्तीय स्व-शासन दे रही है। मैं समझौते की शर्तों के अनुसार ही लन्दन आया हूँ। समझौते में यह स्पष्ट ही बताया गया है कि मुझे संघ और उसके सारे उत्तरदायित्व पर बहस करना होगा और मुझे प्रात भी यही होगा। निस्सन्देह इसके साथ भारत के हितार्थ संरक्षण रहेंगे।"

इसके बाद मुसलमानों की ओर से श्री जिन्ना साहब ने बताया कि सभी शर्तों के पूर्व हिन्दू-मुसलमान समझौता होना चाहिए। उसके बिना कोई भी शासन २४ घण्टे तक भी न चल सकेगा। साथ ही सिखों के नेता सरदार उज्ज्वलसिंह ने भी यही कहा कि हम भी पहले मेल चाहते हैं, हमें तब तक कोई योजना मन्ज़ूर नहीं। कहने का मतलब यह कि बहस के बाद भी सारा मामला विचारणीय ही रहा।

महात्माजी ने कहा कि एक ही हाउस का रहना श्रेष्ठ है। नागरिकता के अधिकार को काँग्रेस सार्व-देशिक बनाना चाहती है।

२४ सितम्बर को आग़ाखाँ और महात्मा गाँधी की बात-चीत भी हुई, किन्तु नतीजा कुछ नहीं निकला। नेताओं ने ख़ूब प्रयत्न किया, पर मुसलमान किसी तरह भी राज़ी न हुए। महात्मा गाँधी हताश होगये। उसके बाद आग़ाखाँ गाँधीजी, आग़ाखाँ-पटेल, आग़ाखाँ-सप्रू सभी के सम्मेलन हुए, किन्तु मुसलमानों के नेता श्री जिन्ना अपनी १४ शर्तों के सामने टस से मस न हुए।

अल्प-संख्यक समिति की पहली सरकारी बैठक २८ सितम्बर को हुई। ५ अक्टूबर तक उसकी दो सरकारी बैठकें हुईं। गाँधीजी की अध्यक्षता में २ अक्टूबर को एक ग़ैर-सरकारी सभा बैठी। इस सभा में सम्मिलित हुए मुसलमानों, एङ्गलो-इंडियनों, देशी ईसाइयों, अछूतों के प्रतिनिधियों ने भी अपनी-अपनी माँगें पृथक्-पृथक् बताईं। ईसाई प्रतिनिधि मि० दत्त ने अलग-अलग माँगें फ़िज़ूल बताईं। डॉक्टर अम्बेडकर ने अछूतों के लिए १५ प्रतिशत जगह सुरक्षित करवाना चाहा। गाँधीजी मुसलमानों की विशेष माँग इस शर्त पर स्वीकार करने को राज़ी हुए कि मुसलमान काँग्रेस की शर्तों का समर्थन करें। मुसलमानों को यह शर्त स्वीकार नहीं हुई। ५ अक्टूबर को अनिश्चित काल के लिए साम्प्रदायिक समिति की बैठक स्थगित कर दी गई। प्रधान मन्त्री को भी न्यायपूर्वक इस मामले को सुलझाने के लिए कहा गया। इस पर मुसलमान राज़ी न हुए। आखिर खास-खास प्रति-निधियों की एक सभा हुई, जिसमें सिखों को छोड़, सभी आए।

इसमें कई समझौते हुए, उन समझौतों पर भाषण देते हुए महात्माजी ने कहा—"मैं बहुत ही लज्जा और असमंजस के साथ अल्प-संख्यकों के इस विवाद में पड़ा हुआ हूँ, मुख्य प्रश्न साम्प्रदायिक समझौता नहीं, शासन - विधान है।··· ··मुझे दुख है कि एक मत नहीं हो सका। मुझे विशेष लज्जा इस बात की है कि अपने ही प्रश्न को हम सुलझा नहीं सके।······ काँग्रेस ही अछूतों की सच्ची प्रतिनिधि है। मैं घोषणा करता हूँ कि अछूतों के निर्वाचन में उनका कोई हित नहीं।"

इसके बाद संघ-योजना-समिति में सेना-सम्बन्धी रिपोर्ट पर विचार हुआ। उसमें भी बहुत विवाद रहा। महात्मा गाँधी ने कहा, आज जो भारत में सेना है, वह चाहे अंग्रेज़ सेना हो या भारतीय, पर मेरे खयाल से वह भारत पर क़ब्ज़ा बनाए रखने के लिए ही है। तब तक वो सेना में देशीय, गोरखा मुसलमान या कोई भी भारतीय हो, वह हमारे लिए विदेशीय ही है। हम उससे बोल भी नहीं सकते। हम सेना पर अपना नियंत्रण चाहते हैं। साथ ही ब्रिटेन की सद्-इच्छा भी चाहते हैं। मैं यह चाहता हूँ कि जो सेना—ब्रिटिश सेना—भारत में रहे, वह ब्रिटिश बनकर नहीं, वरन् भारतीय बनकर रहे। अन्य देशों के मुक़ाबले में ही नहीं, वरन् मौक़ा पड़ने पर ब्रिटिश-साम्राज्य के मुक़ाबले में भी भारत-हित के लिए खड़ी हो जाय।

लॉर्ड सैंकी ने यह मंज़ूर नहीं किया। इसके बाद जल-सेनादि कई प्रश्न उठे और उनका भी कोई मसला तय नहीं हुआ।

तदनन्तर आर्थिक प्रबन्ध का मसला उपस्थित हुआ। लॉर्ड बैंकी ने कहा—यद्यपि मैं विचार की सीमा संकुचित नहीं करना चाहता, तथापि भारतीय हित के लिए यह आवश्यक है कि आप भारतीय लोग बहुत समझ-सोचकर कोई बात करें। लॉर्ड रीडिंग ने भी बहुत ही ढीला किन्तु पेचीदा उत्तर दिया। कहने का सारांश यह कि यह मामला भी तय नहीं हुआ। अन्त में अधिवेशन को समाप्त करते हुए प्रधान मन्त्री ने भाषण दिया—

"सम्राट् की सरकार का विचार है कि उत्तरदायित्व शासन का भार व्यवस्थापिका सभा, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय पर एक ऐसे निश्चित काल तक संरक्षणों के साथ दिया जाय, जिसमें विशेष अवसर पर सरकार अपना हाथ मदद के लिए रख सके। ऐसे संरक्षणों को स्वीकार करते समय सम्राट् की सरकार भारत के भावों का पूरा ख्याल करेगी, जिससे उसे स्वराज्य की ओर अग्रसर होने में कोई वाधा न खड़ी हो। सरकार फ़िडरल-भारत में पूर्ण विश्वास करती है। प्रान्तों को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता दी जाएगी। सीमा-प्रान्त शीघ्र ही एक गवर्नर के अधिकार में कर दिया जायगा। मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि आप कोई ऐसी रीति निकालें, जिससे यह साम्प्रदायिक सम्मेलन तय हो जाय, नहीं तो सरकार को लाचार होकर कोई आपत्ति-कालिक विधान बनाना पड़ेगा। एक कार्यकारिणी समिति बनाई जायेगी, जो कॉनफ़रेन्स-सम्बन्धी कामों को भारत में करेगी। उसका यह कर्तव्य होगा कि वह हम लोगों से

सम्बन्ध बनाए रहे। अन्त में सरकार उसकी तमाम कार्रवाईयों को देखकर विचार करेगी। जो विधान बनेगा, सभी जातियों और उपजातियों के अनुकूल बनेगा। उसमें वर्ण-विभेद का विचार न किया जायगा।" प्रधान मन्त्री की घोषणा के पश्चात् महात्माजी ने धन्यवाद का प्रस्ताव उपस्थित किया और प्रधान मन्त्री को उनके परिश्रम और उत्साह के लिए धन्यवाद दिया। इस प्रकार द्वितीय गोलमेज़ सभा का अधिवेशन समाप्त हुआ।

इसके बाद महात्माजी वहाँ से विदा होगए। अमेरिका-आदि कई देशों से कई निमन्त्रण आए, किन्तु वे गए कहीं नहीं। लौटते हुए उन्होंने इटली के विधाता मुसोलिनी से भेंट की, रोम्याँ रोलाँ से मिले और जहाज़ में बैठ, भारत को प्रस्थान कर दिया। २८ दिसम्बर १९३१ को बम्बई में आप उतरे।

❀ ⁂ ❀

गाँधी और चैतन्य

भगवान् बुद्धदेव के पश्चात् इन ढाई हज़ार वर्षों में महात्मा चैतन्यदेव के सिवाय भारत-खण्ड में ऐसा कोई भी महा-पुरुष नहीं हुआ, जो समस्त भारतवर्ष की जनता के हृदय पर अधिकार प्राप्त कर सका। महात्मा चैतन्य देव वास्तव में अपना सानी नहीं रखते, किन्तु महात्मा गाँधी चैतन्य महापुरुष से भी किसी अंश में आगे बढ़े जा रहे हैं। जिस समय महात्मा चैतन्य देव ने दक्षिण-भारत और वृन्दावन की यात्रा की थी, उस समय अपार जन समूह उनके दर्शनों को उमड़ पड़ा था इसी प्रकार जिन लोगों ने महात्माजी की बङ्गाल और पञ्जाब यात्रा का दृश्य देखा है, वे कह सकते हैं कि भारत के कोने-कोने से जन-समूह टिड्डी के दल की तरह टूट पड़ा था। दर्शन करने पर भी लोग अघाते नहीं थे। इस दृश्य को देखकर बरबस हमें महात्मा

चैतन्य देव की कल्पना हो जाती है। जितना मान महात्मा गाँधी का संसार के लोगों ने किया, शायद इतना मान किसी अन्य पुरुष का कभी हुआ ही नहीं। विशेषतया भारतवर्ष ने तो उन्हें अपना हृदय-सम्राट् ही स्वीकार कर लिया है।

गाँधीजी और चैतन्यदेव के स्वभाव, विचार एवं कार्य-पद्धति में बहुत-कुछ साम्य प्रतीत होता है। महात्माओं के कई गुण तो साधारण होते ही हैं, उनसे क्या साम्य किया जाए, किन्तु हृदय की महानता की समानता के लिए यदि हम संसार को खोजते हैं तो गाँधी के सदृश महान् हृदय-सम्पन्न पुरुष केवल चैतन्यदेव ही नज़र आते हैं; अन्य नहीं।

राजनीतिक युद्ध महात्माजी के जीवन का प्रधान लक्ष्य नहीं। वर्तमान भारतीय परिस्थिति ने ही उन्हें अँग्रेज़ों के विरुद्ध किया है। उनकी आध्यात्मिकता, उनके चरखे की मधुर गुञ्जार के आगे सरकार भी सिर टेक चुकी है। उनकी केवल एक ही साध है; वह है, आध्यात्मिक स्वराज्य। उसी स्वराज्य प्राप्त्यर्थ वे चरखे के भक्त होगए हैं। वे सत्य के अवतार हैं। सत्य ही उनका राम है, जीवन है। महात्मा तो शुद्ध वैष्णव धर्मावलम्बी हैं, इसीलिए अहिंसा के प्रधान महापुरुष हैं। गाँधीजी के चरखे में भारतीय आर्थिक स्वतन्त्रता, उद्योगपन एवं अव्यसनता, ऊँच-नीच के भद्दे भावों के नाश के उपरान्त स्नेह-संचार, स्नेह, सत्य, दया, अहिंसा, संतोष सादगी की महान् लहरें लहरा रही हैं, किन्तु सब से प्रधान बात यह है कि इसी चरखे ने भार-

तीय परतन्त्रता की बेड़ी को काटने में सब से ज्यादा भाग लिया है। इस चरखे-द्वारा हमें निरंकुश शासन के नाश का उत्पत्ति-स्थान मालूम होगया है। जिस प्रकार पैग़म्बर यथा-अवसर अपनी अलौकिक दृष्टि द्वारा संसार के कल्याण में अग्रसर होते हैं, इसी प्रकार महात्माजी को भी यह चरखे की बात बिल्कुल अवतार की तरह ही मालूम हुई है। इस चरखे में करोड़ों भारतीयों की आत्म-शान्ति छिपी है। जो राम की अलौकिकता और ईश्वरवाद की पुष्टि के मार्गों की हम अवहेलना करने को अग्रसर हो रहे थे और आस्तिकवाद को त्याग, नास्तिकवाद की रटन लगाये थे, उसी का महात्माजी ने नाश किया है, और हमारे असली स्वरूप को हमें समझा दिया है। हम विस्मृत राम को फिर अवतारी महापुरुष मानने लगे हैं। उनका तो कहना है कि इसी चरखे में राम-दरिद्रनारायण—के दर्शन मिलते हैं। इसी चरखे में सत्ययुग-रामराज्य है। लोग आश्चर्य करते रहे, किन्तु अब तो उसकी बात का लोग पालन करने लगे हैं। हम नहीं कह सकते कि रामचन्द्रजी के समय में संसार ने रामजी की इतनी आज्ञा मानी थी या नहीं। लोग इनके चरखे की प्रारम्भ में अवहेलना करते रहे, किन्तु गाँधीजी पैग़म्बरों की तरह अपने प्रण पर दृढ़-चित्त रहे और लोगों के कानों में वही रहटे का अनहद नाद भरते रहे। अन्त में महात्माजी विजयी होगए। यदि कोई उनसे पूछ बैठता है कि गाँधीजी, अमेरिका को आप क्या संदेश देते हैं? तो वे निःसंकोच कह देते हैं—"चरखा

चलाओ, यन्त्रवाद का नाश करो" यदि कोई पूछता है—"हिन्दू-मुसलमान—कलह के नाश होने का क्या उपाय है?' महात्माजी झट ही कह देते हैं—'केवल चरखा।'

इसी अवतारी दृष्टि के साथ महात्मा चैतन्यदेव हरिनाम का कीर्तन करते हुए जनता के ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याण के साधन में हमेशा दत्तचित रहते थे। वे बड़ी ही श्रद्धा से अपने "हरिनामैव केवलम्" का घोष करते थे। यही उनका एक-मात्र सन्देश था। उन्होंने अपने उपरोक्त मन्त्र कीर्तन द्वारा ऊँच-नीच का भेद स्त्री, शूद्र अछूतों में भेद-भाव की जड़ काट दी और उनके उपदेशों का जनता पर इतना असर पड़ा कि समस्त जनता में विश्व-प्रेम की लहरें-लहराने लगीं। मुसलमान और हिन्दू, शूद्र और ब्राह्मण—सभी में भ्रातृ-भाव का संचार करके प्रेम-सूत्र का इस प्रकार बन्धन बाँध दिया मानो पृथ्वी पर स्वर्ग ही उतार दिया हो।

चरखा और हरिनाम दोनों में एक ही प्रकार की फिलॉसफी निहित है। दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के नुस्खे हैं, किन्तु परिणाम दोनों का एक ही हैं। गाँधीजी सूत कातने में अनेक प्रकार की शक्तियों और विभूतियों का उदय मानते हैं। हरि-नाम के सतत मनन में भी चैतन्य महाप्रभु 'उपरोक्त विभूतियों और शक्तियों का उत्थान बताते हैं। दोनों महात्माओं में अपने इष्टों के लिये एक-सी श्रद्धा है। एक कहता है—"काते जाओ, काते जाओ, काते जाओ!!! इसके सिवाय तरने का कोई अन्य मार्ग ही

नहीं है।" दूसरा कहता है—"हरिनाम का स्मरण करो, इसके सिवाय तरने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।" वर्षों बीत गए, वर्षों बीत रहे हैं किन्तु गाँधीजी कातने के उपदेश देने से थकते ही नहीं। इसी प्रकार समस्त जीवन-भर चैतन्य भी हरिनाम का उपदेश करते न थके। कोई चैतन्यदेव से पूछता कि संसार से तरने का कौन-सा उपाय है? चैतन्यदेव कहते—"हरिनाम का आश्रय ग्रहण करो।" चैतन्यदेव नौका में बैठकर उड़ीसा रवाना हुए। लोग भय से व्याकुल हो उठे। लोगों को भय-भीत देख, दयामय बोले—"बैठते-बैठते नाम का स्मरण करते रहो। भय तुम्हारे से भय खाकर पलायमान हो जायगा।" राजा सुबुद्धि राम को जब मुसलमानों ने बलात्कार करके भ्रष्ट कर दिया उस समय चैतन्य महापुरुष ने कहा—"हरिनाम को जपा करो, यही सारों का सार है।" ग्रीष्म की प्रचण्ड गरमी से संसार भुना जा रहा है। महाप्रभु कहते हैं—"नाम-स्मरण करो, अवश्य ठण्डक हो जायगी।" इस दशा को लोग लोकोत्तर दशा भी कहा करते हैं, किन्तु यह तो हमारी समझ में नाम के स्मरण के पश्चात् की मस्ती है। इसमें केवल एक ही प्रकार की शक्ति काम कर रही है। गाँधीजी और चैतन्यदेव के नुस्खे अलग-अलग हैं किन्तु उपरोक्त दोनों नुस्खों से होता क्या है? वही श्रद्धा, दृढ़ता और हृदयावेग होता है, जो दोनों में समान रूप से वर्तमान रहता है और इसी में सारी महानुभावता गुप्त रहती है। क्या दोनों के दिलों में कम दर्द है? एक ने बहुत छोटा-सा वृत्त ले लिया

है कि देश को खद्दरमय बना दे। दूसरे ने हरिनाम को संसार-भर के मुँह पर लाने के लिए संन्यास की ही दीक्षा ले डाली थी।

दूसरे के ज़रा-से दुःख को देखकर पिघल जाने या सहानु-भूति प्रकट करने की आदत दोनों महापुरुषों में है। सत्याग्रह-आश्रम के हिसाब में किसी दिन यदि एक पाई की भी कमी आ जाय तो ईश्वर निभा लेता है। ऐसा गाँधीजी का परम विश्वास है। यही विश्वास चैतन्यदेव में भी वर्तमान है। जिस प्रकार रामजी में गाँधीजी श्रद्धा रखते हैं, उसी प्रकार चैतन्यदेव भी अचल श्रद्धा रखते हैं। वे कहते हैं—विश्वम्भर भक्त की प्रत्येक आवश्यकता को पूरी करे विना रहता ही नहीं। महात्माजी भी राह-खर्च के लिये कभी एक पैसा भी पास नहीं रखते, न साथियों को लेने देते हैं। अन्त्यजों और दरिद्रों के लिए दोनों महापुरुष दया और प्रेम की अद्वितीय मूर्तियाँ हैं। नम्रता, दया, क्षमा, सहिष्णुता एवं मानुषिक दोषों को जानने की तीव्र बुद्धि दोनों में एक-सी है, महात्मा बुद्ध यीशू एवं चैतन्यदेव की तरह ही महात्मा गाँधी ने समस्त वर्तमान संसार के मनुष्यों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया है। गाँधीजी का हृदय भारतीय पराधीनता को देखकर टुकड़े-टुकड़े हो रहा है। मनुष्यों की पाशविक वृत्तियों को देख, इसी प्रकार महात्मा चैतन्यदेव को बड़ा दुःख हुआ करता था। और वे रात-दिन इसी पीड़ा से तड़पते रहते थे। महात्मा गाँधी अपने जीवन की भूलों और पापों के लिए कठिन-से-कठिन व्रत कर डालते हैं। दारुड़िया के

मकान पर जाकर महात्मा चैतन्यदेव ने अपने पापों की भिक्षा माँगी थी, उसके घर जाकर चैतन्यदेव ने उसके पापों का प्रायश्चित्त स्वतः किया, अपनी निन्दा बार-बार किए जाने पर भी महात्मा चैतन्यदेव ने उसके सिर पर प्रेमपूर्ण हाथ फेरा और उसे अभय-दान प्रदान किया।

नम्रता और दृढ़ता दोनों परस्पर-विरोधी गुणों का महात्मा गाँधी और चैतन्यदेव में सुन्दर सम्मिलन है। दोनों की दीनता और नम्रता बेजोड़ है। जब कभी उपरोक्त दोनों महात्माओं के मर्म-स्थल पर कोई चोट पहुंचाने की कोशिश करता है तो ये दोनों महात्मा सिंह-जैसा शौर्य दिखाना प्रारम्भ कर देते हैं। उस समय की उनकी क्रान्ति, शूरता-मिश्रित सात्विकता एवं प्रतिभा वास्तव में दर्शनीय होती हैं। चम्पारन के मजिस्ट्रेट के हुक्म का गाँधीजी ने जो उत्तर दिया था, वैसा ही उत्तर चैतन्यदेव ने नवद्वीप के क़ाज़ी को दिया था और अपने साथियों मे कह दिया कि नवद्वीप के बीच बाज़ार से होकर हरि-कीर्तन करते हुए बाजे बजाते चलो और रोज़ का कीर्तन अब अपने घर में नहीं, किन्तु क़ाज़ी की हवेली में ही चलकर करो। बिना युद्ध के निःशस्त्र हिन्दू सत्य शस्त्र-द्वारा पशु-बल के अभिमान से प्रभावान्वित राजसत्ता को किस प्रकार नमा देते हैं और पूर्ण अहिंसक बनकर अपनी इज़्ज़त और स्वाधीनता किस प्रकार सुरक्षित रख लेते हैं, इसका उदाहरण महात्मा गाँधी के ग्यारह सौ वर्ष पूर्व चैतन्यदेव ने ही भली प्रकार दिखा दिया था। चैतन्य महाप्रभु

के अमृत वाक्यों का जनता पर इतना ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा कि जनता हज़ारों की संख्या में रास्तों पर कीर्तन करने लगी और कीर्तन करती-करती क़ाज़ी की हवेली तक पहुँच गई। वह निडरता कीर्तन करती रही। अन्त में क़ाज़ी को ही झुकना पड़ा और उसने अपना हुक्म वापिस ले लिया।

बुद्ध, चैतन्य और गाँधी ये त्रिवेणी सदृश हैं—पवित्र हैं। ये तीनों व्यक्ति भरत-खण्ड के अमूल्य रत्न हैं। जो इन तीनों महात्माओं के पथ का अनुसरण करता है, वह अपना और औरों का कल्याण-साधन कर सकता है।

* * *

महात्मा गाँधी की आध्यात्मिकता

महात्माजी आत्मिक स्वतन्त्रता की ओर ले जानेवाले कर्म-क्षेत्र के महान् वीर योद्धा हैं। उनका आध्यात्मिक आदर्शवाद संसार के अपार झंझटों के आ पड़ने पर भी उनसे अलग हो नहीं सकता। यह केवल उनकी असाधारण आत्म-शक्ति का ही परिणाम है कि वे अपने-आपको इन झंझटों के दूषित परिणामों से सदा अलग रखते हैं। यह महात्माजी का ही कार्य है कि वे अपने निश्चित मार्ग पर इतनी असाधारण दृढ़ता, अलौकिक समता और आन्तरिक आत्म-जागृति की अद्वितीय शक्ति के साथ सदा बढ़ते जाते हैं; चाहे उन्हें दुनियाँ का कोई साथी मिले या न मिले। इसी बल पर वे राजनीतिक कार्य में भी धार्मिकता का समावेश बड़ी ही सफ़ाई से कर देते हैं। उनकी राजनीति कूटनीति नहीं, उसमें किसी व्यक्ति, जाति या राष्ट्रों के

स्वार्थों की सिद्धि के लिये राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने अथवा उनकी स्वार्थपूर्ण सत्ता, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति को बढ़ाने में सहायता देने की दृष्टि का पूरा-पूरा अभाव होता है। राजनीतिक प्रलय हमेशा वे इसीलिए या इसी उद्देश्य को लेकर करते हैं कि देश की जनता में राष्ट्रीय भाव, निःस्वार्थ सेवा के भाव, कर्तव्य के पवित्र भाव जाग्रत एवं उन्नत हों और जाति एवं सम्प्रदाय के भेद-भाव दूर हो जायें। महात्माजी के स्वराज्य का ध्येय यह कभी नहीं है कि वे अँग्रेज़ों से भारत के शासन की बागडोर ले लें, वे इतने से ही सन्तुष्ट नहीं है। वे जानते हैं कि जब एक जाति अपने पुरुषार्थ के बल पर पराई सत्ता को हस्तगत कर लेती है तो वह अपने-आप को सर्वश्रेष्ठ और अत्याचारी भी साबित कर देती हैं। उसका अत्याचार असह्य हो उठता है। ऐसे समय में महात्माजी-जैसे ही महान् व्यक्ति ऐसी सत्ता का पूर्ण विरोध करेंगे। महात्माजी अपने लिये कुछ नहीं चाहते; उन्हें न अधिकार चाहिए न धन। हाँ, यह अवश्य है कि उनका हृदय दरिद्रों का दुःख देखकर बहुत ही पीड़ित हो उठता है और वे दरिद्रों में ही दरिद्रनारायण के दर्शन करने लगते हैं। इसीलिए वे अपने प्रत्येक कार्य में सत्य, आध्यात्मिकता एवं सात्विकता को पकड़े रहते हैं, इसीलिए राजनीति भी उनकी धार्मिक नीति में समाविष्ट होगई है। महात्माजी हमेशा अपने प्रत्येक कार्य को धार्मिकता की कसौटी पर चढ़ाकर ही उसका प्रयोग करते हैं और इसके वे आदी हो

चुके हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने कार्य को अध्यात्म-शक्ति के बल पर उच्चतम जीवन का एक परिवर्तनकारी एवं उत्तरोत्तर वृद्धि का साधन बना लिया है।

आध्यात्मिक जीवन बितानेवालों में यह देखा गया है कि वे ज़्यादातर एकान्तसेवी ही होते हैं, किन्तु महात्माजी इस मार्ग के पथिक नहीं। उनका यह कहना है कि एकान्तवास से हम कुछ दिनों तक दुनियाँ के प्रलोभनों से शायद बच जाएँ, किन्तु हमेशा बच नहीं सकते। इसीलिए हमारा यही कर्तव्य है कि हम रात-दिन इन प्रलोभनों और प्रभावों से लड़ते रहें और धीरे-धीरे इन्हें जीतने लायक़ शक्ति का संग्रह कर डालें। हमारी शक्ति यहाँ तक बढ़ जानी चाहिए कि यदि भयङ्कर-से-भयङ्कर तूफ़ान भी आजाय तो भी हम अपने मन को विचलित न होने दें। महात्माजी के सामने हमेशा धार्मिक जीवन का निश्चित स्वरूप खड़ा रहता है, जिसमें स्वतः कर्म अपना कार्य-सम्पादन करता रहता है। यही साधक में धीरे-धीरे बल प्रदान कर देता है और उसे आगे बढ़ाते-बढ़ाते अन्त में आत्मा को देह-बन्धन से मुक्त कर, असीम शान्ति दिला देता है। महात्माजी हमेशा कहा करते हैं कि हमें अपने कार्य पञ्जाब मेल की तरह झपाटे से करने चाहिएँ। कार्य को शीघ्रता से सम्पादन करने में मनुष्य का चित्त और दिमाग़ स्थिरता का परित्याग कर देता है। ऐसे समय हमें अपने अधैर्य एवं अशान्ति का अवश्य ही परित्याग कर देना चाहिये। साथ ही हममें अपने आपको प्रत्येक कार्य के लगाव से

अलग हट जाने की शक्ति का होना भी परमावश्यक है। कहने का तात्पर्य यह कि हमें अपनी आत्मा पर आधिपत्य होना चाहिये। महात्माजी का कहना है कि जिस कार्य करने में मनुष्य अपनी शान्ति खो बैठे, वह काम सच्चा और सात्विक कभी नहीं; क्योंकि चित्त की चञ्चलता में मनुष्य की आध्यात्मिकता नष्ट हो जाती है और वही साधक के लिए बन्धन का मार्ग है।

महात्माजी अद्वितीय महापुरुष हैं। यह उनके महान् चरित्र की असाधारण विशेषताओं से स्पष्ट ही है। तो भी वे अपनी आत्मा को संसार के बन्धनों से और उसकी असीम स्थिति से मुक्त करने में सफल नहीं हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह कि वे अभी 'मुक्त' नहीं होने पाये हैं। यह वे भी स्वीकार करते हैं। साथ ही यही बात उन्होंने अपने लेखों में भी दुहराई है। श्रीमान् कृष्णदासजी से एक दिन महात्माजी ने कहा—"जब मैं किसी दिन बैठकर, मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा से सम्पूर्ण समाधि लगाऊँगा, तब जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त न होगी, आसन नहीं छोड़ूँगा।" महात्माजी की आत्मिक एकाग्रता उनके आत्म-संयम और मन तथा शरीर पर असाधारण स्वामित्व देखते हुए यह मानने में कभी भी हिचकिचाहट नहीं होती कि उनकी आध्यात्मिक योग्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी है।

महात्माजी का त्याग ऐसे त्यागियों से बहुत ही ज़्यादा ऊँचा है। महात्माजी कई ऐसी वस्तुओं से परे है, जो माया

श्रौर मोह में पटकनेवाली है। देश श्रौर विदेश के करोड़ों विद्वानों पर महात्माजी के व्यक्तित्व की जो गहरी छाप पड़ चुकी है श्रौर दुनियाँ में उनकी शक्ति, प्रतिष्ठा, नाम श्रौर यश की जो महिमा गाई जाती है, देश श्रौर विदेश की सात्विक सम्पत्ति पर उनका जो प्रभुत्व स्थापित हो चुका है, उसके होते हुए भी महात्माजी में तथा उनके व्यवहार में झूठे श्रभिमान की बू तक नहीं। श्रात्मा को शुद्ध श्रौर निर्लेप बनाने में कितना महान् प्रयत्न करना पड़ता है, कितने कष्टों का सामना करना पड़ता है, वासनाश्रों के साथ भयङ्कर युद्ध करना पड़ता है। इसका श्रनुभव केवल वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने स्वयं इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया है। संसारी प्रलोभनों का त्यागना श्रासानी नहीं। महात्माजी का सारा जीवन सतत एवं विजयी श्रात्म-संयम का एक जीता-जागता नमूना है। लोग कहा करते हैं कि हम श्रपनी कुटेवों को जब चाहें, छोड़ सकते हैं, पर उनका यह कहना नितान्त ग़लत है। जब छोड़ने का वक्त श्राता है, तब मालूम होता है। शरीर श्रौर मन को वशवर्ती करके उससे श्रपनी इच्छानुसार काम लेने में महात्माजी को कितना प्रयास पड़ा होगा, यह निस्सन्देह कल्पना से बाहर का विषय है। लोगों ने उन्हें कई बार ६-७ दिन के लम्बे उपवास करते देखा है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि उपवास से शरीर में कमज़ोरी श्रा जाती है, किन्तु महात्माजी का शरीर कमज़ोर होते हुए भी उन उपवास के दिनों में मानसिक कमज़ोरी रत्ती-भर भी नहीं

थी। वे हमेशा की तरह प्रसन्न-चित्त, शान्त और सतेज मालूम होते थे। लोग तो उपवास में ही मिठाई इतना खाते हैं कि बदहज़मी तक कर बैठते हैं, किन्तु महात्माजी ने उपवास को अपना नित्य नियम-सा बना लिया है और वे इसमें हमेशा की अपेक्षा अधिक प्रसन्न नज़र आते हैं। हमेशा की अपेक्षा वे अध्यात्म पर उपवास के दिनों में ख़ूब अनुभूत बातें बताते हैं।

उनके पहनावे और रहने के ढँग से कभी-कभी लोग उन्हें ग्वाला या गँवार समझकर उनका अपमान करने लगते थे, डाँट-फटकार बताने लगते थे, यहाँ तक कि कभी-कभी तो उन्हें धक्का देकर उठा भी देते थे, परन्तु गाँधीजी के मन में कभी बल भी नहीं पड़ा। कई बार महात्माजी अपना तथा दूसरों का सामान तक रेल पर उठाकर ले गये हैं। आज उनका शरीर शिथिल है, तो भी वे चाहे कितनी दूर जाना हो, कभी भी ताँगे-आदि में नहीं जाते; पैदल ही समस्त सामान उठाकर ले जाते हैं। इस कार्य में यदि उनकी कोई मदद करने लगता है तो उन्हें बुरा मालूम होता है।

महात्माजी को कई वर्षों से एक सेकण्ड भी अपने आराम के लिये नहीं मिलता। वे ही जानें वे कैसे इतना महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य बिना आराम के करते रहते हैं। इतना होते हुए भी वे कभी थकते नहीं; न उनकी स्थिरता एवं शान्ति में फ़र्क़ ही आता। यदि लोग महात्माजी से पूछते हैं कि महात्माजी, आपको पहिले की मुसाफ़िरत में आराम था या, अब

है, तो वे स्पष्ट ही कह देते हैं कि आज मुझे सब प्रकार के साधन उपलब्ध होते हुए भी महान् सङ्कट है। इससे कोई यह न समझ ले कि महात्माजी यह कोरा आडम्बर ही रचते हैं या असत्य नम्रता का प्रदर्शन करते हैं। महात्माजी, हमें विश्वास है, स्वप्न में भी झूँठ नहीं बोलते। तो लोग यह प्रश्न करने पर उतारू हो सकते हैं कि जिन वस्तुओं से संसार को आराम मिलता है, उनसे महात्माजी को कष्ट क्यों होता है। इसके लिये हमारा उत्तर यही है कि यह पहेली अत्यन्त गूढ़ है। इस पहेली को सुलझाने लिये प्रश्न-कर्त्ताओं को महात्माजी के जीवन को खूब बारीकी से मनन कर लेना चाहिए और साथ ही यह भी सोच लेना आवश्यक है कि इस ससार से वे कितने परे हैं, कितने ऊँचे उठे हुए हैं। उनका जीवन सांसारिक जीवन से भिन्न है।

महात्माजी को किसी भी विषय में आसक्ति नहीं। वे आश्रम में भी उसी प्रकार रहते थे, जैसे सराय का मुसाफ़िर।

प्रचार-कार्य्य के लिये महात्मा देश के कोने-कोने में भटके हैं, किन्तु उन्होंने स्वराज्य-तिलक-कोष से एक पाई भी कभी नहीं ली, न लेने की इच्छा ही की, वे अपने आराम से सदा उदासीन रहे हैं। महात्माजी के किसी नगर में जाने पर असंख्य जन-संख्या उनके दर्शनों को आती और उन्हें घेर लेती है, लाखों की थैलियाँ उन्हें अर्पण कर दी जाती हैं, परन्तु उन्होंने आज तक अपने कार्य में उनमें से एक पाई तक नहीं ली।

बल्कि एक पाई या पैसे की हिसाब में गड़बड़ होने पर उन्होंने पूज्या माता कस्तूरबाई को बहुत ही फटकार बताई थी। इतने पर ही सन्तोष न हुआ तो भारतीय एवं विदेशीय प्रत्येक पत्र में कस्तूरबाई की ग़लती दिखाई और उनसे और स्वतः प्रायश्चित्त करवाया और किया। अब तो महात्माजी वह भेंट भी लेना छोड़ चुके हैं।

महात्माजी सन्यासी हैं भी और नहीं भी हैं। उनका अभी तक का सारा जीवन बाल-बच्चों के साथ गृहस्थी ही में बीता है। फिर भी उनके व्यक्तित्व की छाप समस्त संसार पर एक-सी है। वे गृहस्थी की इतनी परवाह नहीं करते, न व्यवहार में भेद-भाव ही रखते हैं। वे संसार के लिये अपने हैं और उनसे कोई भी एक बार मिलकर उन्हें अपना समझने लगता है। महात्माजी इसी समवृति और समव्यवहार के कारण ही समस्त जग के "बापू" (पिता) बन गये। यहाँ तक कि जो लोग उनसे समानता का भाव लेकर मिलने आते हैं, वे भी उन्हें थोड़ी ही देर में "बापू" कहने लग जाते हैं।

महात्माजी अपने विषय में की गई व्यर्थ की प्रशंसा से बड़े दुखित हो जाते हैं। मद्रास के एक सज्जन ने एक पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम था "गाँधी की देव-वाणी"। अपने नाम के साथ इस शब्द को देख, वे बड़े दुखी होगए और कहने लगे कि 'यह शब्द मेरे नाम के साथ जोड़कर लोग धर्म का प्रत्यक्ष अपमान कर रहे हैं।' इसी प्रकार गाँधीजी की

प्रशंसा से भरा हुआ 'यङ्ग-इण्डिया' और 'नवजीवन' में छपने को आया। महात्माजी उस समय थे प्रवास में, इसलिये लेख छप गया, किन्तु उस लेख को पढ़ते ही वे एकदम दुख के सागर में हाथ-पाँव मारने लगे।

महात्माजी के कई प्रशंसक हैं तो कई ऐसे भी हैं, जो कठोर से कठोर आलोचना करने में भी नहीं चूकते। महात्माजी के पास ऐसे कई पत्र आते रहते हैं, जिन में तिक्त आलोचनायें रहती हैं। वे प्रशंसात्मक लेखों को पढ़कर एक पल के लिये भी प्रसन्न नहीं होते, वरन् दुखी हो जाते हैं। आलोचनात्मक लेखों को पढ़कर महात्माजी उनके एक-एक शब्द पर गम्भीर विचार किया करते हैं और देखा करते हैं कि वास्तव में उन्होंने कथित दोषों में कितनी ग़लती से काम लिया गया है।

जो लोग महात्माजी की निन्दा किया करते हैं, उनसे सम्मुख आने पर महात्माजी बड़े ही प्रेम-भाव से बोलते हैं। उनके दिल में यह कभी आता ही नहीं कि इसने मेरी निन्दा की है। निन्दा को वे सत्य की कसौटी समझते हैं। जो महात्माजी के उपदेश से अपने-को ऊपर उठाने की कोशिश किया करते हैं, उनसे महात्माजी सदा ही प्रसन्न रहते हैं और दिल से आशीर्वाद देते रहते हैं। महात्माजी विरोधियों से भी अधिक स्नेह रखते हैं। महात्माजी पतितों और पीड़ितों पर विशेष सहानुभूति रखते हैं। ग़रीब एवं दरिद्र उन्हें नारायण ही समझते हैं। विशेषकर जो किसी का कोप-भाजन बन गया हो, उस पर तो महात्माजी

बहुत ही कृपा रखते हैं। एक समय, कहते हैं, महात्माजी के आश्रम में एक व्यक्ति के विषय में विशेष आलोचना चल रही थी, यहाँ तक कि महात्माजी तक को उसका आचरण पसन्द नहीं था, किन्तु जब महात्माजी को मालूम हुआ कि समस्त आश्रमवासियों ने इसका परित्याग कर दिया है, उसी दिन से महात्माजी ने सब कार्य छोड़े और उसके पास जाकर बैठना प्रारम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि आश्रमवासियों का वह पुरुष शीघ्र ही प्रीति-भाजन बन गया।

महात्माजी हमेशा इस बात का दावा करते हैं कि यदि हम सत्य पर आरूढ़ हैं तो चाहे कोई कैसा भी पुरुष हमारे सम्मुख आवे, वह स्वतः सत्यवान् हो जायगा। यदि वह मनुष्य सद्-व्यवहारी है तो उसके निकट-सम्पर्क में रहनेवाले भी अवश्य ही सद्-व्यवहारी हो ही जाते हैं। यह सच भी है कि जिसका जीवन निर्मल दर्पण की तरह है, उसे संसार में किससे भय, और उसे जनता से छिपाने योग्य शायद ही कोई बात मिले।

महात्माजी की सत्य में पक्की धारणा है, दृढ़ विश्वास है। दुनियाँ की प्रत्येक वस्तु को वे सत्य के लिए छोड़ सकते हैं। वैष्णव-कुल में जन्म लेने के कारण वैष्णवों के संस्कार उनकी नस-नस में व्याप्त हैं। उनके ऊपर अहिंसा का पूर्ण प्रभाव एवं धर्म की गहरी छाप पड़ने का एक-मात्र कारण यही है कि वे गुजरात के रहनेवाले हैं। गुजरात में जैन-धर्म के सिद्धान्तों का जनता पर गहरा प्रभाव है। यहाँ क्या, दक्षिण-

अफ़्रीका और विलायत में भी गाँधीजी धार्मिक वातावरण में ही अपना जीवन बिताते थे। वे श्रद्धालु पादरियों से बायबिल के उपदेशों को भी सीखा करते थे। महात्माजी कई भक्त-हृदय मुसल्मानों के संसर्ग में भी रह चुके हैं। जो लोग महात्माजी के साथ-साथ रहे हैं, वे जानते हैं कि महात्माजी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के गम्भीर सत्य को बड़ी ही विलक्षणता से समझ लेते हैं। यही कारण है कि साम्प्रदायिक भावों तथा विचारों के दलदल में गिरने से सदा बचे हैं। गीता—परमाराध्या गीता—ही उनके जीवन का सर्वस्व है। वे चौबीसों घण्टों गीता को साथ ही रखते हैं। गीता उनका कण्ठमाल है। महात्माजी बैरिस्टर थे, किन्तु कट्टर हिन्दू हैं, यह महान् आश्चर्य है!

गीता की प्रति के साथ-साथ महात्माजी के खद्दर के झोले में रुद्राक्ष की एक माला भी रहती है। लोगों का कथन है कि महात्माजी उसे रात्रि में फेरा करते हैं; दिन में तो फेरते किसी ने देखा भी नहीं। महात्माजी माला से ज्यादा चर्खे की क़ीमत करते हैं और चर्खे को ही हितकर बताते हैं। उनका कहना है कि यदि चर्खा जनता-द्वारा अपना लिया जाय तो निस्सन्देह मनुष्य का ईश्वर के प्रति प्रेम बढ़ता ही चला जाय। महात्माजी जिस समय चर्खे पर बैठ जाते हैं, उस समय वे शायद ईश्वर का 'अजपाजाप' करते हैं। महात्माजी को पूर्ण रूप से पहचाने बिना महात्माजी की आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता समझ लेना बिरले का ही काम है। महात्माजी गीता की तरह परम पूजनीय

भक्त तुलसीदास की अमर गाथा रामायण को बहुत ही प्यार करते हैं। यहाँ तक कि अपनी प्रत्येक शङ्का का समाधान भी उसी में देखते हैं। कभी-कभी काम से थककर उनका राम-राम कहना वास्तव में अलौकिक आन्तरिक भक्ति का एक-मात्र उद्गार है।

गाँधीजी और नारी-जाति

गाँधीजी के जीवन और उनके विचारों का जितना प्रभाव देश की महिलाओं पर हुआ है, उतना प्रभाव किसी महापुरुष का नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यही है कि देश के या विदेश के अन्य नेताओं और गाँधीजी में आकाश-पाताल का अन्तर है। गाँधीजी की पवित्रता ने स्त्रियों के दिलों पर गहरी छाप लगा दी है। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि इस देश की स्त्रियाँ स्वभाव से ही स्वार्थ-त्यागिनी होती हैं। गाँधीजी भी स्वार्थत्यागी हैं, इसीलिए स्त्रियाँ उनके स्वार्थ-त्याग को पूज्य भाव से देखती हैं। स्त्री-स्वभाव की एक यह विशेषता है कि वह संसार से विरक्त होती नहीं, फिर भी विरक्त पुरुषों को हमेशा से पूजती रही हैं। जब सामान्य-से-सामान्य साधु-संतों का हिन्दू-स्त्रियाँ खूब आदर-सत्कार करती हैं तो गाँधीजी-जैसे संसार में रहते हुए भी माया-मोहादि से परे तपस्वी की श्रद्धा करने में आतुर हों, इसमें आश्चर्य की बात ही कौन-सी है!

साधारण श्रेणी के मनुष्यों को अपने कुटुम्ब की स्त्रियों के सिवा दूसरी स्त्रियों के लिए मान की इच्छा होती ही नहीं।

पठित पुरुषों में बहुत-से स्त्रियों को नाम मात्र को ही सम्मान की अधिकारिणी समझते हैं। वे दिल से, स्त्रियों को अपने से हल्का प्राणी समझते हैं। इतना ही नहीं, बहुत-से स्त्रियों को बहुत ही घृणित एवं तुच्छ समझते हैं। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ता है कि पुरुषों में एक छोटा-सा ऐसा भी वर्ग है, जो दिल से स्त्री को सम्मान की अधिकारिणी समझता है। ऐसे ही वर्ग के सर्वश्रेष्ठ नेता गाँधीजी भी इसी कोटि के महा-पुरुष हैं। जितना स्त्री-सम्मान गाँधीजी के दिल में है, उतना दूसरों के दिलों में नहीं, इसीलिए स्त्रियों ने जितना मान गाँधीजी को दिया है, उतना दूसरों ने नहीं। गाँधीजी स्त्रियों को केवल मन से ही मान देने की चिन्ता में नहीं रहते, वरन् मान के साथ-ही-साथ प्रेम की चिन्ता भी उन्हें हमेशा रहती है।

कई वर्ष की बात है कि एक समय गाँधीजी युवक-सप्ताह के लिए अहमदाबाद पधारे थे। वहाँ युवतियों ने एक नाटक किया था। नाटक के बाद गाँधीजी ने कहा कि 'मैं नाटक-आदि तमाशे देखने कभी भी नहीं जाता। आज मैं इन महिलाओं के निमन्त्रण को किसी भी प्रकार टाल ही नहीं सका; क्योंकि मुझे स्त्रियों के लिए एक प्रकार का पक्षपात है।' 'नवजीवन' के पाठक भली प्रकार जानते ही हैं कि गाँधीजी के प्रवास के समय उन्होंने स्त्रियों पर कितना स्नेह प्रदर्शित किया है। गाँधीजी की कोई भी ऐसी राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यवाही नहीं है, जिसमें उन्हें स्त्रियों को पुरुषों के अधिकारों से भिन्न समझा हो।

वे हृदय से स्वीकार करते हैं कि स्त्रियों के बिना राजनैतिक एवं सामाजिक किसी भी प्रकार की उन्नति होना बहुत मुश्किल है। स्त्रियों ने ही गाँधीजी का सन्देश यथायोग्य स्वीकार नहीं किया है। इसमें स्त्रियों का दोष नहीं है। हमेशा से परतन्त्रता में रहनेवाली स्त्रियाँ भला स्वराज्य की क़ीमत क्या जानें? साथ ही अज्ञानता और रूढ़ि-बन्धनों में बँधी हुई स्त्रियों को देश की आर्थिक उन्नति में तथा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य में क्या दिलचस्पी है? यदि स्त्रियाँ पुरुषों के वर्तमान आन्दोलन से सहानुभूति प्रदर्शित न कर सकें तो उनका इसमें क्या दोष है? दोष तो उनकी अविद्या और अज्ञानता का है। अन्त्यजों और स्वदेशी के उद्धार की शुरुआत जितने उत्साह से गाँधीजी ने की है, यदि उतने ही उत्साह से गाँधीजी समाज में स्त्री का स्थान उच्च बनाने की अथवा भारत के दुष्ट रिवाजों के बन्धन से स्त्रियों को मुक्त करने की कार्यवाही शुरू करते तो अवश्य ही स्त्रियाँ गाँधीजी की और ज़्यादा सहायता करतीं। हर-एक नेता से समाज-सुधार की आशा रखना भूल है। किन्तु गाँधीजी-जैसे समाज-सेवक तथा अन्याय से दुखी हो जानेवाले महापुरुष से यदि महिलायें अपने सुधार एवं साहाय्य की आशा रखें तो कौन-सी बुरी बात है? विधवाओं की स्थिति सुधारने तथा विधवा-विवाह के विषय में गाँधीजी ने अपना मत 'नवजीवन'-द्वारा कई बार प्रकाशित किया है। भारत में सिर्फ़ विधवाओं की स्थिति ही दयनीय नहीं

है। सैकड़ा पीछे साठ स्त्रियाँ समाज के अनिष्ट रिवाजों तथा पुरुषों के ज़ुल्मों का शिकार बनी हुई हैं। संसार के समस्त दुःखों का निवारण करने की प्रार्थना गाँधीजी से ही करना भी अपनी अयोग्यता प्रदर्शित करना है। परन्तु जिनके दिल में स्त्रियों के दुःख की विचार-धारा बह रही है, और जिनके विचारों का असर असंख्य स्त्री-पुरुषों पर एक-सा होता है, यदि उनके पास पद-लित, पीड़त नारियाँ जाकर पुकार न करें, तो भला वे किसके पास जाकर अपनी दुःख-कहानी सुनायें! स्त्रियों का, उनको अपनी सहायता के लिए वाध्य करना हक़ है।

गाँधीजी के प्रत्येक कार्य में स्त्रियों ने निजी सम्मतियाँ दी हैं। असहयोग में भी स्त्रियों ने अच्छा भाग लिया है। हाँ, स्वदेशी-प्रचार एवं पहनाव में स्त्रियों ने जितनी उत्सुकता और तल्लीनता पहिले दिखलाई थी, उतनी अब नहीं है। शराबख़ानों पर पिकेटिंग करने में स्त्रियों ने गाँधीजी की विशेष मदद की है।

बारडोली-सत्याग्रह में स्त्रियों ने जिस उत्तम प्रकार की सेवा की है, वह सेवा उन्हें संसार की श्रेष्ठ विदुषियों एवं वीर रमणियों में बैठाने के लिए काफ़ी से ज़्यादा है। भारत की नारियों की सर्व-श्रेष्ठता का इससे सुन्दर उदाहरण और कहाँ प्राप्त होगा! इसके लिए तो वे सचमुच ही धन्यवाद की पात्र हैं। इस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा का यश वास्तव में गाँधीजी को ही देना चाहिए। यह वास्तव में उन्हीं की तालीम का परिणाम था। इन दस वर्षों में जो जागृति एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं

कार्य-तत्परता दिखाई दे रही है, वास्तव में यह गाँधीजी की शिक्षा का परिणाम है। गुजरात की स्त्रियों ने इन दस वर्षों के सत्याग्रह में अपना नाम अमर कर लिया है। इसका समस्त श्रेय गाँधीजी को है। इन दस वर्षों में देश-भर की स्त्रियों ने आश्चर्य्यजनक उन्नति की है; विशेषकर गुजरात और पञ्जाब की स्त्रियों ने।

गाँधीजी के कार्यों के कारण स्त्रियों में निर्भीकता, हिम्मत और बहादुरी आगई है।

गाँधीजी के सिद्धान्तों को स्त्रियों को समझाने के लिए उन्हें वास्तविक शिक्षा की आवश्यकता है। यह कार्यवाही वह स्त्रियाँ भली प्रकार कर सकती हैं, जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की हो। दुर्भाग्य से इस देश में ऐसी स्त्रियों की संख्या भी बहुत कम है; जो हैं वे बड़े-बड़े शहरों में ही रहती हैं। इसलिए देहातों में सेवा करनेवाली स्त्रियों का अभी बड़ा अभाव है। यदि गाँधीजी के सिद्धान्तों का वास्तविक अर्थ समझकर स्त्रियाँ उन्हीं उपदेशों के अनुसार चलने लगें, तो हमारा गृह-जीवन एवं सामाजिक जीवन अवश्य ही आदर्श होजाय।

गाँधीजी का आहार-विवेचन

किसी भी राष्ट्र में नवीन जीवन और नवीन प्राण-सञ्चार करने के लिए राष्ट्र के लोगों के समस्त जीवन में भयङ्कर परिवर्तन करने पड़ते हैं। आहार-विहार और सामाजिक विचारों में परिवर्तन किए बिना कोई भी राष्ट्र शक्ति-सम्पन्न नहीं हो सकता।

'क्षात्रं हि राष्ट्रम्' यह सूत्र यदि सत्य है तो क्षात्र-स्वभाव के बिना राष्ट्र की तेजस्विता सम्भव ही नहीं। क्षात्र-स्वभाव के लिए राष्ट्रीयशिक्षण आवश्यक है और शिक्षण के साथ-ही-साथ राष्ट्र के आहार का प्रश्न भी बड़ा ही जटिल एवं महत्वपूर्ण है। इसका कारण यही है कि आहार से ही प्राणी-मात्र जीवित रहता है तथा अपने विचार-आचारादि का निर्माण करता है। काल-दित्य का कथन है—

"Not on morality, but on cookery, let us build our stronghold."—Sartor Resartus.

'अर्थात् नीति-शास्त्र पर नहीं, हमें अपनी इमारत पाक-शास्त्र पर ही खड़ी करनी चाहिये। हमें विश्वास है कि यह बात हमारे पूर्वज भली प्रकार जान गये थे।' यही कारण है कि इतने युग बाद भी परदेशी विद्वानों का ध्यान हमारी ख़ुराक पर खिंच रहा है। हमारी व्यवहार-पद्धति की बहुत-सी बातें आधुनिक आचार-शास्त्र की खोजों से बराबर मिलती चली जारही हैं। इसका समस्त श्रेय हमारे पूर्वजों की दूरदर्शिता को है। और इसका हमें अभिमान भी होना चाहिए। यह माना कि वर्तमान में कई बातों से प्राचीनों की समस्त बातों का मिलान नहीं हो सकता, किन्तु हिन्दू-शास्त्रों के विद्यार्थियों को चरक-सुश्रुत-जैसे प्राचीन शास्त्रों में से आहार-विषयक नवीन जानकारी प्राप्त हो सकती है। मैसोर में 'फ़ॉर ईस्टर्न एसोसिएशन ऑफ़ ट्रापिकल मेडि-सिन्स' के अधिवेशन के समय डर ब्रजेन्द्रनाथ शील ने 'प्राचीन

हिन्दुओं की चिकित्सा-पद्धति और उनकी तत्व-सम्बन्धी खोज' पर भाषण देते हुए कहा था—

चरक और सुश्रुत की आहार-विधि अथवा अन्य मीमांसा वर्तमान समय की विटामिन-सम्बन्धी किसी भी शोध से कई गुना अधिक महत्वपूर्ण है। इस बात का विश्वास यूरोप के विद्वानों की भी गहरी खोज के बाद होगया है। दुर्भाग्य की बात यही है कि किसी भी हिन्दू-डॉक्टर ने, एकाध अपवाद के सिवा, भारतीय दृष्टिकोण से अहार के ऊपर अभी तक कोई पुस्तक नहीं लिखी। मेडिकल कॉलेजों में भी विद्यार्थियों को इस विषय में कोई शिक्षण नहीं दिया जाता है। पश्चिमीय विद्वानों-द्वारा लिखित पुस्तकों में शाकाहारी हिन्दुओं को आहार-विषयक जानकारी बहुत ही थोड़ी मिलती है। इसके लिए तो हमें अपने प्राचीन भण्डार को टटोलना आवश्यक है। जब से विटामिन नाम के पोषक-तत्व की शोध हुई है, तभी से पश्चिमी डॉक्टरों ने विटामिन्स को सातवें आकाश पर चढ़ा दिया गया है। कुछ भी हो, किन्तु विटामिन की खोज ने शाकाहार का महत्व तो बढ़ा दिया है और इस ओर बड़े-बड़े लोगों का ध्यान खींचा है। महात्माजी पर भी विटामिन-सम्बन्धी सिद्धान्तों का पूर्ण असर मालूम होता है। पकाने से विटामिन का नाश हो जाता है, यह महात्माजी मानते हैं। वे विटामिन का अर्थ "जीव-तत्व" करते हैं। इसके उपरान्त महात्माजी के अन्न-विषयक सिद्धान्तों में "अहिंसा', "स्थूल ब्रह्मचर्य" और "सात्विक जीवन"-आदि

प्रयोगों ने बहुतों का ध्यान आकृष्ट किया है। महात्माजी ने अपने लिये जो .खुराक चुनी है, वह पोषक दृष्टि से बिलकुल ठीक है। पिसा हुआ बादाम, भाजी, खट्टे नीबू, नारियल का गूदा-इत्यादि वस्तुओं में शरीरोपयोगी तमाम तत्व मिले हुए हैं। आहार-शास्त्र में अन्न के पोषक होने से ही सब कुछ नहीं हो जाता। देश, काल-पात्र और मात्रा-आदि का यदि विचार न किया जाय तो पोषक पदार्थ भी शरीर पर अपना असर नहीं डाल सकता। न स्वास्थ्य-संरक्षण में ही सहायक हो सकता है। ६० वर्ष की उम्र में तो .खुराक पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। महात्माजी की प्रकृति, हमारी समझ में, वात-प्रधान है। वात-प्रकृति के मनुष्य को कच्चे गेहूँ की लुगदी खाना अत्यन्त हानिकर है।

अंकुर फूटे हुए अन्न में विटामिन का असर स्पष्ट ही है। आधुनिक आहार-शास्त्री इस बात को मानते हैं कि अंकुर फूटे हुए भोजन में रक्त-पित्त प्रतिशोधक जीवन-तत्व होता है। आयुर्वेद तो स्पष्ट ही कहता है कि पका हुआ अन्न वातज होता है। हम रात-दिन भोजन करते हैं और शाक-भाजी में धीमी आँच में तेल-हींग-अजवाइन-वग़ैरा का छौंक लगाते हैं। इसमें भी बड़ा गहरा रहस्य है। प्रायः सभी भीगे और उबले हुए भोजन में गन्धक का कुछ-न-कुछ भाग रहता ही है। गन्धक अँतड़ियों में जाने पर वायु पैदा करता है। इसलिये शाक-भाजी पकाते समय अजवाइन, लहसुन, तेल-आदि का छौंक

दिया जाता है। दाल में राई, हींग और मिरच का छौंक इस-लिये देते हैं कि गन्धक का अंश मर जाय।

पकाते समय जीवन-तत्व जल जाता है, यह बात आधार-रहित है। ए, बी, सी, डी, ई इतने प्रकार के विटामिन अभी तक खोजे गये हैं। इन पाँचों में से केवल 'स' विटामिन साधा-रण ताप से जल जाता है। दूसरे चारों प्रकार के विटामिन उचित मात्रा में गरमी सहन कर सकते हैं। मनुष्य-जाति के सौभाग्य से 'सी' जाति का विटामिन स्वादिष्ट फलों में खूब प्राप्त होता है। टिमाटर में ए, बी, और सी तीनों प्रकार के विटामिन वर्तमान हैं। और ये विटामिन १४० फ़ारनहाइट की गरमी बिना नष्ट हुए सहन कर सकते हैं। आधे घण्टे तक दूध को गरम करने पर अर्थात् १४५ डिग्री फ़ारनहाइट की गरमी देने पर भी दूध का केवल सी विटामिन ही नष्ट होता है; ए और बी नहीं।

साधारण रीति से शाक-भाजी में ए विटामिन रहता है, साथ ही उसमें कई क़ीमती खनिज पदार्थ भी मिश्रित रहते हैं। डाक्टर केलॉग का कथन है कि ईश्वर ने शाक-भाजी पशु के लिये, और अन्न और फल मनुष्य के लिए बनाये हैं। डॉ० साहब के इस मत से भले ही हम सर्वांश में सहमत न हों, किन्तु इसमें बिल्कुल सत्य नहीं, यकायक यह कहना भी बहुत कठिन है। आयुर्वेद में निरोगी कौन है—इस प्रश्न का उत्तर हितभुक्, मितभुक्, आशाकभुक्-आदि दिया जाता है। आशाकभुक् का

अर्थ बिल्कुल शाक न खाना—ऐसा नहीं, परन्तु शाक थोड़ा खाना चाहिए, ऐसा है। क्योंकि सुश्रुत में कई जगह अ का अर्थ इषत् अथवा अल्प किया गया है। आयुर्वेदज्ञों ने अशाक-भुक् क्यों कहा है? जब कि वे हरा शाक ख़ूब खाने को कहते हैं? विद्वान् मानते हैं, कि प्रत्येक जाति की शाक-भाजी में काष्ट तत्व (Woody matter) बहुत परिमाण में रहता है। उसमें रेशे भी ख़ूब होते हैं। ये रेशे ऐसे कठोर होते हैं कि इनको पचाने में पाचक-रसों को ख़ूब मेहनत करनी पड़ती है। अन्य ख़ुराक के साथ जितना शाक खा लिया जाता है, उतना ही उसे पचाना मुश्किल होजाता है, और बिना पचे हुए पदार्थों का अँतड़ियों में रहना अनिष्टकारक है। शाक-भाजी में एक गुण है कि, वह बिना पचे पदार्थों को बाहर निकाल देती है। पहले के जमे हुए इन पदार्थों को भी अँतड़ियों से निकालकर बाहर कर देती है। सुप्रसिद्ध डाक्टर चन्द्र चक्रवर्ती अपनी 'भोजन और स्वास्थ्य'-नामक पुस्तक में उपसंहार रूप से लिखते हैं—

"भारतवर्ष-जैसे देश में जहाँ प्रोटीन बहुत ही कम देखने में आता है और शरीर की आवश्यकता से बहुत कम अनिष्टकर पदार्थ मिल सकते हैं। वहाँ यदि ज्यादा भाजी खाई जाय तो लाभ की अपेक्षा हानि ज्यादा ही करती है; क्योंकि शाक-भाजी से अँतड़ियों की चलन-क्रिया उत्तेजित हो उठती है और अँतड़ियों की उत्तेजना से भोजन-परिपाक तो दूर रहा, सभी खाना कच्ची अवस्था में शरीर से बाहर निकल जाता है। मांसाहारी को

शाक ज़्यादा फ़ायदेमन्द है; क्योंकि उन्हें हमेशा ही अँतड़ियों के रोगों की शिकायत रहती है"—

महात्माजी भी कहते हैं कि 'शाक-भाजी की मात्रा ख़ुराक में बहुत ही कम होना आवश्यक है।' 'नवजीवन' (११ अगस्त १६२६)

महात्माजी शाक-भाजी को पत्थर पर पीसकर खाते थे, जिससे इसके काष्टमय तंतु कई अंश में नाश होजाते हैं। परन्तु यह ध्यान भी रखना चाहिए कि मन्द काष्टवाले को कच्ची शाक-भाजी फ़ायदे के बदले नुक़सान ही करती है।

महात्माजी जब-जब नवीन प्रयोग करना आरम्भ करते हैं, तब-तब प्राचीन दिनचर्या का क्रम एकदम बदल देते हैं। पर सब कोई ऐसा नहीं कर सकते। जिन ख़राब वस्तुओं का त्याग करना हो, उन्हें धीरे-धीरे ही छोड़ना ठीक है। जब अफ़ीमचियों की अफ़ीम और शराबख़ोरों की शराब छुड़ानी हो तो धीरे-ही-धीरे छुड़ाई जाती है। हमेशा सारी वस्तुओं का स्वीकार धीरे-ही-धीरे किया जाता है, इसके लिए 'चरक' में स्पष्ट लिखा है—कि लाभदायक वस्तु का सेवन क्रम-क्रम से ही करना चाहिए। किसी वस्तु का त्याग करना हो या सेवन करना हो तो पहिले चौथा भाग फिर आधा भाग, फिर पौन भाग और फिर पूर्ण रीति से त्याग या सेवन करना चाहिए। महात्माजी की उम्र, उनके शरीरस-म्बन्धी बन्धन, उनका सतत् व्यवसायी जीवन, उनकी वात-प्रकृति और इसके साथ ही उनकी दिव्यमयी आस्था—इसका

परिणाम क्या होना चाहिए, यह को जगत् जानता है। परन्तु महात्माजी इसको उन्नति ही मानते हैं और उन-जैसे महापुरुषों को यही शोभा भी देता है।

जो कुछ भी हो, परन्तु महात्माजी अन्न का रहस्य बहुत ही अच्छी बात समझते हैं। वे स्वयं अपनी आत्मा पर ही उनका प्रयोग करके शरीर को जकड़ रहे हैं, कारण यह कि 'आहार का प्रश्न गम्भीर और विचारणीय है'। इसका क्षेत्र भी विशाल है। जो प्रयोग डॉक्टर अन्न पर करके अपने सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं, वही प्रयोग महात्माजी अपने ऊपर रात-दिन करते रहते हैं। इन प्रयोगों के परिणाम व्यर्थ नहीं जारहे हैं। दिन-प्रति-दिन उनका महत्व और उनकी क़ीमत बढ़ती जाती है। भोजन-सम्बन्धी यह प्रश्न बराबर विचार करने योग्य है। भारतवर्ष के डॉक्टर और वैद्य यदि हिन्दू-दृष्टिकोण को सामने रखकर और साथ ही हिन्दू-परिस्थिति पर विचार करके यदि कुछ लिखें, और भोजन-विषयक सिद्धान्त जन-समाज को समझावें तो बड़ा उपकार हो।

विनोदी महात्माजी

संसार में ऐसे बहुत-से मनुष्य हैं, जो प्रौढ़ होजाने पर भी बालकों-जैसे विनोदी बने रहते, और कूदने-फाँदने में बड़ा आनन्द मानते हैं। सर प्रफुल्लचन्द्र रॉय बड़े विनोदी हैं, किन्तु गम्भीर भी हैं। बिल्कुल बालक के समान हो जाने में उन्हें बड़ी कठिनाई ही समझिए। बालक तो वे कभी-कभी बनते हैं। संसार

में विनोद-वृत्ति किसी-न-किसी रूप में सभी में होती ही है। ऐसा पुरुष संसार में शायद ही हो, जो विनोदी न हो। गाँधीजी ने जो बात लोकमान्य तिलक के लिए कही थी कि—

"विनोद-शक्ति यदि लोकमान्य में नहीं होती तो वे पागल होजाते। इतने बड़े राष्ट्र को सँभालना आसान नहीं।"

यही बात सभी के लिए लागू हो सकती है। गाँधीजी की विनोद-वृत्ति का परिचय पाने के लिए केवल उनके पास दो-चार मिनट बैठना ही काफ़ी है। यदि उनके विनोदी चुटकलों का संग्रह किया जाय तो एक बड़ी भारी पुस्तक बन सकती है। गाँधीजी एवं लोकमान्य के विनोद में बड़ा भारी अन्तर है। महाराष्ट्र की हाज़िर-जवाबी एवं कटाक्ष की बातें लोकमान्य से भी ज्यादा गाँधीजी में हैं।

गाँधीजी का विनोद बड़ा गम्भीर्ययुक्त होता है, किन्तु उसे बच्चे तक समझ लेते हैं। बाल-स्वभाव की प्रधानता बालक की निष्कपट सरलता है। यह सरलता अपनी, उम्र, ज्ञान एवं दरजे से उत्पन्न होती है। और अन्य के प्रति संकोच-रहित आदर एवं मित्रता इस सारल्य का पोषक है। जिन्होंने जीवन को कर्म की एक-मात्र भूमि बना डाला, जिसने संसार को भली भाँति देख डाला है, जिसने मान-रुतबे एवं लक्ष्मी का पूर्ण उपभोग किया हो, उस मनुष्य में बाल-स्वभाव की यह उत्कृष्टता—यह विशेषता नष्ट-सी होजाती है। यह सरलता विरले ही महापुरुषों में नज़र आती है। इससे नेत्रों को सुख और चित्त में शान्ति होती है।

बाल-स्वभाव में विनोद भी खूब ही मिला रहता है। और बाल-स्वभाव मनुष्य को प्रिय बनाये बिना रह नहीं सकता। चाहे किसी का सम्बन्ध है,—गुरु का चाहे माता-पिता का, पति-पत्नी का या स्वामी-सेवक का, किन्तु विनोद-वृत्ति के कारण आपस में घनिष्ट प्रेम एवं मैत्री का संचार हुए बिना नहीं रहता। यदि विनोद को छोड़कर आप माँ-बाप से कटाक्ष की बात कहिये, तो उन्हें अवश्य ही खटकेगी, किंतु वही बात यदि १५ वर्ष का बच्चा विनोद में बूढ़े बाप से कह दे, तो बाप केवल हँसेगा ही। इसके सिवाय उसके चित्त में मनोमालिन्य का नाम भी पैदा नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि अन्य बातों को छोड़कर स्वाभिमान की मात्रा हम लोगों में दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती है, इसे रोकना बड़ा मुश्किल है। यह स्वाभिमान बाल-वृत्ति के लिए रुकावट उत्पन्न करता है। सरल स्वभाव का यह बड़ा विरोधी है। बहुत-से लोग प्राकृतिक ढँग से नहीं, वरन् कृत्रिम भाव से जीवन व्यतीत करते हैं और उसी में अपनी महानता मानते हैं। यदि हँसी की बात आई तो केवल मुस्करायेंगे और निरर्थक बात पर इतना अट्टहास करेंगे कि कमरे-भर को प्रतिध्वनित कर देंगे। वे इसी में अपना बड़प्पन समझते हैं, किन्तु यह बात ज्यादा दिन चल नहीं सकती और ऐसे लोग तुलसीदास की इस पंक्ति 'उघरहिं अन्त न होहिं निबाहू' का उदाहरण बन जाते हैं। गाँधीजी-जैसा निष्कपट, सारल्य, अद्वितीय प्रेम कहीं भी देखने को नहीं

मिलता। महात्माजी अपनी गम्भीरता की अपेक्षा कई बार इतनी सरलता का प्रदर्शन कर देते हैं कि देखते ही बनता है। सम्वत् १६८४-वाली काँग्रेस के अधिवेशन में से लौटने के बाद महात्माजी से श्री० किशोरीलाल मशरूवाला मिले। कलकत्ते में जो श्रम गाँधीजी पर पड़ा, उसके लिए उन्होंने कहा तो हँसकर कहने लगे—

"इस शरीर में न-जाने कौन-सी शक्ति भरी हुई है!" किशोरीलालजी और आस-पास बैठे हुए सभी लोग आश्चर्य-चकित होगये। गाँधीजी आगे कहने लगे—"एक दिन मैंने तेईस घण्टे बराबर काम किया; सभी लोग थककर चूर होगए, और उनके दिमाग़ भी सुन होगये कि घबराकर हल्ला मचाने लगे। परन्तु मेरा दिमाग़ तो उसी तत्परता एवं ताज़गी के साथ काम करता ही रहा। तेईस घण्टे काम करने के बाद मैंने अपने डेरे का रास्ता लिया, डेरे पर आकर सूत काता, प्रार्थना की, फिर लेटा। क्या इतनी शक्ति को आश्चर्य नहीं कहोगे?" और उस समय ऐसा प्रकट होता था कि वे किसी तीसरी शक्ति का वर्णन् करके आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं। किशोरीलालजी का लिखना है कि उस समय जिस स्वाभाविक रीति से महात्माजी ने उपरोक्त बात कही और जैसा भाव बनाया, वह भाव जिसने देखा है, वास्तव में वह भाग्यवान् है और वही उसे वर्णन् कर सकता है।

महात्माजी क सन्ध्या-समय आश्रम से निकलकर साबरमती जेल की ओर फिरने की आदत-सी है। उस समय छोटे बच्चों

का झुण्ड-का-झुण्ड उनके साथ रहता है। बच्चे गाँधीजी से मज़ाक़ करते-करते कभी-कभी आपस में यह स्पर्धा भी कर उठते हैं कि पहले जेल की दीवार को जाकर कौन छुए? धीरे-धीरे यह एक नियम ही होगया कि सन्ध्या को सेवन के समय सभी बालक दीवार को जाकर अवश्य छुएँ। बच्चों के नियम के साथ बापूजी भी शामिल होगये। वे भी दौड़ते हुए जाते और बच्चों के साथ जेल की दीवार को हाथ लगाकर सब से आगे आने की कोशिश करते। बड़ा ही मनोरञ्जक दृश्य रहता। कभी-कभी यदि कोई बालक साथ न होता तो गाँधीजी अपने साथ जाने-वाले पुरुष को—चाहे वे वृद्ध हों या जवान, विद्वान् हो या साधारण—ख़ूब भगाते और जेल की दीवार छूकर फिर ज़ोर से भागते। गाँधीजी की यह टेव वास्तव में सरलता का संसार-भर में एक ही उदाहरण है। उनके सामने बैठनेवालों में यदि सरलता न हो तो बापूजी कई बार उन्हें सरलता का उपदेश भी दे देते हैं। गुजरात-विद्यापीठ में विद्यार्थियों, शिक्षकों एवं अन्य मनुष्यों में ज़रा भी सरलता का अभाव पाते हैं कि तुरन्त कुछ-न-कुछ ऐसा कटाक्ष कर देते हैं कि सामनेवाले की गर्दन फिर ऊँची नहीं होती। ऐसा भी होता है कि कटाक्ष किये जाने-वाले पुरुषों में से कई स्वाभिमानी भी होते हैं। बापूजी जिस पर कटाक्ष करते हैं, उसे सब के सामने ही कहे जाने पर रोष तो आता है, परन्तु गाँधीजी की खिलखिलाहट से बेचारा रोष न-जाने कहाँ चम्पत हो जाता है। बापूजी कोई सरलता का

आडम्बर नहीं करते, वह तो ईश्वरीय देन है। गाँधीजी के लिये क्या शिक्षक, क्या बड़े-छोटे—सभी एक-से हैं; इसलिए सत्य प्रकट करने में वे कभी भी किसी की मुरव्वत नहीं रखते।

गाँधीजी अपने साधनों पर अटूट श्रद्धा रखते हैं। वे बालक की तरह ही निःशङ्क रहते हैं। इसका मूल इन्हें बाहर से प्राप्त हुआ है। ये उसे भक्त की भाँति पोषण अवश्य करते हैं, किन्तु भक्तों से ज़्यादा वह आशावादी हैं; क्योंकि वह अपने साधनों में बालकों की तरह श्रद्धा रखते हैं। एक समय आश्रम के विद्यार्थियों के कुछ दोष मालूम हो जाने पर आपने सात दिन का उपवास किया था। आश्रमवासियों ने उपवास न करने के लिए लाख प्रार्थना की, अनेक प्रकार से समझाया; परन्तु सब व्यर्थ। उपवास में भी विद्यार्थियों को उनके कितने ही दोष बताए गए। कितने ही विद्यार्थियों ने स्वीकार भी किए। कितनों को क़ुबूल करने पड़े। कितनों को भूल स्पष्ट हो जाने से मानने पड़े। किन्तु विद्यार्थियों की कमज़ोरियाँ ज्यों-ज्यों नज़र आती गई, त्यों-त्यों उन पर उनके उपवास की अचल श्रद्धा जमती ही गई। उपवास से कितने सुन्दर परिणाम नज़र आते हैं, यह बात जब बापूजी वर्णन् करने लगते हैं, उस समय हमेशा उपवास करने वालों के दाँत खट्टे हो जाते हैं। बालकों पर बापूजी का प्रभाव और विश्वास दोनों ही ख़ूब हैं। शिक्षकों की बातें वे भले ही टाल जायँ, किन्तु बापूजी की ज़रा-सी बात भी नहीं टालते।

बाल-स्वभाव के उनके कई उदाहरण हैं। किन्तु एक-दो

उदाहरण श्रीमान् मशरूवालाजी के आँखों-देखे, जो उन्होंने अपने प्रबन्धों में वर्णन् किए हैं, यहाँ दिए जाते हैं।

एक समय खेत के एक छोर पर बापूजी और दूसरे छोर पर बालक खड़े थे। एक बालक चिल्लाया—'बापूजी! बापूजी!!' बापूजी भी ज़ोर से चिल्लाकर कहने लगे—"तू क्या करता है? यह अज्ञान आज कहाँ से सीखा? यही तेरी बातें हैं?" उस समय ऐसा मालूम होता था कि ब्रिटिश साम्राज्य-सरीखे बलशाली राज्य को दबा देनेवाला यही वृद्ध है, जो इस प्रकार किसानों की तरह मुँह पर हाथ रखकर आवाज़ बुलन्द कररहा है।

एक समय बापूजी हाथ में लकड़ी लिए चन्द्रभागा के प्रवाह में से खेत की ओर जारहे थे। एक छोकरा ज़ोर से चिल्ला रहा था, और बापूजी भी ख़ूब ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर जवाब देरहे थे। उनकी मुलाक़ात के लिए आये हुए एक गृहस्थ और मैं (मशरूवाला) एक ऊँचे टेकरे पर से यह दृश्य देख रहे थे। बहुत देर तक यह तमाशा देखते रहने के बाद हमने कहा—"कितना अद्भुत दृश्य है! यीशू मसीह की उपमा प्रत्यक्ष होरही है। और बाइबिल में भी यीशू के कई अद्भुत कृत्य नज़र आते हैं, वे सभी तो यहीं होरहे हैं।"

गांधीजी के कई विनोद एक ही परिपाटी पर क़ायम हैं। जैसे, किसी बीमार को देखने गये कि पहला ही सवाल यह होता है—'क्या! सिर या कपाल?' यह बात बिल्कुल उपयुक्त है।

निकटतम परिचित यदि मुलाक़ात के लिए आते हैं तो ऐसे समय उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर लेना साधारण बात नहीं। कारण यह कि गाँधीजी कितनी ही बार आये हुए बालकों के बीच-बीच में तमाचे-मुक्के मार देते या कान खींच लेते हैं। यह उनकी हमेशा की आदत है। मशरूवालाजी लिखते हैं—"महात्माजी के प्राइवेट सेक्रेटरी महादेव देसाई की पीठ पर ख़ूब ही तमाचे पड़ते हैं और सतीश बाबू की पीठ पर ख़ूब ही घूँसे जमाये जाते हैं।" घनिष्ट परिचित यदि कमज़ोर हुआ तो बापूजी के पास बैठने में शरीर की ख़ैरियत नहीं।

लोग कहते हैं कि महात्माजी को अठवाड़े में मौन रखने से अपार शान्ति और लोकोत्तर आनन्द के सरस घूँट पीने को मिलते हैं और यही अभिप्राय महात्माजी ने भी अपने मौन के सम्बन्ध में ज़ाहिर किया है। यहाँ हम यह दिखाना चाहते हैं कि क्या बालक-जैसे स्वभाव-वाला महात्मा बालकों में बैठकर मौन रख सकता है? कभी नहीं। साथ ही बापूजी बातों के बड़े रसिया हैं। बालकों के पास बैठकर महात्माजी से यह आशा रखना कि मौन रह जांय, कभी भी सम्भव नहीं। किन्तु इस प्रकार का मौन (बालकों से विनोद करना) उन्हें अपार शान्ति देता होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। कारण कि इससे महात्माजी को एक प्रकार की शान्ति तो मिलती ही है, साथ ही सारे दिन के कार्य की थकावट भी दूर हो जाती है। बालकों में बापूजी 'मुक्त-हास्य' करते हैं।

द्वितीय राउण्ड-टेबल-कान्फ़रेन्स में ज्यों-ही महात्माजी 'राजपूताना' जहाज़ पर बैठे कि बच्चों ने, विशेषतया अँग्रेज़ बच्चों ने, घेरना प्रारम्भ कर दिया। बच्चे न रँग देखते हैं, न रूप, और न उनकी व्यक्तित्व पर नज़र रहती है। वे तो "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के माननेवाले होते हैं। गाँधीजी का जहाज़ पर यह एक साधारण-सा मज़ाक होगया था कि वे अँग्रेज़ बच्चों के कान पकड़कर उठा देते थे। उनकी पीठ पर चपत लगाते थे और बच्चे सपाटे से उनके कैबिन में उसी प्रकार घुस जाते, जैसे पक्षियों के बच्चे अपने घोंसले में मुँह डालते हैं। बच्चे उनके कैबिन में ख़ूब धींगा-धींगी और खींचा-मस्ती करते और उन्हें देख-देख, गाँधीजी भी ख़ूब ही खेलते, तालियाँ बजाते और खिलखिलाते। जब गाँधीजी कलेवा करने बैठते तो बच्चे एकदम हमला कर देते और गाँधीजी से कुछ भी नहीं बन पड़ता; चुपचाप सिमिट जाते। बच्चे मौक़ा पाकर सभी अंगूर और खजूर लेकर भाग जाते और तश्तरियाँ साफ़ करके महात्माजी को सौंप देते। महात्माजी ख़ूब हँसते। बच्चे उनको घोड़ा बनाते, पीठ पर चढ़ते और "और दो, और" के मारे सारा कमरा गुँजा देते। यहाँ तक कि गांधीजी को बच्चों ने चर्ख़ा तक नहीं चलाने दिया, किन्तु वे हँसने के सिवाय कुछ करते ही नहीं थे।

महान् उपवास, जो अछूतों के उद्धार के लिए महात्माजी ने प्रारम्भ किया था, यह आमरण उपवास २० सितम्बर को आरम्भ होकर २६ सितम्बर को ख़त्म हुआ। २० सितम्बर को

महात्माजी की महान् विजय के उपलक्ष में उनका ६४ वाँ जन्म-दिन मनाया गया। भारत ही नहीं, समस्त संसार ने इस दिन को आदरास्पद दिवस जानकर मनाया। यरवदा-जेल में उस आम्र-वृक्ष के नीचे महात्माजी जेल का कम्बल ओढ़े, खाट पर पड़े थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर खाट के पटिये पर हाथ रखे, ज़मीन पर बैठे थे। दर्शन को भीड़ लगी थी, फूलों और रुपयों के ढेर लग रहे थे। पादरी, अँग्रेज़, अँग्रेज़ी महिलाएँ बीसवीं सदी के यीसू मसीह के दर्शनों को टूट रही थीं। आशीर्वाद मिल रहे थे। इसी समारोह में मीरा बहिन का पत्र महात्माजी को मिला, जिसमें इस उत्सव में शामिल न हो सकने का खेद प्रकट किया गया था, साथ ही यह भी लिखा था कि आपके पास ही रवीन्द्र बाबू बैठे होंगे, उनके चरण मेरी ओर से आप किसी से छुआ दीजिये। महात्माजी का बाल्योचित्त सारल्य यहाँ देखने की वस्तु है, जिसका दृश्य संसार में बार-बार देखने को नहीं मिलता। महात्माजी उस समय महान् अशक्त थे तो भी उस पत्र को पढ़कर आपने करवट बदली और उस कवि-सम्राट् के, जो पलँग की पाटी से टिके बैठे थे, हाथ बढ़ाकर पैर छू लिए। मज़ा यह कि महात्माजी कवीन्द्र को गुरुदेव कहते हैं और रवीन्द्र महात्माजी को भगवान् का अवतार मानते हैं। महाकवि उस समय अवाक् रह गए और उनके नेत्रों से अश्रु-धारा बह निकली। महात्माजी का यह बालकों-जैसा सारल्य उनकी नस-नस में बिंध गया। वे तड़प उठे। महात्माजी ने कहा—"गुरुदेव! मुझसे बड़ा कौन है, जो

आपका पैर छुए !" कितना हास्य, कितना विनोद और कितनी सरलता है इस वाक्य में ! वास्तव में यह वाक्य भी अमर है। महात्माजी ने यह पत्र गुरुदेव को दे दिया। जाते समय महाकवि चरण छूकर और हाथ जोड़कर कहने लगे—"भगवान् ! हरिजनों के लिए आप मुझे जो आज्ञा देंगे, उसे मैं बङ्गाल में घर-घर पहुँचा दूँगा।"

भारतीय स्त्री की वर्तमान दशा पर महात्मा गाँधी क्या कहते हैं, उनके विचार क्या हैं, यह जानना परमावश्यक है। कुछ लोगों का कथन है कि स्त्री-सम्बन्धी गाँधीजी के विचार नितान्त संकुचित हैं। यह अवश्य है कि किसी भी जाति-विशेष के लिए गाँधीजी ने अभी कुछ किया नहीं है, किन्तु समय-समय पर उन्होंने समस्त भारतीय स्त्रियों पर बहुत-कुछ लिखा है। उससे पता चलता है कि गाँधीजी स्त्री-सम्बन्धी विचारों में कहीं तक आगे बढ़े हुए हैं। यहाँ उनके समय-समय पर प्रकाशित विचारों का प्रदर्शन किया जाता है।

"स्त्रियों के प्रति पुरुष अपने मूढ़पन से कर्तव्यों को भूल सकता है, किन्तु स्त्रियाँ कभी भी अपने पुरुष के लिए जो फ़र्ज़ हैं, उन्हें नहीं भूलतीं"—नवजीवन ता० १४-९-१९१९।

"स्त्रियाँ अबला समझकर ही पुरुषों के कामों में सहयोग देने से छूट नहीं सकतीं। अबला यह विशेषण आत्मा पर लागू नहीं हो सकता। यह तो शरीर विषयक है। जिन स्त्रियों को अपनेपन का विचार है, उनका स्त्रीत्व उनके आत्म-बल के साथ

अत्यन्त शोभा पाता है। स्त्री को बार-बार अबला कह देने से स्त्री का सतीत्व शोभा नहीं पाता। जिस प्रकार हाथी का शरीर मनुष्य की बुद्धि के आगे बेकार है, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों के आत्म-बल के आगे मनुष्य की बुद्धि एवं शारीरिक बल तृणवत् प्रतीत होता है। इसी से मेरी इच्छा है कि स्त्रियाँ अपने आपको अबला समझकर अपने प्रजा-रक्षण के अधिकार को छोड़ें नहीं"। —'नवजीवन' ता० १८-७-१९२०

"जब तक स्त्रियाँ आगे नहीं बढ़तीं, तब तक स्वराज्य की आशा रखना फ़िज़ूल है। प्रजा की स्वतन्त्रता चली गई है, उसे फिर प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है। इस बात को यदि स्त्रियाँ न समझें तो जनता की रक्षा असम्भव ही है। स्त्रियों को स्वतन्त्रता का महा-मन्त्र लेकर और उसे धर्म जानकर साबित करना चाहिए और जिन स्त्रियों को यह महा-मन्त्र सिद्ध होजाय, उन्हें इस मंत्र की दीक्षा अन्य बहिनों को दे देना चाहिए। जीवन में बड़े-से-बड़े महत्व की अधिकारिणी स्त्रियाँ ही हैं। पुरुष शक्ति की हद है। स्त्रियों के गम्भीर भावों को पुरुष भी नहीं जान सकते। स्त्री जिस प्रकार बालक की रक्षा करती है, उसी प्रकार बालक में स्वतन्त्रता, निर्भयता, सहिष्णुता, दृढ़ता-इत्यादि गुण भी स्थापित कर सकती हैं।" —'नवजीवन' ता० ३-१०-२०

'.........जितनी-जितनी भारतीय बहनें जाग्रत होती जा रही हैं, उतना-ही-उतना स्वराज्य हमारे नज़दीक आता जा रहा है। स्त्रियों ने अपना सर्वस्व बलिदान करके प्रजा का रक्षण

किया है। भारतवर्ष के संकटों को जितना स्त्रियाँ जान सकती हैं, उतना और कौन जान सकता है !'

—'नवजीवन' ता० २८-११-२०

'जैसा भाषा के सम्बन्ध में है, उसी प्रकार स्त्री के सम्बन्ध में। अपनी मातृ-भाषा और राष्ट्र-भाषा को वर्तमान भारतीय जनता जिस प्रकार छोड़ रही है, उसी प्रकार हम भी स्त्री-समाज को दिन-प्रति-दिन त्याग रहे हैं—अनादर की दृष्टि से देख रहे हैं। उनका राष्ट्रीय जीवन कुछ नहीं के बराबर है। इसी से हम उनसे अभी तक कोई फ़ायदा न उठा सके।'

—'नवजीवन' ता० २६-१०-२०

'विधवा का प्रश्न भारत में नया नहीं। सुधारकों ने इस प्रश्न का एकदेशीय मार्ग निकाल लिया है। वैधव्य में मुझे बड़े-बड़े रहस्य मालूम होते हैं। पुरुष किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर पुनर्लग्न का विचार नहीं करते, यह ठीक नहीं। परन्तु ऐसे विचारों से अथवा ऐसे विचारों के अमल से क्या बाल-विधवाओं के जीवन को कुछ फ़ायदा पहुँचा सकते हैं ? हठपूर्वक विधवा से विवाह करवाना पुरुषों का धर्म है। वैधव्य को शोभित करना है तो विधवा-विवाह जारी करना चाहिये, अन्यथा विधवाओं से पवित्रता की आशा रखना व्यर्थ है।'

—'नवजीवन' ता० १९-१०-१९

'जो स्त्री के साथ वर्षों तक मैत्री रखते हैं, जिसके दुःख से दुःखी होते हैं, जिसके सुख में भाग लेते हैं, जिसके साथ भोग-

विलास करते हैं, जिनके साथ चौबीसों घण्टे बिताते हैं, उसी स्त्री के मर जाने पर पुरुष जिस प्रकार अपने मित्र का सामान्य शोक पालन करता है, उसी प्रकार साधारण-सा शोक स्त्री के मर जाने पर पालन करता है। इससे ज़्यादा नहीं..........

...भारतवर्ष के मनुष्यों की कुलीनता स्मशान से आगे नहीं जा सकती और कभी-कभी तो पवित्र स्त्री भी पुरुष की चिता में अपनी भस्म भी शामिल कर देती है। किन्तु कई ऐसे भी महापुरुष हैं, जो पति-शव के जलने के साथ-ही-साथ गये विवाह की बातचीत उस नव-विधवा से करने लगते हैं। विधुर तो इस कार्य में कभी शरमाते ही नहीं। ऐसी लज्जा-जनक स्थिति से भारतवर्ष को अवश्य बचना और बचाना चाहिये।'

—'नव-ीवन' ता० १२-१०-१६

'जब पुरुष अपने हक़ जताएँ तो स्त्रियाँ अपने हक़ क्यों न सिद्ध करें? स्त्रियों को मताधिकार अवश्य मिलना चाहिये, परन्तु जो स्त्रियाँ अपने सामान्य हक़ नहीं समझतीं, अथवा समझते हुए भी अपने हक़ों को माँगने की ताक़त नहीं रखतीं, वे स्त्रियाँ मताधिकार लेकर क्या करेंगी? स्त्रियाँ भले ही मताधिकार लेलें, भले ही भारतीय धारा-सभाओं में जायँ, परन्तु स्त्री-जाति का प्रथम कर्तव्य तो पुरुषों के अत्याचारों से बचना और भारतीय जनता को वीर्यवान् बनाना है। अज्ञान में हम अपनी अबोध पुत्री को किसी के विधुर होने के साथ ही उसकी विषयाग्नि को शांत करने के लिये सौंप देते हैं और पुरुष भी

वियोग के आँसू सूखने के पूर्व ही विवाह करने को तैयार हो जाते हैं। ऐसे कार्यों में सुधार करने का स्त्रियों को हक़ है, इतना ही नहीं, स्त्रियों का कर्तव्य अपने, पुरुष के, और भारत-वर्ष के प्रति है।' —'नवजीवन' ता० १६-५-२०

गाँधीजी के उपरोक्त विचारों से पता चलता है कि वे एक समाज-सुधारक हैं। पचास वर्षों में जितना समाज-सुधार हमारे अन्य माननीय नेता नहीं कर सके, उतना कार्य गाँधीजी ने केवल पाँच वर्ष में ही कर दिखाया। उन्होंने स्त्रियों को निडर बना दिया, खुली हवा में लादिया, मार्ग दिखा दिया। स्त्रियों के आन्दोलन में प्रचार-कार्य की महान् आवश्यकता थी, उसे गाँधीजी ने पूरा किया है।

स्त्री-जाति यदि अपने वास्तविक स्थान को समझ जाय तो आर्थिक और सामाजिक परतन्त्रता तो अवश्य ही दूर होजाय। धीरे-धीरे कार्य करने एवं पुरुषों पर ही अपना समस्त अधिकार रखने से तो स्त्रियों का कभी भी उद्धार न हो सकेगा। धीरे-धीरे कार्य करना और असहाय की तरह बाट देखा करना, यह तो स्त्रियों के लिये शरम की बात है। इसका यह मतलब नहीं कि स्त्रियां पुरुषों से किसी भी कार्य में मदद ही न लें। स्त्रियों को यह भली प्रकार मालूम हो जाना चाहिये कि हम पीछे हैं, बस, वे स्वतः आगे बढ़ने की कोशिश करने लगेंगी। असंतोष ही जागृति का मूल मन्त्र है। यह असंतोष स्त्रियों की आर्थिक स्थिति, सामाजिक जीवन, तलाक़ और पुनर्लग्न वगैरह में इसका केन्द्र

जाता है। स्त्रियों की उन्नति के मार्ग में जो-जो बाधाएँ हैं उन्हें दूर करना या करने की कोशिश करना मनुष्य का कर्तव्य है। स्त्रियों में हिम्मत तो अवश्य होनी ही चाहिये। जब तक वे आत्म-विश्वास और हिम्मत से काम न लेंगी, तब तक पुरुष के निर्दय पंजे से बचना एकदम असंभव है। स्त्री की परतंत्रता का मूल उसका विलास है। विलास के कारण ही वह स्थान-च्युत होजाती है, और बंधन में पड़ जाती है। यदि पुरुष के विलास का साधन स्त्री नहीं रहे तो स्त्री-जाति की उन्नति हो सकती है। यह बात हमें महात्माजी ने ही बताई है। यह बात स्त्रयों को जान लेनी चाहिये कि वे पुरुषों से किसी बात में भी कम नहीं और समानाधिकार की अधिकारणी हैं। स्त्रियों को अपने अधिकार मालूम हुए कि पुरुषों को तो वे एकदम समझा देंगी।

गाँधीजी और साहित्य

महात्माजी ने वास्तविक शिक्षण राजकोट में पाया। सन् १८८७ में मैट्रिक परीक्षा पास करके वे सामलदास कॉलेज में भरती होगये, किन्तु बैरिस्टर हो जाने की महान् प्रबल इच्छा के जागृत हो जाने से अपने कुटुम्बियों से सम्मति लेकर १८८८ ई० में इँगलैण्ड चले गये।

विद्यार्थी-अवस्था में आपका जीवन किन्-किन विषम अवस्थाओं को पार करता रहा, इंग्लैण्ड में रह कर आपको किन-किन रस्म-रिवाजों और रुकावटों ने आ-घेरा, देश में आने के

उपरान्त आपको वकालत में दिलचस्पी रही या नहीं, अफ्रिका किसलिये गये और किस परिस्थिति के वशवर्ती होकर आप वहाँ स्थायी रूप से रुक गये—इन सब का वृत्तान्त जानना वास्तव में रोचक है, किन्तु हमारे लेख से सम्बन्ध न होने के कारण हम आगे बढ़ते हैं।

महात्माजी की साहित्य-प्रवृत्ति दक्षिण-अफ्रिका में प्रारम्भ हुई। दक्षिण-अफ्रिका में रहकर हिन्दुस्तानियों में लोकमत फैलाने या जानने के लिये आपने 'इण्डियन ओपिनियन'-नामक एक पत्र जारी किया। इस पत्र में राजनीतिक बातों के अतिरिक्त आपने इन विदेश में बसे हुए भाइयों के देश-प्रेम को जागृत एवं संस्कार में परिवर्तन करने पर बहुत जोर दिया और उपरोक्त पत्र द्वारा आपने इस कार्य में भरसक प्रयत्न भी किया। 'इण्डियन ओपीनियन' की भाषा बहुत ही सादा थी, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से अशुद्ध नहीं कही जा सकती है। एक बार स्वयं पत्र की भाषा के विषय में वह कह रहे थे कि इस पत्र के निकालने में मेरा उद्देश्य मेरी भाषा और विद्वत्ता प्रकट करने का नहीं, वरन् नासमझ परदेशी भाइयों को उनकी यथार्थता का ज्ञान कराना है। इतना होने पर भी महात्माजी की भाषा में विषय एवं विचार की गम्भीरता, तत्व की खोज का प्रयत्न, सादगी, हृदय को चोट पहुँचाने की ताकत एवं सरलता-आदि खास गुण हैं। ये सभी गुण 'इण्डियन ओपीनियन' की भाषा में वर्तमान रहते थे।

गुजराती-साहित्य में अमर स्थान पाने लायक़ गाँधीजी की कितनी ही पुस्तकें 'हिन्द-स्वराज्य,' 'जेल के अनुभव' 'नीति-धर्म' 'सूर्योदय' इत्यादि सभी 'इण्डियन ओपीनियन' में ही प्रकाशित हुई थीं। पत्र का उद्देश्य यद्यपि दक्षिण-अफ्रिका में बसनेवाली हिन्दू क़ौम को संगठन करने का था, किन्तु पत्र में अन्य कई विविध एवं सर्वदेशीय विषयों पर लेख लिखे जाते थे। ये लेख वास्तव में साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। महात्माजी ने ऐसा ही पत्र हिन्दुस्तान में आकर 'नवजीवन' नाम से प्रारम्भ किया। नवजीवन '१६१६' की ७ वीं सितम्बर को प्रारम्भ हुआ था। यह तारीख़ गुजराती तथा भारतीय साहित्य में चिरस्मरणीय रहेगी। गाँधीजी का कथन है कि मेरे जीवन पर टॉलस्टॉय, रस्किन एवं श्रीमद्रामचन्द्र जी का बहुत गहरा असर पड़ा है। टॉलस्टॉय और रस्किन ने जो सिद्धान्त अपने लेखों में प्रकट किये हैं, उन्हीं सिद्धान्तों को गाँधीज़ी ने कार्य-रूप में लाकर प्रत्यक्ष दिखा दिया है। सत्याग्रह की कल्पना का सिद्धान्त कितने ही विद्वान् टॉलस्टॉय की उपज समझते हैं, परन्तु भारतवर्ष में यह सिद्धान्त नया नहीं। आज उसी सत्याग्रह का परिवर्तित संस्करण गाँधीजी ने दुनियाँ के समक्ष रख दिया है। यह उनकी अमोघ और अजेय शक्ति का परिचायक है। यह व्यवहार में कितना अडिग है, यह पाठ भी हमें व्यवहार में लाकर उन्होंने स्पष्ट ही दिखा दिया है। नेटाल (दक्षिण अफ्रीका) में टॉल्सटॉय-फ़ॉर्म तथा उसके पीछे

फ़िनिक्स संस्था-आदि खोलकर गाँधीजी ने समानता और बंधुत्व की कल्पना श्रमजीवियों के दिल में उतारी थी। भारतवर्ष में आने के बाद गाँधीजी का नाम गुजराती-साहित्य में ही नहीं, समस्त दुनिया में व्याप्त हो गया। राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यों के बोझ से दबे रहने पर भी गाँधीजी ने गुजराती-साहित्य की जो असाधारण सेवा की और अपनी मातृ-भाषा गुजराती को भारतीय एवं सांसारिक भाषाओं में जो स्थान दिलाया वह किसी से छिपा नहीं। साहित्य के लिये साहित्यिक प्रवृत्ति में, वे कभी घुसे नहीं। वे गुजराती भाषा के प्रेमी तथा भाषा के विकास के साधक बनकर कभी प्रयत्न करते नज़र नहीं आये। यह बात आपके 'इण्डियन ओपीनियन' पत्र से सिद्ध हो जाती है, जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है। स्वर्गीय नवलराम इन की शैली को एकाग्र एवं संक्षिप्त शैली कहते हैं। इसकी शैली के साथ विचारों एवं भाषा की प्रौढ़ता ऐसी छटा से झलकती है कि देखते ही बनता है। इनकी भाषा की शैली में हृदय से निकलनेवाले स्वर और उनकी झंकार इस प्रकार निकलती है कि वह मनुष्य-हृदय को उथल-पुथल करके उसे जाग्रत एवं सतेज कर देती है। प्रान्तिक भाषाओं में निम्न कोटि की गिनी जानेवाली गुजराती भाषा को आज गाँधीजी ने गौरव एवं विशिष्ट स्थान दिला दिया है।

विलायत से निकले हुए भारतीयों ने अपनी मातृ-भाषा की जो दुर्गति आज से २०-२५ वर्ष पूर्व करनी आरम्भ की थी, वह

किसी से छिपी नहीं है। उस दुर्गति से अपनी मातृ-भाषा को मुक्त करने वाले गाँधीजी ही हैं। सन् १६१६ में सरोजनी नायडू आप से मिलने अहमदाबाद पधारी थीं। इस प्रसंग का लाभ लेने के लिये सरोजनी देवी का जनता में भाषण कराया गया। उनके अँग्रेज़ी भाषण को सुनकर अँग्रेज़ी जाननेवाली जनता मन्त्र-मुग्ध हो जाया करती थी। किन्तु महात्माजी भला लोगों को झूठा सुख कैसे भोगने दें? उन्होंने वहीं उनसे साफ़ कह दिया कि भाषण भारतीय भाषा में ही हो और हुआ भी। देवीजी को भारतीय भाषा में बोलने का पहला ही मौक़ा था, इसलिये सभी भारतीय पत्रों में इसकी काफ़ी चर्चा रही, किन्तु अंग्रेज़ी भाषा के ऊपर तो गाँधीजी ने तेज़ाब डाल ही दिया। सन् १६१७ में भड़ौंच में गुजराती-परिषद् हुआ था। लोगों को विश्वास था कि सब कार्य अँग्रेज़ी में ही होगा। गाँधीजी वहाँ प्रमुख थे। उन्होंने अपना व्याख्यान गुजराती ही में लिख भेजा। वहीं से परिषदों और सम्मेलनों का काम देशी भाषाओं में होना प्रारम्भ हुआ। आज तो भारतीय महा-सभा तक का कार्य गाँधीजी के प्रताप से देशी भाषा में ही होता है।

'नवजीवन' द्वारा गत १० वर्षों से वे गुजराती भाषा में अमृत बरसा रहे हैं। उनकी लेखिनी अनेक क्षेत्रों में कार्य कर रही है। उनकी विचार-धारा और शैली का असर सभी वर्तमान गुजराती लेखकों पर पड़े बिना न रहा। इससे हम निःसंकोच

कह सकते हैं कि गुजराती भाषा में नई प्रवृत्ति पैदा करनेवाले गाँधीजी ने अपनी भाषा के इतिहास में 'गाँधी-युग'-नामक एक बड़ा अध्याय बढ़ा दिया है।

गाँधीजी की शैली पाण्डित्यपूर्ण नहीं, किन्तु उनकी विचार-धारा जीवन से उत्पन्न हुई है। उसके सहायक उनका जाग्रत अनुभव एवं गम्भीर चिन्तन हैं। वे हमेशा सत्य के दर्शन करने तथा कराने के लिए ही लिखते हैं। इसीलिए वे जिस विषय पर लिखते हैं, उसी विषय को सजीव बना देते हैं। साहित्य जीवन से कोई निराली या भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु समस्त जीवन का निष्कर्ष है, यह बात हम गाँधीजी के लेखों-द्वारा ही समझ सके हैं। यह साहित्य के लिए महात्माजी की बड़ी प्रसन्न प्रसादी है। गुजराती-साहित्य उनका चिर-ऋणी है।

महात्माजी ने निम्न-लिखित ग्रन्थ गुजराती भाषा में लिखे हैं—

१—सूर्योदय २—हिन्द-स्वराज्य ३—जेल के अनुभव (दक्षिण अफ्रीका के) ४—नीति-धर्म।

उपरोक्त चारों पुस्तकें दक्षिण-अफ्रीका में ही प्रकाशित हुई थीं।

५—आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान १९१९।

६—'नवजीवन' के समस्त लेख ३ जिल्दों में—१९२३

७—दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास २ (भागों में) १९२४

किसी से छिपी नहीं है। उस दुर्गति से अपनी मातृ-भाषा को मुक्त करने वाले गाँधीजी ही हैं। सन् १९१६ में सरोजनी नायडू आप से मिलने अहमदाबाद पधारी थीं। इस प्रसंग का लाभ लेने के लिये सरोजनी देवी का जनता में भाषण कराया गया। उनके अँग्रेज़ी भाषण को सुनकर अँग्रेज़ी जाननेवाली जनता मन्त्र-मुग्ध हो जाया करती थी। किन्तु महात्माजी भला लोगों को झूठा सुख कैसे भोगने दें ? उन्होंने वहीं उनसे साफ़ कह दिया कि भाषण भारतीय भाषा में ही हो और हुआ भी। देवीजी को भारतीय भाषा में बोलने का पहला ही मौक़ा था, इसलिये सभी भारतीय पत्रों में इसकी काफ़ी चर्चा रही, किन्तु अंग्रेज़ी भाषा के ऊपर तो गाँधीजी ने तेज़ाब डाल ही दिया। सन् १९१७ में भड़ौंच में गुजराती-परिषद् हुआ था। लोगों को विश्वास था कि सब कार्य अँग्रेज़ी में ही होगा। गाँधीजी वहाँ प्रमुख थे। उन्होंने अपना व्याख्यान गुजराती ही में लिख भेजा। वहीं से परिषदों और सम्मेलनों का काम देशी भाषाओं में होना प्रारम्भ हुआ। आज तो भारतीय महासभा तक का कार्य गाँधीजी के प्रताप से देशी भाषा में ही होता है।

'नवजीवन' द्वारा गत १० वर्षों से वे गुजराती भाषा में अमृत बरसा रहे हैं। उनकी लेखिनी अनेक क्षेत्रों में कार्य कर रही है। उनकी विचार-धारा और शैली का असर सभी वर्तमान गुजराती लेखकों पर पड़े बिना न रहा। इससे हम निःसंकोच

कह सकते हैं कि गुजराती भाषा में नई प्रवृत्ति पैदा करनेवाले गाँधीजी ने अपनी भाषा के इतिहास में 'गाँधी-युग'-नामक एक बड़ा अध्याय बढ़ा दिया है।

गाँधीजी की शैली पाण्डित्यपूर्ण नहीं, किन्तु उनकी विचार-धारा जीवन से उत्पन्न हुई है। उसके सहायक उनका जागृत अनुभव एवं गम्भीर चिन्तन हैं। वे हमेशा सत्य के दर्शन करने तथा कराने के लिए ही लिखते हैं। इसीलिए वे जिस विषय पर लिखते हैं, उसी विषय को सजीव बना देते हैं। साहित्य जीवन से कोई निराली या भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु समस्त जीवन का निष्कर्ष है, यह बात हम गाँधीजी के लेखों-द्वारा ही समझ सके हैं। यह साहित्य के लिए महात्माजी की बड़ी प्रसन्न प्रसादी है। गुजराती-साहित्य उनका चिर-ऋणी है।

महात्माजी ने निम्न-लिखित ग्रन्थ गुजराती भाषा में लिखे हैं—

१—सूर्योदय २—हिन्द-स्वराज्य ३—जेल के अनुभव (दक्षिण अफ्रीका के) ४—नीति-धर्म।

उपरोक्त चारों पुस्तकें दक्षिण-अफ्रीका में ही प्रकाशित हुई थीं।

५—आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान १९१६।

६—'नवजीवन' के समस्त लेख ३ जिल्दों में—१९२३

७—दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास २ (भागों में) १९२४

८—जेल के अनुभव (भारत में) १६२५

६—आत्म-कथा (२ भाग) १६२८-२६

१०—नीति-नाश के मार्ग १६२८

उपरोक्त ग्रंथों के अलावा महात्माजी अब भी अपने अनुभूत लेख इधर-उधर लिखते ही रहते हैं।

गुजराती भाषा के निकट होते हुए भी महात्मा गाँधी देश के कल्याण के लिए हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने अनवरत परिश्रम किया है। वह दो बार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के आसन को सुशोभित कर चुके हैं।

गीता और महात्माजी

गीता पर अनेक भाष्य बन चुके हैं। गीता में काव्य की रीति से, मनोरञ्जक ढङ्ग से अनेक मतों का उपयोग अर्जुन से युद्ध कराने के लिए किया गया है। इसमें अपनी इच्छानुसार हर-एक भाष्यकार ने अपने मतानुसार किसी मत को प्रधानता देकर उसका ही समर्थन किया है। अर्थात् अपने ही मत का प्रतिपादन गीता के द्वारा किया गया है। आजकल अपने देश के विद्वानों में डॉक्टर सर रामकृष्ण भाण्डारकर, जस्टिस तैलंग-आदि ने गीता में कर्मयोग तथा भक्ति का प्राधान्य माना है। लोकमान्य तिलक ने तात्पर्य निकालने की शास्त्रीय रीत्यनुसार कर्मयोग को ही गीता-रहस्य क़रार दिया। गीता का कर्मयोग अन्य फ़िलॉसफ़ियों से बढ़कर है—इत्यादि बातें लोकमान्य की

यदि सब के ऊपर रखी जायँ, तो गीता का रहस्य कर्मयोग में ही है, ऐसा कहने में किसी प्रकार की भी शङ्का नहीं रह जायगी।

गाँधीजी ने भी गीता पर अपने विचार प्रकट किए हैं। गाँधीजी के जीवन में सत्य, अहिंसा और आचार-विचार की विशेषता यदि एक ही कर दी जाय तो कोई विशेषता नहीं। वे कई वार सत्य पर, तो कई वार अहिंसा पर भी भार रख देते हैं, किन्तु उनके दिल में सत्य और अहिंसा कोई अन्य वस्तु नहीं, एक-ही हैं। अहिंसा को वे सत्य-प्राप्ति का साधन मानते हैं! 'सत्यमय होने के लिए अहिंसा ही एक-मात्र पथ है।' और 'सत्य-रूपी सूर्य का दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के विना अशक्य है।' ('आत्म-कथा' द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३७८)। उपरोक्त विचारावलि में साध्य और साधन की एकता प्रतीत होती है।

इस प्रकार के सत्य और अहिंसा को साधने के लिए निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण त्यागना नहीं चाहिए। इस निवृत्ति-मार्ग में तप, संयम-आदि जैन वग़ैरा श्रमण-सम्प्रदाय जितनी कठोरता से स्वीकार करते हैं, गाँधीजी उसे 'आत्म-शुद्धि' कहते हैं। उनका इसके द्वारा अन्तिम ध्येय 'मोक्ष या परमात्म-दर्शन' ही है। 'शुद्ध होने के लिए काया, मन और वचन से निर्विकार होना चाहिये, राग-द्वेषादि से रहित होना भी आवश्यक है। आत्म-शुद्धि के विना जीव-मात्र के साथ ऐक्य कभी सध ही नहीं सकता। आत्म-शुद्धि के विना अहिंसा-धर्म का पालन असम्भव

ही है। अशुद्धात्मा परमात्मा के दर्शन कर ही नहीं सकता।' यह ध्येय और यह कार्य-क्रम उपनिषद् के ऋषियों और अन्य निवृत्ति-मार्गी श्रमण-सम्प्रदाय के साथ समानता रखता है। 'इस प्रकार व्यापक सत्यनारायण के दर्शन—प्रत्यक्ष दर्शन—के लिए जीव-मात्र के प्रति परम प्रेम की आवश्यकता है। इसका इच्छुक मनुष्य-जीवन के एक क्षेत्र के बाहर ही नहीं रह सकता। यही सत्य की भारी पूजा मन को एक जगह खींचकर ले आती है।' (आत्म-कथा, पृष्ठ ३७६)

अपने ही ऊपर से गाँधीजी कर्म-मीमांसा का गीता में दो प्रकार की परम्परा का समन्वय करते नज़र आते हैं। लोक-संग्रह की दृष्टि से हर-एक लोक में अपने उत्तरदायित्व पर ही मनुष्य कार्य करता है, और मोक्ष की साधना इन कार्यों के फल के विषय में अनासक्त-सी रह जाती है। गाँधीजी की विचार-परम्परा से यही फलित होता दिखाई देता है—आत्म-शुद्धि को साधते हुए जीवन के कार्य करते रहना चाहिए। गीता कर्म के विषय में अनासक्ति को मोक्ष के लिए पूर्ण समझती है, और अर्जुन ने जो गीता समझी और जितना जन-संहार किया, वह सब अना-सक्त रहकर ही किया, ऐसा ही मानना श्रेष्ठ है। गीता में हर-एक कर्म की कसौटी हिंसा-अहिंसा नहीं। गाँधीजी के कारण, हिंसा-त्मक कर्म में अनासक्ति अथवा राग-द्वेष का अभाव होता है, यह मानना अशक्य है। भाष्यकार को गीता में अपने विचार ठूँसने के लिए कितनी शाब्दिक कल्पना का जाल रचना पड़ता;

है, यह किसी से छिपा नहीं। गाँधीजी ने भी ऐसा ही किया है। गाँधीजी कौरव-पाण्डवों के युद्ध को एक रूपक मानते हैं। यहाँ यह प्रसङ्ग नहीं छेड़ना है, कि गाँधीजी की वह विचार-परम्परा कितनी विरुद्ध पड़ रही है। हमें तो यह समझ में आता है कि ऐसा गाँधीजी ने सत्य और अहिंसा के आग्रह के लिए किया है।

केवल अनासक्ति ही किसी कर्म को 'साधु' बना देने के लिए बस नहीं। लोक में हिंसादि के लिए जो दुष्कर्म प्रसिद्ध हैं, उनको अनासक्तिपूर्वक करने से 'साधु' नहीं बन सकता, ऐसे कर्म से मोक्ष भी नहीं मिल सकती। ऐसा कर्म यदि ईश्वर को समर्पण भी किया हो, तो वह स्वीकार नहीं करेगा। हमें यही शब्द-जाल मालूम होता है। यदि वास्तव में देखा जाय तो हिंसादि कर्म ही ऐसे हैं कि उनमें अनासक्ति अशक्य है। यह बातें तर्क-द्वारा साबित करना कठिन नहीं। गाँधीजी अर्जुन की हिंसा के वर्णन् में कुछ भी कमी नहीं कर सकते हैं, इसीलिए सारे युद्ध में कल्पना के रूपक से ही काम लिया गया है, परन्तु जो लोग इस रूपक को स्वीकार नहीं करते, वे यही कहते रहते हैं कि गाँधीजी गीता के उपदेश को स्वीकार करके अहिंसात्मक दृष्टि से सब को शुद्ध बता रहे हैं।

इस विचार को अन्य रीति से समझिये। गाँधीजी गीता के अनुसार लोक-संग्रह में सामाजिक कर्मों को आवश्यक मानते हैं, और इन कर्मों में अनासक्ति का समावेश होना आवश्यक

मानते हैं। आगे यह भी कहते हैं कि लोक-संग्रह के लिए यदि सत्य और अहिंसा विरुद्ध हो, तो ऐसे कर्म करने की आवश्यकता नहीं। वे अहिंसा के ऊपर यह एकान्त-आग्रह, श्रमण-सम्प्रदाय में अन्य रीति से पोषण पाया हुआ अहिंसा के सिद्धान्त का ही अधिकतर पालन करते हैं।

गाँधीजी अहिंसा पर इतना अधिक आधार रख देते हैं, इसका दूसरा कारण यह भी है कि सच्चा लोक-संग्रह—सर्व-व्यापी लोक-संग्रह—अहिंसा के बिना अशक्य है। मुमुक्षु दृष्टि को एक ओर रखकर केवल लोक-संग्रह-मीमांसा की दृष्टि से ही विचार किया जाय, तो भी अहिंसा का आग्रह आवश्यक ही है। गाँधीजी की दूसरी शङ्का का उत्तर यही है। इसके लिए सिद्धार्थ गौतम का उपदेश—'नहिं वरेण वेराणि संमन्तीध कदाचन, अवेरेण हि संमन्ति एस धंमो सनन्तनो'—यह उपदेश बहुत ही अनुकूल है, इस तरह पर कि गीता में कर्म-मीमांसा का समन्वय जो अस्पष्ट रहा, उसको गाँधीजी उपरोक्त रीति से उपनिषद्-आदि निवृत्तिकर सम्प्रदायों की लाक्षणिक अहिंसा को लोक-संग्रह के कर्मों का आवश्यक धर्म गिनकर अपने विचार-प्रस्थान को साधते हैं और दूसरी ओर सांसारिक कर्मों का नाश करके एक अथवा दूसरी प्रकार के संन्यास में रहकर अहिंसादि धर्म का पालन करके निवृत्तिकर सम्प्रदायों में सुधार करते हैं। यही सुधार उसके लोक-संग्रह के ऊपर प्राधान्य स्थापित कर देते हैं। इसे गाँधीजी लोक-सेवा कहते हैं। जो-कुछ आध्यात्मिक उन्नति

की साधना की जाती है, वह सामाजिक कर्मों से ही साधी जा सकती है और साधी जानी चाहिए।

गाँधीजी का साधन किया हुआ यह विचार-प्रस्थान कितना सच्चा है, इसके कहने का हमें अधिकार नहीं। परन्तु हाँ, एक शंका अवश्य ही रह जाती है। यदि अहिंसादि धर्मों की संसार में रहकर साधना अशक्य नहीं तो उनके दुस्तर होने पर वे ही निवृत्ति-मार्ग के उपदेश बन जाते हैं, और यदि लोक-संग्रह साधना हो तो हिंसा-अहिंसा का एकान्त आग्रह असम्भव है। संसार की वास्तविक स्थिति के इस प्रकार के दर्शन से ही ये भिन्न-भिन्न प्रकार के मार्ग भिन्न नहीं रह सकते।

भविष्य इस भिन्नता का वास्तविक सम्बन्ध मिला दे, यही हमारी इच्छा है।

❀ ⁘ ❀

लेनिन और गाँधी-तुलनात्मक आलोचना

फुलप मिलर ने कहा है कि "ये दोनों महान् आत्माएँ दो पैग़म्बरों के सामने हैं, जो बीसवीं सदी के प्रारम्भ में उत्पन्न हुई हैं।" वास्तव में देखा जाय तो दोनों हैं भी महान् आत्माएँ ही। दोनों के जीवन में अद्भुत एवं रचनात्मक फ़िलॉसफ़ी स्पष्ट प्रतीत होती है। दोनों में वर्तमान समाज से भी ज़्यादा उच्चतर समाज की कल्पना है। यही फ़िलॉसफ़ी और यही आदर्श उनका प्रेरक है। राजकीय क्षेत्र में दोनों ने नई सृष्टि को जन्म दिया है। दोनों महापुरुष आदर्शवादी और महान् कार्य-सञ्चालक हैं।

दोनों महापुरुषों का यह साम्य दोनों को प्रकृति और व्यवहार में विविध प्रकार का नज़र आता है। बर्ट्रेन्ड रसेल अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "The Practice and Theory of Bolshevism" में लिखते हैं—"लेनिन को ऐश-आराम

की या अन्य प्रकार से सामान्य सुविधा की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जैसे अपना मित्र हो, उसी प्रकार आगन्तुक से वार्तालाप करते हैं। बहुत ही सरल दिखाई देते हैं, और गर्व का उनमें छींटा भी नहीं। उन्हें जाने-पहिचाने बिना कोई उनसे मिलता है तो एक अद्भुत प्रकार का प्रभाव उसके ऊपर पड़े बिना नहीं रहता। यह कोई भी नहीं समझ सकता कि वह बिलकुल ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे शासनकर्त्ता हो। शान्ति, निर्भयता, स्वार्थ-हीनता की वह सजीव मूर्ति है। उनका बल, उनकी प्रामाणिकता, शौर्य और श्रद्धा से उत्पन्न होता है—ऐसा प्रतीत होता है।"

यदि यही व्याख्या गाँधीजी पर भी लगाई जाय तो कितनी यथार्थ हो! विदेशी लोगों पर गाँधीजी का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इसका केवल एक ही दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है। मर्टल और गार्डनलॉ-नामक अमेरिकन लिखते हैं—

"गाँधीजी का प्रभुत्व हमारे ऊपर जितना पड़ा, उतना आज तक हमने किसी का प्रभाव नहीं देखा। गाँधीजी के चरित्र, स्वार्थ-हीनता, मानसिक सावधानी, असाधारण प्रतिभा-आदि पर तो हमारा विशेष आकर्षण है।"

अपूर्व धैर्य

उपरोक्त अवतरण मिस ब्लानशे वाटसन ने अपने लेख "Gandhi and Non-violent Resistance" में दिया है। जिस प्रकार गाँधीजी का हास्य बहुतों को गूढ़ लगता

है, उसी प्रकार लेनिन का हास्य था। दोनों महापुरुष संकट में शान्त, विपत्ति में धीर और हमेशा ही निश्चल वृत्ति में रहनेवाले हैं। दोनों अपने लक्ष्य की साधना के लिए अविरत प्रयास करने की पूर्ण शक्ति रखते हैं। आपत्ति आजाने पर लेनिन कितना धैर्य रखते थे, यह बात 'सोविट रूस' नामक पुस्तक में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लिखी है—

"सन् १९२१ में मॉस्को पर शत्रुओं का भय था और यह भी विश्वास होगया था कि सोवियट सत्ता थोड़े ही काल में नष्ट हो जाएगी। तब लेनिन को यह सूझा कि गाँवों में लोगों को उत्साहित एवं उत्तेजित करना आवश्यक है, और इस कार्य को पूरा करने की आज्ञा उसने प्रदान भी करदी।"

दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह के संचालन, चंपारन, पञ्जाब के मार्शल-लॉ और असहयोग के समय गाँधीजी ने भी अभूतपूर्व धैर्य का परिचय दिया था। गाँधीजी और लेनिन लोक-प्रीति के लिए या लोगों के उत्साह-प्रदर्शन के लिए कभी भी अपने सिद्धान्तों से नहीं हटते। गाँधीजी की अपेक्षा लेनिन की वक्तृत्व-शक्ति अप्रिय थी और उनकी शब्दावलि भी ज़्यादा सरस नहीं होती थी। शब्द-जाल में कार्य नष्ट होजाता है, और कार्य के सिवाय अन्य सब व्यर्थ है, यही लेनिन का सिद्धान्त था। यदि प्रगाढ़ मित्र से भी सम्बन्ध टूटने की नौबत आजाय, तो भी ये दोनों महात्मा अपने सिद्धान्त से हटते नज़र नहीं आते। वक्त आने पर दोनों लोक-लाभ के कारण मित्रों की मित्रता भी

छोड़ने में समर्थ हैं। लेनिन ने एक समय कहा था—

"यदि मैं अकेला भी रह जाऊँ तो भी अपना प्रयत्न नहीं छोड़ूँगा। अपने उद्देश्य के फैलाने में मैं सदा बिल्कुल सीधे रास्ते चला जाऊँगा।"

लेनिन की आत्म-श्रद्धा एवं आत्म-विश्वास का स्पष्ट उदाहरणतो है; 'बोल्शेविक'-विग्रह। जब अक्टूबर में बोल्शेविक-विप्लव हुआ, उसके पहिले लेनिन अकेला ही इस मत का था कि केरेन्सकी-सत्ता को नष्ट कर, सोवियट-राज्य-स्थापन का समय अब आ-गया है। बहुत-से बोल्शेविक नेता इस मार्ग के अवलम्बन से पीछे हट रहे थे, और उनकी इच्छा थोड़े समय तक और ठहरने की थी। परन्तु लेनिन डिगमिगाए नहीं; सभी नेताओं को अपने मतानुसार करके रूस की सत्ता अपने हाथ में करली। इसी प्रकार अकेले रहकर, मित्रों के विरुद्ध होने पर भी, गाँधीजी ने अपना शौर्य अनेक वार दिखाया है। यह बात सभी पर प्रकट है।

भूल स्वीकार

गाँधीजी अपनी भूल स्वीकार करने में सब से आगे हैं, किंतु जब अन्य नेता अपनी ग़लती क़बूल नहीं करते तो वह उनके शत्रुवत् होजाते हैं, और उनसे भूल स्वीकार कराकर ही छोड़ते हैं। लेनिन में यह विशेषता थी कि वह आत्म-परीक्षा करते समय विशेष कटाक्ष करते थे। जोसेफ़ स्टैलिन अपनी पुस्तक 'लेनिनिज़म' में लिखते हैं—

"अपनी भूलों को स्वीकार कर लेना लेनिन के गाम्भीर्य का चिन्ह है, और यह उनकी कर्तव्य-शक्ति का पूर्ण द्योतक है। अपनी भूल को स्पष्ट स्वीकार करना, भूल के कारणों की खोज, भूल होने के संयोग और उनका पृथक्करण, भूल सुधारने के उपाय और अभ्यास-ये सभी बातें सच्चे और गहरे हृदय की परिचायक हैं। यही कर्तव्य है, यही प्रजा और लोगों की प्रसन्नता और हृदय को आकृष्ट करने की युक्ति है।"

आदर्श के अनुसार कार्य

जिस प्रकार लेनिन राजकीय क्षेत्र में आये और रूस के वातावरण में परिवर्तन हो गया, उसी प्रकार ज्यों-ही गाँधीजी ने हिन्दुओं के राजकीय क्षेत्र में प्रवेश किया, त्यों-ही राष्ट्रीय प्रवृत्ति में विप्लव उत्पन्न हो गया। लेनिन की विचार-शक्ति के कारण प्राचीन परिपाटी पर चलनेवालों को बड़ा आघात उठाना पड़ा। गाँधीजी की विचार-धारा का पालन करनेवालों को उनका हुक्म मानने में जितना आनन्द होता है, उतना अन्य किसी नेता की आज्ञा के पालन में नहीं। गाँधीजी गुजरात के राजकीय कार्य में जिस प्रकार भाग लेने, लगे उसका वर्णन् श्रीयुत महादेव देसाई कृत 'वीर वल्लभभाई'-नामक पुस्तक में इस प्रकार है—

"उस समय अपने राजकीय जीवन में अत्यन्त मालिन्य था। प्रजा की ओर से बोलने तथा कार्य करनेवाले नेताओं में पाखण्ड-वाद फैला हुआ था। इसी अरसे में महात्मा गाँधी

क्षेत्र में उतरे और राजकीय जीवन में 'सत्य' का दखल हुआ। मुझे विश्वास होगया कि अब कोई सच्चा कार्य अवश्य होगा।'

यही बात लेनिन की बाबत भी सच है—

"Leninism is, from the organisational point of view, the putting of principle into practice.'

—'Leninism' by Stalin.

गाँधीजी भी यही मानते हैं कि भावना और आदर्श का केवल स्वप्न देखकर ही न तृप्त होना चाहिए, वरन् उन्हें कार्य-रूप में लाकर सन्तोष करना चाहिए। और अपने आदर्श को कार्य रूप में लाना महान् कठिन कार्य है। जिस प्रकार गाँधीजी को मानव-बन्धुओं की विपत्ति देखकर पीड़ा होती है, उसी प्रकार लेनिन का भी हाल था। वर्तमान समय का मुख्य संकट आर्थिक है, यह बात दोनों ने स्वीकार की है। इसलिये लोक-समूह की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये प्राणपण से जुट जाना गाँधीजी अपना कर्त्तव्य मान चुके हैं और लेनिन का प्रयत्न इस कार्य में प्रसिद्ध ही है।

भेद

किन्तु जिस प्रकार इन दोनों महापुरुषों में साम्य है, उसी प्रकार दोनों में भेद भी है। दोनों की दृष्टि और स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। दोनों के सामाजिक सिद्धान्तों एवं कार्य-पद्धति में महान् अन्तर है। गाँधीजी और लेनिन का ध्येय

उनकी अडिग-श्रद्धा से ही उद्भूत है। गाँधीजी को नैतिक घटनाओं में बड़ा विश्वास है, परम श्रद्धा भी है। किन्तु स्टैलिन के शब्दों में—

"Lenin is a Marxist, so of-course his philosophy is based upon Marxism."

—"Leninism."

कार्ल मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों पर लेनिन का दृढ़ विश्वास था। यह भेद कितने ही अंशों में दोनों के व्यक्तित्व से और कितने ही अंशों में जाति एवं राष्ट्रीय विभिन्नता से उत्पन्न हुआ है। गाँधीजी हिन्दू हैं और लेनिन रूसी थे, इसीलिए उनके मत में फेर होना स्वाभाविक ही है।

धर्म और नीति

गाँधीजी का व्यक्तिगत चरित्र बाइबल, गीता आदि धार्मिक ग्रन्थों एवं साक्रेटीज़, रस्किन, टॉल्सटॉय, थारो इत्यादि अराजकवादी एवं व्यक्ति-वादी विद्वानों एवं महात्माओं की कृतियों से निर्मित हुआ है। लेनिन की गीता तो कार्ल मार्क्स की 'Das Capital' ही थी। उसका समस्त शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक आधार वही था। यह मूल मानसिक भेद दोनों की भावनाओं, विचारों तथा कार्य-पद्धति में स्पष्ट नज़र आता है। गाँधीजी की दृष्टि धार्मिक होने के साथ नैतिक भी है। 'आत्मकथा' की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—

'मेरे प्रयोगों में जितना अध्यात्म है, उतनी ही नीति है।

धर्म ही नीति है, आत्मा की दृष्टि से पालित नीति ही धर्म है।'

लेनिन तो—

"Religion is the opium of the people."

—Marx.

धर्म को एक प्रकार का नशा-सा समझते हैं। परलोक में सुख मिले, इस लालच से ग़रीबों को सन्तुष्ट रखना लेनिन एक प्रकार का छल समझते थे।

राष्ट्र और व्यक्ति

गाँधी और लेनिन दोनों राज्य-विरोधी हैं। किन्तु गाँधीजी राज्य-शक्ति के विकास में अपवाद-रूप होकर आत्म-दर्शन के उपासक हैं। उनका अभिप्राय है कि क़ायदों के बन्धन तैयार करके व्यक्ति के चरित्र को सुधारने की चेष्टा करें तो समाज का सुधरना अधिक सम्भव है। अनीतिमय क़ायदों को शान्ति के साथ भंग करने का प्रत्येक नागरिक को पूर्ण अधिकार है। लेनिन राज्य के संहार के उपासक थे। सोवियट लोक-समूह की नवीन संस्था और स्थापना के वह इच्छुक थे। लेनिन ने अपने 'State and Revolution'-नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—

"In the parliamentary system, the actual work of the states is done behind the scenes. . . . Parliament itself is given up to talk for the special purpose of fooling the common people."

अर्थात् लेनिन का मत है कि प्रजासत्तात्मक राज्यों में वास्तविक सत्ता पार्लमेंट की नहीं, वरन् धनवानों की होती है, और उसे राज्यसत्ता के बहाने वे नचा सकते हैं। लाभ के लिये वे क़ायदे भी बना सकते हैं। अपनी ज़ायदाद की रक्षा के लिये वे पुलिस और फ़ौज की सहायता प्राप्त कर सकते हैं। और अपने हित के लिये युद्ध भी करा सकते हैं। आधुनिक समय में मौलिक सत्ता आर्थिक सत्ता है और इस आर्थिक सत्ता को प्राप्त करने के लिए मज़दूरों को इस सत्ता का नाश करके अपनी सत्ता स्थापित कर देना चाहिए। इन धनवानों के कल्पना-विलास में बेचारे ग़रीबों के व्यक्ति स्वातंत्र्य का नाम नहीं। गाँधीजी व्यक्ति के नैतिक विकास के लिये राज्य की सत्ता का उपयोग आवश्यक समझते हैं। लेनिन का ध्येय मज़दूरों के मण्डलों की एक नवीन राज्य-पद्धति स्थापित करने का था।

आर्थिक व्यवस्था

गाँधीजी और लेनिन वर्तमान आर्थिक पद्धति के बिलकुल विपरीत हैं, किन्तु जहाँ गाँधीजी समस्त औद्योगिक पद्धति के विपरीत हैं, वहाँ लेनिन केवलपूँजीवाद के विपरीत था। समाज-वाद के बिना जीवन की आवश्यकताओं की ठीक-ठीक विवेचना नहीं हो सकती, यह लेनिन का मत था। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार ही समाज का उत्पादन-कार्य करता है और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही समाज के धन में से अपना भाग ले सकता है, यह साम्यवादियों का आर्थिक सिद्धान्त

है। किन्तु औद्योगिक पद्धति एवं पूँजीवाद के कितने ही अंशों का अनुकरण किए बिना समाजवाद अशक्य है, यह लेनिन का कथन है। लेनिन स्वीकार करते हैं कि यन्त्रों का उपयोग, उनका अधिक परिमाण में तैयार करना—इत्यादि बातें बिना बहुत-से मज़दूरों के औद्योगिक पद्धति पर चलने के कैसे पूरी पड़ सकती हैं ? उसने इस पद्धति का संचालन करते समय धन के उत्पादन की रीति को सामने नहीं रखा, वरन् उसके विभाग की रीति को समक्ष रखा। पूँजीवादियों की सत्ता, धन की असमानता, ग़रीबों की दरिद्रावस्था-आदि बातों को वह हमेशा टालने के पीछे पड़ा रहा। खानगी मिल्कियत को नाश करके सारी जायदाद समाज को तथा सर्व उद्योगों को सोवियट तन्त्र के हाथों सौंपना ही उसकी मर्ज़ी थी। गाँधीजी किसी भी मिल्कियत—चाहे वह ज़र हो या ज़मीन—के बिलकुल खिलाफ़ हैं। यदि वह वस्तु व्यक्तिगत है तो कोई झगड़ा नहीं, किन्तु धर्म-गुरु की हैसियत से वे इसके खिलाफ़ हैं। इनको उपभोग में लेने से स्वार्थ, लोभ, कपट कलहादि अनिष्ट उद्भव हो जाते हैं इसलिए इन्हें त्याज्य लिखा है। यदि धन के उपभोग के बाद भी आदर्श और सरल जीवन हो तो धन बुरा नहीं। परन्तु यदि मनुष्य की इच्छाएँ, आवश्यकताएँ और सुख के साधन धनोपभोग से बढ़ें तो उसे उन्नति नहीं कह सकते।

गाँधीजी राजा को झोंपड़े में रखना और लेनिन मज़दूर को राजमहल में रखना चाहते हैं। प्रत्येक गाँव में अपनी आवश्य-

कतानुसार वस्तुएँ पैदा करना और अपनी ज़रूरियात को वहीं खत्म कर देना—यही गाँधीजी की आदर्श सृष्टि है। धन को आवश्यकतानुसार बाँटने से एक-सा वितरण नहीं हो सकता, वरन् मनुष्य को न्याय-वितरण करना ही अत्यावश्यक है। धन से कार्य-सम्पादन नहीं, वरन् न्याय से सब कार्य पूरे पड़ जाते हैं।

मालिक और मज़दूर

जिस प्रकार लेनिन ने लोगों में उत्साह की बिजली एक सपाटे से दौड़ाई, उसी प्रकार गाँधीजी ने गुजरात ही में नहीं, वरन् समस्त हिन्दुस्तान में चरखे का महत्व फैला दिया। लेनिन तो पूँजीवाद के नाशक हैं, परन्तु गाँधीजी मालिक और मज़दूर में पारस्परिक सहयोग और मेल के पोषक हैं। वे मनुष्य की इच्छाओं को कम करना, जीवन सादा करना, आर्थिक यन्त्रणा का वेग रोकना, आर्थिक संघर्षण को कम करके आर्थिक परिवर्तन करना चाहते हैं। लेनिन के मतानुसार मज़दूर और लोक-समूह जब तक अपने हाथ में सत्ता न लें, तब तक आर्थिक कष्टों का निवारण होना कठिन एवं असम्भव कार्य है। यह भिन्नता दोनों के उद्देश्यों में स्पष्ट ही है।

सहिष्णुता और असहिष्णुता

जिस प्रकार कुछ मनुष्यों को अपने धर्म के लिए एक प्रकार का पागलपन सवार रहता है, उसी प्रकार का पागलपन लेनिन में कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों के लिए था। इसी से लेनिन

एक महान् पागल कहलाये। गाँधीजी में इस प्रकार का पागल-पन नाम को भी नहीं। गाँधीजी अपनी 'आत्म-कथा' की प्रस्तावना में लिखते हैं—"यह सत्य मैंने अभी तक जाना नहीं, किन्तु इसका मैं शोधक हूँ।" गाँधीजी की फिलॉसफ़ी का केन्द्र 'सत्य की खोज' है। वे सत्याग्रह तथा आत्म-बल के उपासक हैं। इसी से मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से ज्ञान हो सकता है। लेनिन में सिद्धान्त-विषयक असहिष्णुता थी, गाँधीजी में यह बात नहीं। लेनिन अपना विरोध करनेवालों के लिए महान् निष्ठुर थे। एक समय सर्व-पक्षीय ऐक्य की स्थापना करने के लिए कितने ही मित्र उनके पास गए। उन्होंने सहज भाव से उन लोगों से कह दिया—"अपने विरोधियों के साथ मैं एक ही प्रकार की सन्धि कर सकता हूँ, और वह होगी 'उनका नाश'।" लेनिन अपने विरोधियों को हराने या नाश करने में कोई भी रुकावट पसन्द नहीं करते थे। शत्रु के नाश में उन्हें कभी हिचकिचाहट हुई ही नहीं। उनका जीवन एक-मात्र आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों के प्रचार-निमित्त ही हुआ था और मनुष्यों पर उन्हीं सिद्धान्तों को किसी भी प्रकार से लादने के लिए वह हमेशा तैयार रहते थे। उन सिद्धान्तों के उपयोग में उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। गाँधीजी की फ़िलॉसफ़ी के मूल में ही नैतिक भावना है। इसी कारण उनमें अनुकम्पा एवं सहिष्णुता सर्वदा विद्यमान है। यह कभी हमने न तो सुना, न पढ़ा कि गाँधीजी ने किसी पर आक्षेप किया या कोई कटु शब्द

कहा हो। उनका प्रथम सूत्र यही है कि अनिष्ट का तिरस्कार करके अनिष्ट करनेवाले के प्रति प्रेम करना। सत्याग्राही जिस प्रकार अपने व्यक्तित्व के विकास में पूर्ण विश्वास रखता है, उसी प्रकार मनुष्यों के अपूर्व एवं भिन्न व्यक्तित्व के लिए उसके हृदय में हमेशा सम्मान रहता है। इसी से अपना अभिप्रेत बल बढ़ता है; ज़ोर-ज़ुल्म एवं दमन से कुछ भी नहीं हो सकता। बल तो बुद्धि-शास्त्र का प्रयोग करने से ही प्राप्त होता है।

राजनैतिक साधन

राजकीय क्षेत्र में किस प्रकार की व्यूह-रचना एवं चातुर्य द्वारा सफलता मिल सकती है, इसका गहरा अभ्यास लेनिन को था। उनका सिद्धान्त यही था कि अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में संयोग यदि परिवर्तित भी होते जायँ तो भी उन्हें अनुकूल बनाते या मानते जाना ही उचित है। पहिले से ही योजना बनाने के वह प्रतिकूल थे। भविष्य की तैयारी में वर्तमान को भी भूल जाना—जिससे सर्व प्रयास निष्फल हो जाय—यह उन्हें पसन्द नहीं था। लेनिन के व्यूह-रचना-विषयक विचारों और उन्हीं के सहारे सोवियट सत्ता की स्थापना का सरस वर्णन् मौरिया डाब की "Russian Economic Development since the Revolution" नामक पुस्तक में सम्यक-रूप से दिया है। क्रान्ति के समय कटा-कटी में स्थिति ऐसी अस्थिर होजाती है, कि यदि आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं होती,

तो पीछे हटने की इच्छा भी नहीं होती। लेनिन का मत है कि यदि आगे बढ़कर सत्ता प्राप्त न हो सके तो विरोधियों के हाथ हमेशा दबा रहना पड़ता है। यह सिद्धान्त लेनिन ने कार्य-रूप में भी प्रचलित किया। रूस का विप्लव प्रारम्भ होते ही सोवियट सत्ता अमल में आगई।

गाँधीजी की राजकीय नीति इससे बिल्कुल भिन्न है। उनकी नैतिक भावना इतनी दृढ़ है कि उनकी दृष्टि में लक्ष्य प्राप्त करने का मार्ग लक्ष्य के समान ही महत्वपूर्ण है। हिंसा या असत्य से प्राप्त स्वराज्य उन्हें स्वप्न में भी नहीं चाहिए। उनकी सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक रीति नैतिक भावना पर ही निर्भर है। उपरोक्त सभी रीतियाँ नैतिक भावनाओं का उल्लङ्घन कर दें, ऐसी शिथिलता उनमें है ही नहीं। १६२२ में बारडोली के निर्णय का विचार लेनिन की व्यूह-रचना के अनुसार किया जाने को था, किन्तु गाँधीजी ने यह निर्णय अपनी नैतिक फ़िलॉसफ़ी की सहायता से ही किया था।

गाँधीवाद और लेनिनवाद में जो भेद है, वह केवल उक्त दोनों वादों के संचालकों की भिन्न वृत्ति एवं भिन्न फ़िलॉसफ़ी का परिणाम ही नहीं, किन्तु राष्ट्रीय विग्रह के भिन्न रूप के कारण भी है। गाँधीजी को केवल गर्वशाली साम्राज्य का मद ही नहीं तोड़ना था, वरन् निःशस्त्र प्रजा की गुलाम-वृत्ति, नैतिक भीरुता एवं कुसङ्गठन का भी नाश करना था। प्रजा से गाँधीजी ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पाने के लिए जो अहिंसा का अपूर्व प्रयोग

कराया, वह इतिहास-प्रसिद्ध घटना है। अहिंसा-मार्ग राष्ट्रीय कार्यों के सञ्चालन में किस प्रकार स्वीकार किया गया, यह तो प्रत्येक को ज़ाहिर ही है।

पाश्चात्य संस्कृति

गाँधी और लेनिन दोनों पाश्चात्य संस्कृति के कट्टर विरोधी हैं, किन्तु दोनों के विरोध का मार्ग भिन्न-भिन्न है। गाँधीजी यूरोप की भावना-सृष्टि और धर्म के उत्तम अंशों को स्वीकार करते हैं, किन्तु यूरोप की यंत्र-कला से उन्हें सख्त नफ़रत है। लेनिन को यूरोप का यंत्रवाद ही विशेष प्रिय था और वह रूस में उसे प्रचार में लाने का विशेष रूप से उत्सुक था, किन्तु वह यूरोप की फ़िलॉसफ़ी, आदर्श एवं नीति का कट्टर विरोधी था। गाँधीजी ईसू मसीह के धर्म को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। रोमाँ रोलाँ के विचारों को ग्रहण करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु यूरोप की औद्योगिक पद्धति उन्हें अप्रिय है। पश्चिमीय कार्य्यदक्षता, साँचे, कारखाने-इत्यादि रूस में लाने के लिए लेनिन बड़ा उत्सुक रहता था, किन्तु कार्ल मार्क्स और उसके अनुयायियों के सिवाय यूरोप के अन्य विचारकों की सामाजिक फ़िलॉसफ़ी को वह अस्वीकार करता था। कितने ही विचारकों का यह मत है कि भारतीय सहिष्णुता के साथ-ही-साथ हिन्दू की राष्ट्रीय प्रकृति अत्यन्त सारग्राही है। मार्क्स के सिद्धान्तों से उत्पन्न उन्मत्त श्रद्धा के साथ रूस के विद्रोही अपने सिद्धन्तों के सिवाय अन्य के सिद्धान्तों को तुच्छ समझते

हैं, यह बात सत्य है। यही बात डॉक्टर हेन्नावाड नामक एक विद्वान् अमेरिकन ने "Chinese Social and Political science Quarterly" नामक पत्र में १६२५ ई० में प्रकाशित कराई थी। यह पत्र पेकिंग (चीन) से निलकता है। पश्चिमीय संस्कृति का दोनों में यह मतभेद दोनों देशों की भिन्न-भिन्न स्थिति के कारण ही है। यथार्थ में गाँधीजी पश्यिमीय सस्कृति के इतने विरुद्ध नहीं हैं, जितने विरुद्ध वे इस संस्कृति के भारत में आने के ढँग के हैं। हिन्दुस्तान में प्रवेश पाये हुए उद्योगवाद के लिए मुख्यतः परदेशी राज्य और परदेशी लोग जवाबदेह हैं और इसी से यह औद्योगिक पद्धति एक विदेशी तंत्र और आर्थिक शासन का एक दूसरा रूप नज़र आता है। स्वतन्त्र और बलवान प्रजा पर-संस्कृति के उत्तम अंशों को ही ग्रहण करती है। इसी तरह पश्चिमीय संस्थाएँ हिन्दुस्तान में नहीं आईं, किन्तु एक परतन्त्र प्रजा के निर्विवेक और अव्यवस्थित अनुकरण के परिणाम-स्वरूप तथा परदेशी राज्य के आरोपण के परिणाम-स्वरूप इस संस्कृति ने हिन्दुस्तान में प्रवेश किया है। इसी में गाँधीवाद की सच्ची रुकावट है। इसके विरुद्ध विदेशी पूँजी-पतियों के आश्रय बिना ही रूस में नया उद्योग स्थापित हो जाय, यह लेनिन की इच्छा थी। परन्तु पश्चिम के आर्थिक अनिष्टों का प्रतिकार किए बिना पश्चिम के विज्ञान को ग्रहण करने का प्रयोग करने के लिए लेनिन जितना स्वतन्त्र था, उतने गाँधी

नहीं। इसका एक-मात्र कारण यही है कि भारत स्वतन्त्र नहीं है।

चरित्र की श्रेष्ठता

गाँधी और लेनिन में शक्तियों का भेद नहीं, वृत्तियों का भेद है। उनकी प्रकृति, कार्यक्षेत्र, लक्ष्य-आदि सभी में भिन्नता है। इसी से उत्पन्न उनकी स्थिति एवं संयोगों में भी भेद है। लेनिन में बहुत-से असाधारण गुण थे, किन्तु उसके चरित्र में किसी भी प्रकार की आध्यात्मिकता नहीं थी। स्टैलिन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Leninism" में लिखते हैं कि लेनिन लोक-समूह का श्रेष्ठ विचारक था। सुप्रसिद्ध शान्ति-दूत, नोबज़-पुरस्कार-विजेता विश्व-विश्रुत विद्वान् रोमाँ-रोलाँ कहते हैं कि लेनिन महान् एवं निःस्वार्थी कार्यकर्त्ता था। मेक्सिम गोर्की लिखते है, 'किसी धार्मिक युग में ही महात्मा दिखाई देते हैं। लेनिन असाधारण शक्ति-सम्पन्न विद्रोही एवं विप्लववादी था।'

लेनिन से गाँधीजी का व्यक्तित्व ज़्यादा श्रेष्ठ है। ये प्राचीन परिपाटी के धर्म-गुरु नहीं; क्योंकि यद्यपि गाँधीजी दिव्य प्रेरणा से सम्पन्न हैं, तथापि कभी उसका दावा नहीं करते। सत्य के सिवाय उनका कोई लक्ष्य है ही नहीं और बुद्धि के सिवाय दूसरा अधिकार वे रखते ही नहीं। वे सामान्य राज्य-विद्रोही भी नहीं हो सकते; कारण कि वे राजकीय विजय के लिए नैतिक उन्नति की भित्ति चाहते हैं। वे साधारण समाज-सुधारक एवं नेता भी नहीं, कारण कि जो गम्भीर तत्व और शक्तियाँ समाज

को रचती हैं और जो लोक-प्रवृत्ति में प्रेरणा उत्पन्न करती हैं, उन्हीं को शुद्ध करने और पुनः-निर्माण का प्रयोग करने में गाँधीजी अपना कर्तव्य मानते हैं। यह सत्य है कि दरिद्रता एक महान् दुःख है और उसका नाश होना ही चाहिए, किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आर्थिक सम्पत्ति से ही कुछ पृथ्वी पर स्वर्ग नहीं उतर आएगा। मनुष्य की भावना एवं प्रेम, सौन्दर्य-सृजन और सत्य-चिन्तन, सहयोग और बन्धुत्व—इन सभी से समाज की रचना और प्रगति होती है। नैतिक भावना से हीन मनुष्य-समाज पशु-वृत्ति और पशु-बल से ही खिचता है और ऐसे पतित समाज को सँभालने का महत्वपूर्ण कार्य गाँधी-जी करते हैं।

गाँधीजी का ऐतिहासिक महाव्रत

१ मई को समस्त विश्व—विशेष करके भारतवर्ष—महात्मा गाँधी के महाव्रत का समाचार सुनकर काँप उठा। महात्मा गाँधी ने ८ मई से २६ मई तक २१ दिन के उपवास का दृढ़ संकल्प प्रकट कर दिया। इससे पहले आपके इस अकाट्य एवं अखण्ड व्रत का पता नहीं था। महात्माजी के अत्यन्त निकट निवास करनेवाले श्री० वल्लभभाई पटेल और श्री० महादेव देसाई तक को इस महाव्रत का पता नहीं था। ३० अप्रैल को महाव्रत का कारण बतलाते हुए महात्माजी ने निम्न-लिखित वक्तव्य प्रकाशित कराया था। उसका सारांश यह है—

"…हरिजन-दिवस के अवसर पर मेरी आन्तरिक प्रेरणा ने

बहुत ज़ोर मारा और मुझसे कहा—'इस काम को कर क्यों नहीं डालते ?' मैंने इसको भी दबाना चाहा, परन्तु असफल रहा और अन्त में मैंने २१ दिन के लिए अखण्ड व्रत करने का निश्चय कर लिया......।

"उपवास की ओर मुझे अग्रसर करने के बहुत-से कारण हैं, जिनका उल्लेख करना मैं उचित नहीं समझता। परन्तु ये सभी बातें महान् हरिजन-आन्दोलन से सम्बन्ध रखती हैं......। जो कोई भी मेरे इस काम को पसन्द करता है, उसे स्वयं उपवास कदापि न करना चाहिए। उनके ऐसा करने से उन्हें तथा मुझे भी महान् कष्ट होगा।.........छुआछूत की समस्या मेरे अनुमान से भी अधिक भयङ्कर और भीषण है......आत्म-शुद्धि का एक-मात्र उपाय उपवास तथा प्रार्थना करना है।......मेरी मरने की इच्छा कदापि नहीं है...पर इसके लिए मरने को भी तैयार हूँ।......मैं हरिजन-कार्य के लिए कुछ अधिक कार्यकर्ता चाहता हूँ, जिनमें हर दर्जे की आत्म-शुद्धि हो......इस बात की प्रार्थना करना मैं आवश्यक समझता हूँ कि मेरे मित्र मुझसे उपवास स्थगित करने, त्याग देने अथवा उसे किसी भी प्रकार परिवर्तित करने पर ज़ोर न दें।'

इस वक्तव्य पर महात्माजी के निकट मित्रों एवं प्रेमियों ने उन्हें बहुत ही समझाया, परन्तु वे टस से-मस न हुए। जेल में, यह समाचार सुनते ही, कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति श्रीयुत् अणे साहब मिले, परन्तु महात्माजी को समझाने में असमर्थ

रहे। चौथी और पाँचवीं तारीख को श्री० शङ्करलाल बैङ्कर फूट-फूटकर रोने लगे, हज़ार तरह की मिन्नतें करने लगे, परन्तु महात्माजी कब सुननेवाले थे ? बीच-बीच में दर्शकों का आँसू बहाना साक्रेटीज़ की याद दिलाता है। लोगों ने नाना प्रकार की बहसें कीं, प्रार्थनाएँ कीं, क़समें खिलाईं, परन्तु लाचार थे। महात्माजी अत्यन्त मिठास के साथ दृढ़तापूर्वक उत्तर देते और श्रोता उत्तरों की गम्भीरता पर दङ्ग रह जाते थे। श्री० राजगोपालाचारी ने महात्माजी का ख़ूब मथन किया, हर पहलू से गाँधीजी को परास्त कर देना चाहा, परन्तु वे निष्फलता के कारण कभी झुँझला उठते, कभी रूठ भी जाते थे। कभी उन्हें हक़ बताने की कोशिश करते, कभी यह कहलवाने की चेष्टा करते कि हम व्यर्थ ही कोशिश कर रहे हैं, परन्तु उस देवता का मनाना इस संसार में शायद किसी को भी याद नहीं है। लोगों ने गाँधीजी को यहाँ तक डरा दिया कि आपको जेलवाले ज़बर्दस्ती खाना खिलायेंगे, परन्तु वे कहने लगे कि जिस प्रकार मुसल्मानों पर रमज़ान के दिनों में कोई जेल में खिलाने-पिलाने में ज़बर्दस्ती नहीं करता, उसी प्रकार यह मेरा धार्मिक व्रत है, इसमें भी सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी, ऐसा मुझे विश्वास है। कुछ लोगों ने फिर इस प्रकार न समझने पर धार्मिकता का सहारा लिया। परन्तु महात्माजी ने समझाकर सभी को शान्त कर दिया।

देश के चारों ओर से तथा बाहर विदेशों से महात्माजी के

प्रेमियों के कई सहानुभूति-सूचक तार और पत्र आए। परन्तु आपने देवीदास गाँधी को बुलाकर अपना वक्तव्य दे दिया और अपने निश्चय को बदलने के लिए सभी से प्रार्थनात्मक इन्कार कर दिया। श्री० घनश्यामदास बिड़ला की अपील पर समस्त देश ने ८ मई को महात्माजी के दीर्घ जीवन के लिए हार्दिक प्रार्थना की। महात्माजी के इस महाव्रत का दुःखद समाचार सुनकर कवीन्द्र रवीन्द्र ने निम्न-लिखित तार गाँधीजी को दिया—

"कृपया मानव-समाज के नाम पर अपने निश्चय पर एक बार फिर विचार कीजिए; क्योंकि वह इन दिनों आपसे पृथक् नहीं हो सकता। हमें भारतवर्ष के इस निर्माण-काल में आपके जीवित रहने तथा पथ-प्रदर्शन करने की महान् आवश्यकता है।"

जनरल स्मट्स ने केपटाउन से तार दिया—

"......भारत में एक नया युग आरहा है, जिसमें पहले की अपेक्षा आपके नेतृत्व की और भी अधिक आवश्यकता है......मेरी आपसे अपील है कि आप अभी उपवास न करें।"

श्री० एण्ड्रूज़ ने तार दिया—"मैं आपके निर्णय को स्वीकार करता हूँ। मैं समझता हूँ, आप मुझसे वैसा ही प्यार करते होंगे।"

श्री० पोलक और उनकी धर्मपत्नी ने लिखा—"आपके शुभ के लिए हमारी प्रार्थना है, हमारा प्यार आपके साथ है।"

'इण्डिया-लीग' के हितैषी अँग्रेज़ों ने तार दिया था—"अन-

शन के संकल्प को सुनकर हमें बड़ा खेद है। हमें हमारे कर्तव्य का आदेश देते रहिएगा।"

इसी बीच में महात्माजी की जर्मन शिष्या डॉक्टर मार्गरेट स्पीजेल ने महात्माजी के साथ उपवास करना चाहा था, परन्तु गाँधीजी के समझाने-बुझाने पर व्रत करना आपने त्याग दिया। विदेशी समाचार-पत्रों के सम्पादकगणों तथा सम्भ्रान्त सज्जनों ने महात्माजी के विषय में देवीदास से पूछ-ताछ भी की, परन्तु देवीदास ने बताया कि गाँधीजी की स्थिति इस तरह की नहीं है कि वे २१ दिन व्रत कर सकें। यह बातें रेडिओ टेलीफ़ोन-द्वारा लेडी विट्ठलदास ठैकरसी के बँगले पर से हुई थीं। लोगों के बार-बार तङ्ग करने तथा चिन्तित होने के कारण महात्माजी का, उपवास करने के पूर्व ही, ५ पौण्ड वज़न घट गया था। तारीख़ ३ मई को श्रीमती सरोजिनी नायडू पूना आ पहुँचीं। ये जेल में महात्माजी से मिलीं। पूछने पर आपने कहा—"मैं महात्माजी की सेवा करने आई हूँ।" महात्माजी ने कहा—"मैं जानता था कि मेरी सेवा करनेवाली आरही हैं।"

भारत-सरकार भी इस महाव्रत पर बड़ी परेशान होगई कि अब कौन-सा उपाय काम में लाया जाय। किन्तु सरकार को इस बात पर अवश्य सन्तोष था कि गाँधीजी का उपवास सरकार की किसी नीति के विरुद्ध नहीं है। वरन् वह एक आध्यात्मिक व्रत है। फिर भी उन्हें जेल में रखना ठीक है या नहीं, यह प्रश्न सरकार के लिए महान् चिन्ताजनक था।

सर्वश्री डॉक्टर अन्सारी, सप्रू, जयकर, प्रभाशंकर पट्टनी-आदि प्रमुख व्यक्तियों को इस महाव्रत का हाल सुनकर महान् खेद हुआ।

संसार-भर को खेदजनक डाक का उत्तर देने के लिए महात्माजी ने 'हरिजन' पत्र में यह वक्तव्य प्रकाशित कराया—

"जनरल स्मट्स ने मुझसे करुणापूर्वक आग्रह किया है कि मैं उपवास न करूँ। डॉ० अन्सारी और मेरे बीच प्रेम का अटूट सम्बन्ध है। पुराने मित्र, सहयोगी तथा डॉक्टर की हैसियत से उन्होंने भी आग्रह किया है कि मैं अपना निश्चय बदल डालूँ। श्री राजगोपालाचार्य तो मेरे अन्तःकरण के रक्षक-जैसे हैं, उन्होंने भी एक लम्बा तार भेजकर मेरे उपवास का विरोध किया है। मेरे सब से छोटे पुत्र, श्री देवीदास गाँधी ने, जिन्हें मैं पुत्र ही नहीं, बल्कि अपना सहयोगी। भी समझता हूँ, केवल आग्रह ही नहीं किया, बल्कि आँसुओं की धारा भी बहा दी। मगर इन सब बातों का मुझ पर प्रभाव नहीं पड़ा। अब पाठकों की समझ में यह बात आ जाएगी कि अवश्य कोई ऐसी शक्ति थी, जिसने मुझ पर पूरी तरह से आधिकार कर लिया था और जो मुझे इन लोगों की बात मानने से रोक रही थी। इन सज्जनों ने मुझसे आग्रह किया, इससे यही स्पष्ट होता है कि उन्होंने मेरी इस बात में विश्वास नहीं था कि मैं यह उपवास ईश्वर-प्रेरणा को मानकर ही कर रहा हूँ।......मुझे जेल में रहने का काफ़ी अभ्यास है। जेल में रहने का मुझ पर कभी यह प्रभाव

नहीं पड़ा कि मेरी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाय। मैं तो जेल में सदा कार्यशील रहा हूँ। ईश्वर अपने बन्दों को अगर अपने ईश्वरत्व की परीक्षा करने दे, तो वह ईश्वर नहीं रह जायगा। परन्तु जो बन्दे उसकी आज्ञा-पालन करने के लिए राज़ी होते हैं, उन्हें वह ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि वे कठिन-से-कठिन आपत्तियों को पार कर सकें। मेरे प्रभु की आज्ञाएँ कितनी ही कड़ी हों, मैंने पिछले पचास वर्षों में ग़ुलाम की तरह उन्हें सदा पालन करने की चेष्टा की है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मुझे उसकी आज्ञा अधिकाधिक स्पष्ट सुनाई पड़ने लगी। उसने बुरे-से-बुरे समय में भी मेरा साथ नहीं छोड़ा। उसने बहुधा मेरी मुझ ही से रक्षा की है। जितना ही अधिक मैंने उसके प्रति आत्म-समर्पण का भाव दिखलाया है, उतना ही अधिक मुझे आनन्द मिला है। इसलिए मुझे विश्वास है कि मेरे जिन दयालु मित्रों ने मेरे कार्य की आलोचना की है, वे अन्त में स्वीकार कर लेंगे कि मैंने ग़लती नहीं की। परन्तु यह भी सम्भव है कि ईश्वर की यही इच्छा हो कि इस उपवास में मेरी मृत्यु ही होजाय और मेरी मृत्यु ही मेरे जीवन से अधिक उपयोगी सिद्ध हो।"

इस प्रकार समस्त विश्व को दुःखी एवं एक तरफ़ रखकर इस वर्तमान भीष्म पितामह ने महाव्रत तारीख ८ मई को १ बजे आरम्भ कर दिया। सायंकाल प्रायः ७ बजे आप जेल से बिना किसी शर्त के अलहिदा कर दिए गये। उसी समय आपको श्रीमती विट्ठलदास ठेकरसी के बँगले पर लाया गया।

वहीं आपका महाव्रत भी हुआ। १२ मई को डॉक्टर अन्सारी-आदि सुप्रसिद्ध डॉक्टरों का एक बोर्ड क़ायम होगया, जिस पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं रखी गई, किन्तु महात्माजी का यह कथन था कि मैं मरते समय भी इस व्रत में डॉक्टरी दवा न लूँगा। यद्यपि डॉक्टर लोग नाराज़ भी हुए, परन्तु महात्माजी अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ ही रहे।

व्रत के पहिले तथा दूसरे दिन महात्माजी की हालत बहुत ही खराब रही। कई उलटियाँ हुईं और कई बार समस्त शरीर तथा पाँव ठण्डे भी पड़ गए। उस समय का करुणाजनक दृश्य श्री देवीदास और माता कस्तूरीबाई कैसे देख सकती थीं? सभी रोने लगे। महात्माजी को बाद में भी कई उलटियाँ होती रहीं। माता कस्तूरी बाई, महात्माजी के जेल-अधिकारियों से प्रार्थना करने पर, छोड़ दी गईं। बाई को गाँधीजी ने निम्न-लिखित सन्देश व्रतारम्भ के पूर्व दिया था—

"बाई से कह देना कि उनके पिता ने उनके ऊपर एक ऐसे साथी का भार सौंप दिया है, जिसके बोझ से अन्य स्त्रियाँ दबकर मर जातीं। बाई का प्यार मैं संचित करता हूँ। उन्हें अन्त तक साहसी बनी रहना चाहिए।"

रास्ते में एक पत्र-प्रतिनिधि ने बाई से पूछा—

"क्या आप किसी भी परिस्थिति में महात्माजी को अनशन छोड़ देने के लिए मनायेंगी?"

इसके उत्तर में बाई ने मुस्कराकर कहा—"कभी नहीं।"

महात्माजी को बाई पर समस्त विश्व से अधिक भरोसा है। महात्मा गाँधीजी की अन्तिम गिरफ़्तारी के समय उनसे किसी ने पूछा कि कस्तूरी बाई के लिए आप क्या सन्देश देते हैं? महात्माजी ने चट ही उत्तर दिया "सन्देश कैसा? कस्तूरीबाई वीर नारी है। वह अपना कर्तव्य अपने-आप सोच लेगी।"

डॉक्टर अन्सारी के पूना आजाने के लिए स्वयं महात्माजी का बड़ा भारी आग्रह था। इसीलिये डॉक्टर साहब भी अपना समस्त कार्य छोड़कर तथा शरीर की परवाह न कर, पूना आ-गए। आपको स्टेशन पर लेने के लिए श्रीमती नायडू तथा श्री मथुरादास त्रिकमजी पधारे थे। गाड़ी से उतरते ही डॉ० अन्सारी ने महात्माजी के स्वास्थ का हाल पूछा। डॉ० अन्सारी ने कहा कि यद्यपि आने के लिए मैं स्वयं ही उत्सुक था, परन्तु बुलाने की राह देखता था। इसका कारण यह था कि श्रीमती नायडू ने महात्माजी के स्वास्थ्य एवं शान्ति में बाधा न हो, इस-लिए भीड़ न होने देने का सख्त प्रबन्ध रखा था। उनकी आज्ञा बिना कोई आ-जा नहीं सकता था। श्रीमती नायडू ने डॉ० अन्सारी से कहा कि महात्माजी कल से ही आपके यहाँ रहने के प्रबन्ध के लिए मुझसे कई बार पूछ चुके हैं और आज तो गाँधीजी ने आपके पास स्टेशन आने के लिए दोपहरी में मुझे दोबारा याद दिलाया। अन्सारी और राजगोपालाचार्य दोनों महात्माजी की अच्छी हालत जानकर प्रसन्न हुए और सीधे गाँधीजी के पास आये। यह मुलाक़ात २ साल के बाद

हुई थी। जो लोग उस कमरे में थे, वे कहते हैं कि दोनों वृद्ध पुरुषों की मुलाक़ात बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी थी। दोनों हिन्दी में बोलते रहे। डॉ॰ अन्सारी ने दिल्ली से रवाना होते समय पत्र-प्रतिनिधि से कहा था कि—'मैं गाँधीजी को कभी भी नहीं मरने दूँगा।'

गाँधीजी को पानी पीने में बड़ी तकलीफ़ होती थी और मतलियाँ भी आती थीं। डॉक्टर पाठक ने आपसे कहा कि पानी आपको अधिक लेना चाहिए और यह क्रिया यंत्रों-द्वारा सम्पादित हुई। रात को—अन्सारी, देशमुख, गिल्डर, पटेल और पाठक-आदि डॉक्टरों के बोर्ड ने जाँच की। श्रीमती नायडू ने अन्सारी से कहा—'एक बीमार दूसरे बीमार को देखने आया है।' जिस समय महात्माजी को डॉक्टर-मण्डल जाँच रहा था, उसी समय डॉक्टरों ने अपने यन्त्रों-द्वारा गाँधी-जी का तापक्रम देखा। वह आपस में मिलता नहीं था। इस पर डॉक्टरों ने आपस में कहा कि यह यन्त्रों की खराबी का कारण है। इस पर सब को हँसाते हुए महात्माजी बोले—"इसका कारण डॉक्टरों की खराबी क्यों नहीं कहते!"

महात्माजी के लिए जब समस्त विश्व चिन्तित होरहा था, कुटुम्बी घड़ियाँ गिनते थे, आत्मीय मरे-से होरहे थे, तब आप लोगों से विनोद करने में जुटे थे। उपवास के दूसरे दिन प्रातः-काल जब महात्माजी सूर्य के प्रकाश में शीतल वायु का सेवन कर रहे थे तब श्रीमती सरोजिनी देवी ने उनसे कहा कि आप-

को हवा भी आसानी से उड़ा ले जाएगी। गाँधीजी हँसकर चुप रह गए। उपवास के दिनों में भी वे खूब ही हँसते रहते थे। गाँधीजी की प्रसन्नता को देखकर श्रीमती सरोजिनी देवी ने उनसे हँसी में कहा—"बापूजी तो दूल्हा नज़र आते हैं।" गाँधीजी ने श्रीमती की तरफ़ इशारा करके कहा—"हाँ, यहाँ एक दुल्हिन भी तो बैठी हैं।"

कुछ लड़कियाँ गाँधीजी के पास बैठी थीं। उस समय गाँधीजी की सुयोग्य सेविका श्रीमती नायडू आ पहुँची और लड़कियों से डाँटकर कहने लगीं—'यहाँ बहुत न आया करो।' इस पर महात्माजी ने फ़ौरन् ही उत्तर दिया—'यदि तुम इनका आना बन्द करोगी तो तुम्हारा आना यहाँ इनसे भी पहले बन्द हो जायगा।'

प्रति दिन डॉक्टरों के बोर्ड की ओर से दिन में दो-तीन बार गाँधीजी की स्वास्थ्य-सम्बन्धी विज्ञप्ति निकलती रहती थी। उससे पता चलता है कि महात्माजी की हालत हमेशा उपवास के दिनों में साधारणतः ठीक रही और बोर्ड भी हमेशा आपकी पल-पल पर खबर लेता रहा। महात्माजी के उपवास के दस दिन बाद अन्सारी ने लिखा था—'He is in wonderfully good Condition.'

उपवास के ही दिनों में महात्माजी के पास एक पत्र आया, जिसमें लिखा था—"महात्माजी, आप से मिलने और बातें करने को ईश्वर आए हैं।' इसी मज़मून का एक पत्र,

श्रीमती नायडू को भी मिला। इस पर श्रीमतीजी ने यह लिखकर वापिस कर दिया कि महात्माजी आप से मिलने में असमर्थ हैं, इसलिए आप स्वर्ग को वापिस जाइए।

१२ दिन से उपवास करता हुआ एक साधू रायबरेली से पर्णकुटी पर आ पहुँचा और यह प्रतिज्ञा करके बैठ गया कि गाँधीजी के दर्शन बिना न हटूँगा। वह १२ साल से मौन-व्रत पाल रहा है। इसी प्रकार की वहाँ व्रत के दिनों में प्रति दिन कई अनोखी घटनाएँ घटती रहीं।

इसी बीच में संसार के सुप्रसिद्ध शान्ति-संस्थापक एवं साहित्यिक रोम्याँ रोलाँ का एक पत्र गाँधीजी को मिला, जिसमें लिखा था—

"प्रिय और पूज्य मित्र,

इस समय जब कि आपका जीवन संकट में है, हमारा हृदय आपके निकट है। हम ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना करते हैं कि आपके जो देशवासी अछूतोद्धार-द्वारा राष्ट्र-संगठन के कार्य में बाधा डाल रहे हैं, उनका दिल पसीज जाय और आपकी मृत्यु की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेकर अपने माथे पर सदा के लिए अमिट कालिख न पोतें। परन्तु मेरी समझ में तो आपके त्याग का महत्व अछूतोद्धार से भी अधिक है। संसार-भर में महायुद्धों की तैयारियाँ हो रही हैं। हिंसा का भाव सर्वत्र फैला हुआ है। प्रत्येक मनुष्य या तो अत्याचारी है या अत्याचार-पीड़ित है। पीड़ित लोग भी नशे में मतवाले-से होकर

यही सोचते हैं कि सिवाय हिंसा के उद्धार का और कोई मार्ग ही नहीं है। इसमें अगर जान भी देनी पड़े तो शहीद हो जायँगे। ऐसे समय में आपका बिना हिंसा की भावना के, बल्कि प्रेम के साथ, अपने-आपको न्याय की वेदी पर भेंट चढ़ाने के लिए तैयार रहना, एक ऐसा महत्वपूर्ण कार्य है जैसा कि ईसा मसीह का सूली पर चढ़ना था। ईसा मसीह सूली पर चढ़कर भी संसार का उद्धार नहीं कर सके, परन्तु उन्होंने उद्धार का मार्ग तो दिखला ही दिया है। उनके आत्मोत्सर्ग ने लाखों-करोड़ों मनुष्यों के अन्धकारमय जीवन को आलोकित कर दिया है। ईश्वर करे, आपको इस प्रकार अपना जीवन उत्सर्ग न करना पड़े और अभी आप बहुत समय तक जीवित रहकर अपने देश ही के नहीं, बल्कि संसार-भर के भाइयों और बहनों के मार्गदर्शक बनें।"

इस तार को पाकर महात्माजी बहुत ही प्रसन्न हुए थे।

तारीख २६ मई १९३३ को १२ बजकर २० मिनिट पर महात्माजी ने आधा गिलास संतरे के रस का पान करके व्रत समाप्त कर दिया। रस कस्तूरीबाई ने स्वयं ही पिलाया था। उपवास समाप्त होते ही आध घण्टे तक प्रार्थना होती रही। महादेव देसाई ने हिन्दू-स्तोत्रों का पाठ किया। अन्सारी ने क़ुरान की आयतें पढ़ीं, पारसी और ईसाई धर्म-ग्रन्थों के अंश भी सुनाए गए। महात्माजी शान्ति के साथ हाथ का ताल देते रहे। इसके बाद सिरहाने खड़ी हुई कस्तूरी बाई ने आपको अपने

ही कर-कमलों से रस-पान कराया। व्रत के टूटने के समय महात्माजी के पास दूर देशों से नाना प्रकार के फल-फूल भी आये। कलकत्ते के एक श्रमिक ने आपकी सेवा में चार पैसे के टिकिट ही भेजे। उसने लिखा था कि जो-कुछ मैं एकत्रित कर सका हूँ, वह महात्माजी की सेवा में अर्पण है। व्रत-समाप्ति पर मेरे पैसों से कोई वस्तु लेकर महात्माजी को खिलाई जाय। उपवास की समाप्ति के दिन श्रीमती नायडू ने अपनी पुत्री पद्मजा नायडू के साथ पर्णकुटी की अच्छी सजावट की थी। पद्मजा नायडू महात्माजी की सेवा में हैदराबाद से श्वेत और लाल कमल के पुष्प भी लाई थीं। महात्माजी कोंच पर लेटे थे, सिर में मिट्टी का लेप लगा था। लोगों के एकत्रित होने पर महात्माजी भी दीवानखाने में लाये गए। आपकी कृशता आपके अपूर्व तेज के आगे बिल्कुल फीकी होगई थी। लोगों को प्रार्थना का इशारा करके आप भी ध्यान-मग्न हो, प्रार्थना सुनने लगे। व्रत की समाप्ति के समय कस्तूरीबाई प्रसन्न-वदन, आपके सम्मुख खड़ी थीं। श्रीमती नायडू फूल की माला लिए पीछे खड़ी थी। पास ही डॉक्टर अन्सारी तथा महादेव देसाई बैठे थे।

महात्माजी की आज्ञा लेकर श्रीमती नायडू ने कहा कि लेडी ठैरकसी ने १०००) का दान हरिजन-कार्य के लिए दिया है। और राजा धनराजगिरि ने २०००) का दान भी इसी निमित्त दिया है। इसके बाद उन्होंने सब को उनकी सेवा

एवं सहायता के लिए धन्यवाद दिया। उपस्थित लोगों को मिठाई भी बाँटी गई। श्रीमती कस्तूरीबाई ने व्रत के स्मृति के निमित्त पर्णकुटी में एक आम्र-वृक्ष लगाया। इसके पश्चात् महात्माजी ने एक संक्षिप्त संदेश महादेव देसाई को दिया, जिसमें महात्माजी ने सभी सहायकों को उनकी सेवाओं के लिए धन्यवाद दिया। इसके बाद कवीन्द्र रवीन्द्र, पं० मदनमोहन मालवीय, डॉक्टर अन्सारी, सरदार पटेल-आदि के सन्देश सुनाए गए। लन्दन में महात्माजी के कठिन व्रत की सफलता-पूर्ण समाप्ति पर लोगों को अपार हर्ष और आश्चर्य हुआ।

कला और महात्मा गाँधी

"जीवन में वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है।"

—महात्मा गाँधी

"Art is the self creation of Absolute Reality of divine harmony between being and knowledge in man. It is verily a a God's gift in man, leading to God, to Truth, to Reality."

—JOSEPH JANKOWSKI.

कला से हम वास्तव में प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता पर शीघ्र ही पहुँच जाते हैं। हमारे दिलों में वैसे तो रात-दिन नाना प्रकार की कल्पनाएँ उठती ही रहती हैं, परन्तु किसी समय किसी प्रधान वस्तु पर मनोभावों का जमघट इस तरह आ

घिरता है कि वाणी उसे कहने में भी असमर्थ-सी हो जाती है। उस समय अपने मनोभावों को अमर एवं स्थायी बनाने के लिए काग़ज़ और क़लम की आवश्यकता उपेक्षित है। जिस समय हम अपने मनोभावों को काग़ज़ पर अंकित करना चाहते हैं और जब हमारी यह इच्छा भी बलवती हो उठती है कि हमारे ये मनोभाव स्थायित्व प्राप्त कर लें, तब कला को छोड़कर सहारे के लिए हम अन्य वस्तु को किसी प्रकार भी अपना नहीं सकते। ऐसे समय कला का साधन ही सर्वश्रेष्ठ है। इसका कारण यही है कि कला को छोड़कर संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो मानव-हृदय को पूर्ण रूप से छू सके।

संसार में रुचि-वैचित्र्य प्रधान है। कोई कला के लिए ही मानते हैं, कोई कला की उपयोगिता सिद्ध करते हैं, कुछ उससे भी आगे बढ़कर उसका आध्यात्मिक महत्व स्वीकार करते हैं। बहुत लोगों की सम्मति में कला आर्थिक एवं सामाजिक जीवन से भी सम्बद्ध मानी गई है। वर्तमान काल में कला की उपयोगिता का क्षेत्र राजनीति भी हो रहा है।

महात्माजी ने कला को व्यवहार की दृष्टि से देखा है। कला मानव-जीवन में जिस समय अपनी विशाल व्यापकता का परिचय देती है, उस समय उसका आन्तरिक सूक्ष्म रूप नहीं, वरन् बाह्य स्थूल रूप ही हमारे समक्ष आता है। कला किसी भी जाति अथवा देश की संस्कृति को सुधारने के लिए अपना यही व्यावहारिक रूप काम में लाती है। वैसे तो कला 'सत्य, शिव और

सुन्दर' के परिणाम-स्वरूप परमानन्द के देनेवाली है ही। महात्माजी कला के महत्त्व को बहुत व्यापक मानते हैं। वे उसे मानव-जीवन के लिए परमोपयोगी समझते हैं। महात्माजी कहते हैं—'मनुष्य-समाज की आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति के लिए कला का अस्तित्व आवश्यक है।'

कला को जीवन में उपयोगी समझते हुए भी महात्माजी अपनी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में कला की उपयोगिता की आवश्यक्ता नहीं समझते। वे अपनी आध्यात्मिकता में किसी भी वाह्य साधन को स्थान नहीं देते। कला संसार में बाहरी रूप से ही प्रकट होती है। अर्थात् उसका स्थूल रूप ही हमें दिखाई देता है। जब गाँधीजी वाह्य-साधन को ही हेय समझते हैं तो कला भी तो संसार के नियम के अनुसार वाह्य-साधन है। इससे स्पष्ट हो गया कि आध्यात्मिकता की दृष्टि से कला का मूल्य गाँधीजी के सम्मुख कुछ भी नहीं। इसे वे भी एक जगह स्वीकार करते हैं—'भगवान् की अपार रहस्यमयी कला के सम्मुख मनुष्य की कला मुझे निस्सार और हेय जान पड़ती है।'

महात्माजी के उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो गया कि उनकी दृष्टि में कला मानवीय है और निस्सार है, किन्तु उपरोक्त अवतरण में वह इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि मनुष्यों द्वारा भी कला की उत्पत्ति होती है। यहाँ हम यह नहीं समझ सके कि मानवीय कला तुच्छ क्यों समझी गई? क्या इसलिए कि

महात्माजी की दृष्टि में वह मानव-कृत है ? ऐसी हालत में हमें कहना पड़ता है कि चाहे कला का सृजन मनुष्य द्वारा हो, या ईश्वर द्वारा, परन्तु कला तो कला ही रहेगी। शायद ऐसा कथन महात्माजी के आध्यात्मिक जीवन के प्यार के कारण ही निकला है। हमारी धारणा इस वाक्य से सत्य भी मानी जायगी—'संसार में वही सत्य और सुन्दर कला के उदाहरण उत्पन्न कर सकता है, जिसका हृदय सुन्दर है।'

महात्माजी कला के ज़रिये जीवन को सुमार्ग पर लगाना चाहते हैं। वे कहते हैं—'यदि कला ने जीवन को सुमार्ग पर नहीं लगाया तो वह कला ही क्या ?' इससे तथा उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो गया कि महात्माजी कला में उपयोगितावाद के क़ायल हैं। उन्होंने उसी उपयोगितावाद की सीमा को पार कर, जीवन को पूर्ण बनाना ही कला का उद्देश्य माना है। महात्माजी कला की रोशनी के द्वारा जीवन के आलोकित होकर महान् हो जाने के ही पक्षपाती हैं।

जिस समय महात्माजी दीन भारत की गन्दी तथा करुणा-पूर्ण दशा देखते हैं तो उनका महान् कोमल मन द्रवित हो जाता है। उस समय उनके कला के सिद्धान्तों में कुछ उलट-फेर दृष्टिगोचर होने लगता है। वास्तव में रोटी का सवाल भी संसार के लिए बड़ा ही अनोखा सवाल है, और है भी महत्वपूर्ण। परन्तु हमारी राय में रोटी के सवाल और कला के सवाल में समता का भाव लाना ठीक नहीं। इससे कला के महत्व में

कोई कमी नहीं आती। इससे यह पता चलता है कि जहाँ गाँधीजी कला को जीवन पूर्ण बनाने का साधन मानते हैं, वहीं वे रोटी के प्रश्न के आगे कला का तिरस्कार-सा करते प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं—"मैंने कभी किसी भूखे का पेट संगीत की मधुर तान से भरते नहीं देखा। संसार के भूखों को रोटी चाहिए; कला की उन्हें क्या आवश्यकता है!"

महात्माजी कला का सुबोध और सुगम रूप चाहते हैं। उन्हें कला का दस-पाँच पठित लोगों की पूँजी होकर रह जाना पसन्द नहीं। वे कहते हैं—"कला को जनता के समक्ष सुगम एवं सुबोध रूप में आना आवश्यक है।"

महात्माजी कला में विदेशीपन की बू सहन नहीं कर सकते। वे देश और काल के अनुसार कला का रूप स्थिर करना श्रेष्ठ समझते हैं।

महात्माजी कला को केवल कुछ समाज या लोगों की ही वस्तु नहीं रहने देना चाहते। वे कला को दैनिक जीवन का एक भाग बना देना चाहते हैं। उनका कहना है कि जब तक कला आवे-ह्यात बनी रहेगी, तब तक उससे लोग कोई लाभ नहीं उठा सकते, और न कला का प्रचार ही होगा। महात्माजी तो कला और दैनिक जीवन को मिलाकर एक करना चाहते हैं।

ऊपर ही बताया जा चुका है कि महात्माजी देश की दारुण अवस्था के समक्ष कला का कोई मूल्य ही नहीं समझते, न उधर ध्यान ही देते हैं, किन्तु कला की बारीकियों पर अपना

प्रभाव जमाये विना नहीं रहती। संगीत-कला से गाँधीजी भी नहीं बचे। संगीत पर गाँधीजी लट्टू हैं। जिस प्रकार लेनिन कहता था—"कला का सब से अधिक रहस्यमय तथा प्रभावशाली रूप सङ्गीत है।" ये ही विचार महात्माजी के भी हैं। वे स्वतः प्रार्थना करते हैं और सङ्गीतज्ञों के गायन सुनते हैं। एक समय श्री० दिलीपकुमार राय से महात्माजी ने कहा था—"मेरी समझ में भारतवर्ष की आध्यात्मिक उन्नति सङ्गीत के विना प्रायः असम्भव ही है।"

इससे उपरोक्त कथन निर्विवाद सत्य होजाता है, उसमें तर्क के लिए रत्ती-भर भी गुञ्जाइश नहीं रहती। महात्माजी ने सङ्गीत को सब से अधिक महत्व प्रदान किया है; यहाँ तक कि उन्होंने सङ्गीत की महत्ता को असीमित ही बना दिया है। यहाँ परस्पर-विरोधी भावों को देखकर दिल में बड़ा आश्चर्य होता है। एक जगह तो महात्माजी कला में उपयोगितावाद के महान् समर्थक बन जाते हैं, दूसरी जगह वे सङ्गीत पर विमुग्ध हो, उसको भारतीय आध्यात्मिक उन्नति का एक-मात्र साधन ही मान बैठते हैं।

कला सर्वत्र-व्यापिनी है। उसका क्षेत्र विशाल एवं महान् है। इस क्षेत्र में कार्य करना कलाकारों का ही काम है। कला की ओर मानवीय प्रेम तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि सहृदयता और सुसंस्कृति न हो। यहाँ यह शङ्का होती है कि क्या महात्माजी में सहृदयता और सुसंस्कृति का अभाव है?

उनका हृदय भी महान् है, आत्मा तो अत्यधिक प्रबल है, फिर भला कला से गाँधीजी प्रेम क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर यही देना पड़ेगा कि महात्माजी जान-बूझकर इस ओर ध्यान नहीं देना चाहते। जब कभी उनके हृदय में प्रेम की अविरल धारा बह चलती है, तभी वे गायन आरम्भ कर देते हैं, जिसे केवल उनका मन-बहलाव ही कहना न्याय-संगत होगा।